भानुप्रताप शुक्ल

काल चिन्तन

1

भानुप्रताप शुक्ल

शब्दलोक, मेरठ

काल चिन्तन (भाग-1)

मूल्य : तीन सौ रुपये मात्र (प्रति भाग)
सम्पूर्ण सैट तीन भागों में : मूल्य 900 रुपये मात्र।

प्रकाशन वर्ष : 1995

प्रकाशक :
शब्दलोक
छीपी टैंक, कचहरी रोड,
मेरठ (उ॰ प्र॰)

लेज़र कम्पोजिंग : मानस टाईपसैटर
IX/4753, पुराना सीलमपुर,
गांधी नगर, दिल्ली-31

मुद्रक : जितेन्द्र प्रिन्टर्स
बाबरपुर रोड, शाहदरा,
दिल्ली-110 032

KAL CHINTAN

By

Bhanupratap Shukla

साफ कहने और साफ सुनने वालों के लिए–यह कृति

स्वतंत्रता के बाद देश में हुए यांत्रिक विकास और वैज्ञानिक साधनों की उपलब्धि के साथ-साथ एक ऐसे कालखंड का प्रारंभ हुआ, जिसमें प्रचार-तंत्र को प्रमुखता मिली। व्यक्ति से लेकर वस्तु तक इस तंत्र के आधीन होते चले गए या कि तंत्र ने बुद्धि, विचार, चेतना, यश-अपयश सभी को वश में करना आरंभ किया। चूंकि समूचे तंत्र-विकास के पीछे का सारा चिंतन मात्र व्यवसायिक था, अतः स्वाभाविक ही था कि विचार, संस्कृति, राजनीति, व्यक्ति और गुणावगुण उस व्यवसायिक चिंतन के आधीन होते जाएं। परिणामतः अखबार आम जनता के लिए प्रतिबद्ध न होकर किसी पूंजीपति और उसे राजनीतिक शक्ति से प्रोत्साहन देने वाले राजनेता का अस्त्र बन गए। अस्त्रधारियों का मानस भी व्यवसायिकता से प्रभावित हुआ था, इसलिए कलम के सिपाही या कि राष्ट्र-पहरुए, लेखक-पत्रकार अपने शब्दास्त्रों को "बेहतरीन दामों" में खरीदने वालों के लिए विक्रय करने लगे। राष्ट्र-संवेदना के प्रति बौद्धिक क्षमता वाले विचारकों की निष्ठा जड़ होती चली गयी। स्थिति यहां तक आ पहुंची कि देश के हर क्षेत्र में जिस तरह "मिसालों" जैसे चुनिंदा देशभक्त रह गए, उसी तरह स्वतंत्रचेता लेखक-पत्रकार भी "मिसाल" मात्र रह गए।

ऐसी जड़ता, यांत्रिकीकरण और संवेदनहीनता के दौर में अच्छे नेतृत्व, आदर्श समाज सुधारक, श्रेष्ठ और राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत लेखकों—पत्रकारों, नेताओं और समाज सुधारकों का अकाल-सा पड़ गया। इस अकाल के दौर में पत्रकारीय-मिसाल को जब-जब नजरें खोजती हैं, तब-तब हिन्दी में दूर-दूर तक एक लम्बा-चौड़ा रेगिस्तान ही दीखता है।

. . . . . .और फिर प्रारंभ होती है – रेगिस्तान में किसी जलस्त्रोत की खोज-प्रक्रिया। इस प्रक्रिया में अगर हर क्षेत्र के गिने-चुने चेहरे दीखते हैं, तो पत्रकारिता के क्षेत्र में भी ऐसा ही होता है। ऐसे ही चेहरों में, एक चेहरे का नाम है—भानुप्रताप शुक्ल।

हिन्दी-पाठक भानुजी के नाम से अजाना नहीं है। विशेषकर इसलिए क्योंकि बिना लाग-लपेट के जो लोग हिन्दी में साफ-साफ बातें लिखने-कहने के आदी हैं—उनमें भानुजी अग्रगण्य हैं। निरंतर प्रकाशित होते रहे उनके लेख इसके साक्षात् प्रमाण

हैं। इन्हीं प्रमाण-पुष्पों के तिथिवार संकलन का नाम है — 'कालचिंतन'। तीन खण्डों में प्रकाशित यह कृति अब सुधी पाठक-जनों के हाथ है और जो लोग 'साफ कहने, साफ सुनने' में विश्वास रखते हैं और जिनके लिए भारत राष्ट्र, संस्कृति और मानवता के प्रति पूजा-आस्था है, उन्हें यह संकलन निस्संदेह रुचिकर लगेगा।

इस संकलन को सुन्दर साज-सज्जा के साथ प्रकाशित करके पाठकों तक पहुंचाने के लिए मैं इसके प्रकाशक श्री योगेन्द्र जी की आभारी हूँ।

—शोभा भारद्वाज

अनुक्रम

ऐसे बीते तीन सौ पैंसठ दिन

ईस्वी सन् 1986 का अन्त हुआ था अन्डमान में, 1987 पर लक्षद्वीप में पूर्ण विराम लगा। तब सुरक्षा के संवेदनशील क्षेत्र में राजीव ने अपने मित्रों और ससुराल वालों के साथ नौ सेना के जहाज़ पर छुट्टियां बिताई थीं। अब सरकारी तंत्र को पीने के पानी से लेकर मनोरंजन के साधन तक जुटाने पड़े। लोकप्रतिनिधि का ऐसा शाही ठाठ कि मुगलों और नवाबों की शान शौकत तक शरमा जाए।

1987 के अन्त और 1988 के आरम्भ की संधि पर देश खड़ा है। 1987 में जो कुछ कमाया और गंवाया 1988 के सफर पर उनकी छाया सहज रूप से पड़ेगी। यह स्तम्भ लिखते समय 1987 का अस्त होता बिम्ब विराजमान है। इस अन्तराल में क्या क्या दुखद सुखद घटेगा कुछ कहा नहीं जा सकता। प्रश्न यह है कि नया सफर शुरू करने से पूर्व पुराने सफर में जो कुछ अच्छा बुरा घटित हुआ उसे दिवा और दुःस्वप्न की तरह भूल जाएं, बीती ताहि बिसारि दे आगे की सुधि लें कि बीते समय का लेखा जोखा करके आगत को आसन्न संकटों से बचायें। भूलें सुधारें। सुधीजन कहते हैं कि भविष्य का प्रत्येक कदम अतीत से ऊर्जा और भविष्य का संकल्प लेकर ही उठता है। देखा और भोगा हुआ अतीत ही अनदेखे और अनिश्चित भविष्य के प्रति सावधान करता है उसकी कल्पना को रूपायित करता है। तो फिर सुधीजनों की सलाह को क्यों न मानें ? बीते समय के सफर का सूचीबद्ध विवरण बनाने की जरूरत नहीं है। जो कुछ हुआ उसके अहसास का सिर्फ स्मरण करना ही काफी होगा।

कलंक कथा में बीते दिन

पिछले तीन सौ पैंसठ दिन कैसे गुजरे ? यह प्रश्न अपने आपसे करते हैं तो सहज उत्तर मिलता है—भ्रष्टाचार और राजनीतिक शत्रुता की कलंक कथा सुनते सुनते। देश की प्रतिनिधि सर्वोच्च संस्था संसद में प्रधानमंत्री ने झूठा वक्तव्य दिया। राष्ट्रीय सुरक्षा को आम व्यापारिक हानि लाभ की तुला पर तौला गया। जनवरी 1987 से शुरू हुई अविश्वास की यात्रा अभी जारी हैं। डाक विधेयक अभी तक कानून बनने की प्रतीक्षा में राष्ट्रपति के यहां पड़ा है। बजट सत्र में प्रधानमंत्री राजीव गांधी और वित्तमंत्री ने आर्थिक विकास और समृद्धि प्रदान करने का जो आश्वासन दिया था वह भयावह आर्थिक संकट बनकर सबके सामने खड़ा है। पांच हजार करोड़ रूपये का अनुमानित घाटा नौ हजार करोड़ रूपये तक पहुंच जाने का अनुमान है। कीमतें

आसमान की छाती चीरकर आर पार निकल गयीं। सूखे और बाढ़ की मार एक साथ पड़ी। अन्न गोदाम में, धन खजाने में, भूख की आग आपदाग्रस्त आदमी के पेट में। शहंशाह प्रधानमंत्री ने सूखा बाढ़ दर्शन करके मनोरंजन किया। सहायता राशि बाढ़ में बह गई। राहत का रूपया सूखा पीड़ितों के पास पहुंचने के पहले ही सोख लिया गया। मेरठ, अहमदाबाद व डोदरा आदि क्षेत्रों में एक तरफा साम्प्रदायिक हत्याकांड हुए। मस्जिदों से ललकार उठी। मासूम लोगों को जिन्दा जला दिया गया। कत्ल कर दिया गया। सुरक्षा दलों ने हत्यारों को रोका तो वे बदनाम किये गये। उन पर साम्प्रदायिक हिन्दू होने का आरोप लगा। समाज का पिछड़ा वर्ग आतंक और अन्याय के पाटे में पूर्ववत रिसता रहा। जातीय संघर्ष ने घिनौना रूप धारण किया। अलगाववादियों के लिए देश अभयारण्य बन गया। पंजाब के आतंकवादी हों, दार्जिलिंग में घीसिंग का मोर्चा हो, झारखण्ड के आन्दोलनकारी हों, बिहार और आन्ध्र के नक्सलवादी हों, सबने केन्द्रीय सत्ता को खुली चुनौती दी। प्रत्येक को सरकारी सम्मान प्राप्त हुआ। भारत के अन्दर अलग राष्ट्र बनाने का घोषणा-पत्र प्रकाशित करने वालों को वार्ता का सरकारी आमंत्रण मिला। मिजोरम के लालडेंगा अलगाववादियों के लिए उदाहरण बन गए कि हथियार उठाओगे तो ही अधिकार मिलेगा। श्रीलंका में जिन तमिलों की समस्या का समाधान और जिनकी सुरक्षा के लिए राजीव जयवर्धन में समझौता हुआ भारतीय शांति सेना उन्हीं को मार रही है। जयवर्धन की रणनीति में राजीव फंस गए। भ्रष्टाचार और दलाली करने के पाप को उजागर करने के अपराध में विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार और कांग्रेस से निकाल दिये गए। मार्च 1987 में सत्तारूढ़ दल के धुरंधरों और प्रधानमंत्री ने देश को विदेशी ताकतों और अमरीकी खुफिया ऐजेन्सी की घातक गतिविधियों से आगाह किया कि ये ताकतें देश में अस्थिरता पैदा करना चाहती हैं। अक्तूबर नवम्बर आते आते अमरीका जाकर उस खतरे को नकार दिया गया कि भारत को सी. आइ. ए. से कोई खतरा है। दिसम्बर में ठक्कर नटराजन आयोग की फेयरफैक्स संबंधी जांच रपट संसद में पेश हुई तो पता चला कि सी. आइ. ए. का खतरा विद्यमान है। राजीव के मंत्री और अफसर उनसे सांठ गांठ करते हैं।

दिसम्बर से दिसम्बर तक का सफर एक ऐसा सफर था कि जिसके कदम कदम पर चरित्रहीनता, भ्रष्टाचार, भुखमरी, बीमारी, अविश्वास, आतंक, असुरक्षा, अनिश्चितता, अनुभवहीनता, राजनीतिक प्रतिशोध और ओछेपन के पत्थर गड़े मिले। शब्द और व्यवहार के संयम सूत्र टूट गये। लोकतांत्रिक संस्थाओं की गरिमा घटी। न्यायपालिका और न्यायाधीशों पर देशवासियों के विश्वास को धक्का लगा। न्यायिक आयोगों ने प्रधानमंत्री और सरकार को संकट से उबारने के लिए राजनीतिक रपट का कवच प्रदान किया। न्यायमूर्ति पूर्वाग्रह और पक्षपात से ग्रस्त दिखाई दिये। समाचार पत्रों की स्वतंत्रता को सीमित और सत्तासापेक्ष बनाने के हर संभव प्रयास किये गए।

कार्यपालिका को आतंकित किया गया। विधायिका को बंधक और अप्रासंगिकता की सीमा तक प्रभावहीन बनाने का सुनियोजित प्रयास किया गया। सदन में मतदान पर अंकुश के अधिकारों ने अभिव्यक्ति की आजादी के अधिकार पर अपना पंजा जमाया। प्रधानमंत्री से लेकर आम आदमी तक को मिलाकर देश की एक ऐसी छवि उभरी जहां केवल दलाल, केवल घूसखोर, केवल भिखारी, केवल भ्रष्टाचारी रहते हैं, और कोई नहीं। जहां एकमात्र राष्ट्रभक्त केवल सत्तापक्ष है, शेष सभी राष्ट्र विरोधी हैं। राजनीतिक विराधियों को राष्ट्र विरोधी की कतार में खड़ा करके राजनीतिक प्रतिशोध का ताना बाना बुना गया। राजनीतिक प्रवाह की धारा इतनी पतली बना दी गयी कि उनमें केवल सत्तारूढ़ दल ही समा सकता है। कभी के राष्ट्र विरोधी और अलगाववादी उससे जुड़कर राष्ट्र भक्त कहलाये तो सदा के राष्ट्र भक्तों को विघटनकारी बताया गया। सत्तारूढ़ दल और उसके नेता को देश का पर्याय और अपरिहार्य माना गया—ठीक देवकांत बरूआ की इण्डिया इज इंदिरा, इन्दिरा इज इण्डिया (भारत इंदिरा, इंदिरा भारत है) वाले नारे की तर्ज पर।

यह है सत्तारूढ़ दल सरकार और उसके नेता की संक्षिप्त कर्म पत्री। किन्तु लोकतंत्र और राष्ट्र के प्रहरी विरोधी दलों की कर्मकुण्डली की व्याख्या भी सुखद नहीं है। देश टूटने के तट पर खड़ा है। जन विश्वास बिखर रहा है। आम आदमी रास्ता तलाश रहा है कि उसे कांग्रेसी गोरख धंधों से मुक्ति मिले। वह ऐसे साधन की तलाश में है जिसके माध्यम से सार्थक परिवर्तन कर पाने में सफल हो। यदि उसे राजीव, उनकी सरकार और इन्दिरा कांग्रेस पर भरोसा नहीं रहा तो विरोधी दलों और बुद्धिजीवियों के प्रति भी उसका मोह भंग हुआ है। विरोधी दलों का हाल एक थाली में खिचड़ी खा रहे उन चार भूखों जैसा है जो घी की धार अपनी ओर मोड़ने की होड़ में न खिचड़ी खा पाते हैं, न उन्हें घी का स्वाद ही मिलता है। केवल सत्ता, लोभ, केवल व्यक्तिगत हानि लाभ, केवल निजी महत्वाकांक्षा, केवल दलीय सोच, सिद्धान्त, नीति और कार्य से कोई वास्ता रहा ही नहीं। विरोधीदल जन शिक्षण और जन संघर्ष से कतराते हैं। जोड़-तोड़ करके भानुमति का कुनबा जोड़ते हैं। समझौते की सीढ़ी पर चढ़कर सिंहासनारूढ़ होने का सपना पालते हैं। गठबंधन और तालमेल को विकल्प मान लेने की वकालत करते हैं। उनमें न इच्छा शक्ति है, न सैद्धान्तिक निष्ठा। कोई दल विदेशी संकेत पर अपना राजनीतिक स्वर आलाप करता है। तो कोई अवसरवाद का शिकार है। भ्रष्ट इन्दिरा कांग्रेस, भ्रष्ट सरकार ओर भ्रष्टाचार का पालन पोषण करने वाले किसी कांग्रेसी ने अपनी सुविधा असुविधा के कारण ही क्यों न हों, कांग्रेस छोड़ी तो अधिकांश विरोधी दल और देश की जनता ने उसे ही क्रांति का देवदूत मान लिया। अपनी भावी आशाएं उसी पर केन्द्रित कर दीं। आजादी के तत्काल बाद के गत चालीस वर्षों से चली आ रही राजनीतिक विकल्प की तलाश करने की पुरानी प्रक्रिया 1987 में चली। शायद 1988 में भी चले। परजीवी विपक्ष के लिए और कोई

रास्ता हो भी नहीं सकता। तथाकथित विद्रोही कांग्रेसियों को मसीहा मानकर विरोधी दलों ने अपनी विश्वसनीयता को स्वयं सूली पर चढ़ाया। कांग्रेसी प्रदूषण को गले लगाया। प्रतिष्ठा प्रदान की। वही राजनीतिक संस्कृति, वही राजनीतिक सोच, वही सत्ताकामी कर्म। नकारात्मकता में से सार्थक परिणाम प्राप्त करने का सत्तातुर तात्कालिक प्रयोग देश और दलों को मिटा रहा है। कामातुर के लिए यदि भय और लज्जा नहीं होती तो सत्तातुर के लिए देश और दल का, सिद्धान्त और नीति का, संघर्ष और कार्यक्रम का, संस्कार और संयम का कोई महत्व नहीं होता। अधिकांश विरोधी दलों का अपना चरित्र नहीं है। कांग्रेसी राजनीति के कारखाने में ढला चरित्र ही कमोबेश उनका भी चरित्र है। कोई नया मार्ग और कोई नया प्रयोग करने की प्रतिभा का उनमें अकाल है। विराधी दलों को उनके कर्म और भाग्य दोनों छल रहे हैं।

प्रधानमंत्री राजीव गांधी और देशवासियों के बीच संवाद समाप्त प्रायः है। 1988 के अंतिम चरण में सुरक्षा के संकट से ग्रस्त प्रधानमंत्री के मंत्रिमंडल ने बाघों के वन में संगीनों की छाया में मनुष्यों का विचार किया। सूखाग्रस्त, भूख और बीमारी से पीड़ित गरीब देश की जनता का धन शंहशाह की तरह उड़ाया। गरीबी मिटाने का मंत्र फिर जपा। न कोई राजनीतिक मर्यादा, न सार्वजानिक जीवन का कोई संस्कार।

तो फिर जो कुछ इंदिरा कांग्रेस और राजीव ने बिगाड़ा है, बिगाड़ रहे हैं, वह बिगड़ी बनेगी कैसे ? यह सवाल आगत ईस्वी सन् 1988 का है। विरोधी दल और बुद्धिजीवी इस सवाल का जवाब दे पाने में अब तक असमर्थ और असफल रहे हैं—इसका जवाब 1988 में उस आम आदमी को देना है, जिसके नाम पर, जिसके लिए और जिसके द्वारा लोकतंत्र संचालित होता है । इस प्रश्न का उत्तर वह युवा भी बन सकता है जिसका जीवन प्रदूषित है, जो अतीत से आतंकित नहीं है। जिसके सामने केवल वर्तमान और भविष्य है। ईस्वी सन उन्नीस सौ सत्तासी आगत उन्नीस सौ अट्ठासी को जो कुछ सौंपकर अपनी यात्रा का अन्त कर रहा है और जिस बिन्दु से 1988 को अपनी यात्रा आरम्भ करनी है वह बहुत ही झुरभुरा और भयमुक्त है। इस समय एक सर्वथा अंधे मोड़ पर खड़ा है देश। देशवासियों को नैतिक और चारित्रिक पतन की पीड़ा व्यापनी अब बंद सी हो गयी है। मात्र पतितों की सूची बनाने और चरित्रहीनों की गिनती गिनने से समस्या का समाधान नहीं होगा। 1987 का रोना रोकर 1988 को उल्लास में बदला नहीं जा सकता। हमारे भोगे हुए अपने तीन सौ पैंसठ दिन के अनुभव हमारे साथ हैं। लगातार छले जाना बुद्धिमानी का परिचायक नहीं होगा। भविष्य का निर्माण करने वाले किसी देवदूत के आगमन और अवसर की प्रतीक्षा अपाहिज और आलसी करते हैं, समर्थ मनुष्य नहीं। देवदूत आम आदमी के विश्वास, उसकी साधना और कर्म की जमीन में से उपजते हैं। उसी जमीन में से राम और कृष्ण, गौतम और गांधी भी जन्में थे। विकलांगता और परजीविता

आगत को अनुकूल नहीं बना पायेगी। सुधीजन कह गए है "कर बहिया बल आपनी, छाड़ि पराई आस," अस्त होते ईस्वी सन् 1987 का आगत 1988 के नाम यही एक मात्र संदेश है।

3 जनवरी, 1988

प्रतीक्षा प्रधानमंत्री के तीसरे भाषण की

पता नहीं यह प्रधानमंत्री का यथार्थ का अहसास और उनका मोहभंग होने का संकेत है कि मन की मौज समाजवाद, सेकुलरिज्म और लोकतंत्र के प्रभाव, परिणाम और खरेपन का परीक्षण करने के लिए बहस की भट्टी में झोंक दिया। यह पहली बार नहीं हुआ है। गत चालीस वर्षों से इन मुद्दों पर समय-समय पर बहस चली आ रही है। लेकिन अभी तक बात बनी नहीं, किसी सार्थक निष्कर्ष पर पहुंचा नहीं जा सका। समाजवाद का कोई निश्चित स्वरूप भी निर्धारित नहीं किया जा सका। आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, लोहिया, गोलवलकर, कृपलानी, मसानी, अशोक मेहता, दीनदयाल उपाध्याय, कम्युनिस्ट और मुस्लिम लीग आदि सभी खेमे इस बहस में शामिल होते रहे, निरर्थकता सार्थकता पर बाज़ी मारती रही, यथार्थ को काल्पनिकता हकालती रही। जवाहरलाल नेहरू, इंदिरा और कांग्रेस के दरबारी चरित्र ने समाजवाद, सेकुलरिज्म और लोकतंत्र को राजनीतिक रणनीति की नजर से देखा तो बहुतांश बुद्धिजीवियों ने उसमें आर्थिक विकास और आर्थिक लोकतंत्र का तत्व तलाशा। शुरू-शुरू में रुसी क्रांति के कारण समाजवादी माहौल इतना प्रभावी था कि अयथार्थ मृगजलीय स्वप्नदर्शिता वाले कांग्रेसी नेताओं और परजीवी बुद्धिजीवियों ने एक सर्वथा मिथ्या को संपूर्ण यथार्थ बताया। आंख मूंद कर समाजवाद को आर्थिक विकास और न्यायपूर्ण वितरण का ब्लू प्रिन्ट माना। देश की परिस्थिति, प्रवृत्ति, प्रकृति और आवश्यकता का विचार करने की आवश्यकता ही नहीं समझी गई।

यदि किसी ने समाजवाद का खोखलापन बताने की कोशिश की तो उसे पूंजीपतियों का मुर्गा, गरीबों का शोषक और यथास्थितिवादी होने की गाली दी गई। दरिद्र को नारायण मानकर उसकी सेवा में पूजा का पुण्य प्राप्त करने की भारतीय प्रेरणा, गांधी जी के अन्त्योदय और रामराज्य को मार्क्स के आधे-अधूरे समाजवादी अर्थतंत्र का बन्दी बनाया गया। अपने राष्ट्र के प्राचीन दर्शन, प्रयोग और अनुभव की ओर से आंख मूंद कर समाजवाद की रेल पर सवार हो गए। रूसी तर्ज और तरीके पर देश के आर्थिक विकास की पंचवर्षीय योजनाएं बनीं जिनमें व्यवसायिकता तो है, व्यक्ति नहीं है। उद्योग है, उद्यम नहीं है। परजीविता है, पराक्रम नहीं है। राष्ट्र निर्माण की पंचवर्षीय प्रक्रिया में व्यक्ति निर्माण की कोई व्यवस्था नहीं की गई। व्यक्तिनिरपेक्ष समाजवादी सरकारी व्यवस्था का राजमार्ग मुट्ठी भर लोगों के द्वार तक जाकर रुक

गया। बेचारा गरीब और अधिक कंगाल हो गया। आर्थिक समृद्धि में उसका अंश केवल अवसरवादी चुनावी दया भाव भर रह गया। आर्थिक समृद्धि में बंटवारे की कल्पना दिवास्वप्न बन गई। विदेशी कर्जे की तुलना में स्वदेशी समृद्धि नहीं बढ़ी। आर्थिक समृद्धि का हाल यह है कि अस्सी करोड़ की आबादी वाले भारत देश में केवल बीस लाख आयकरदाता हैं। सत्ताईस हजार लोग एक लाख रुपये या उससे अधिक आयकर देते हैं। केवल एक सौ सत्ताईस लोग ऐसे हैं जो दस लाख रुपए और उससे ऊपर के आयकरदाता हैं। पचास हजार से एक लाख लोगों का इस देश की संपूर्ण पूंजी पर एकाधिकार है। इन एकाधिकारियों में निजी औद्योगिक घराने, सरकार और सरकारी उद्यम हैं। यही है गत चालीस वर्षों की समाजवादी लोकतंत्र की आर्थिक उपलब्धि। कुटीर और भारी उद्योग, सरकारी, सहकारी क्षेत्र और आर्थिक विकास की प्राथमिकताएं तक तय नहीं हैं।

इस तथाकथित कल्पित समाजवाद के आर्थिक लोकतंत्र मं उत्पादन और वितरण के बीच कोई तालमेल नहीं है। समाजवादी सरकार अपने देशवासियों की जेब और पेट काटकर मुनाफाखोरी करती है। सरकारी उद्योगों, धनपतियों का पोषण और किसानों का शोषण करती है। किसान को उसके उत्पाद की लागत से कम मूल्य दिया जाना और उपभोक्ता से अधिक मूल्य वसूल करना सरकारी मुनाफाखोरी का जीवित प्रमाण है। इसके लिए आंकड़े तलाशने की आवश्यकता नहीं है। गन्ना सस्ता, चीनी महंगी, साबुन, तेल, कपड़ा, सीमेंट, लोहा, पेट्रोल, डीजल, ईंट सब कुछ महंगा है, केवल किसान और मजदूर का रक्त-पसीना और श्रम सस्ता है। समाजवाद देश की लगभग अठहत्तर करोड़ जनता का खून चूस रहा है। सरकारी उद्योग उसका धन और खून ही नहीं खा-पी रहे हैं बल्कि उसकी इज्जत भी लूट रहे हैं।

समाजवाद के प्रति रूस के गोर्बाचोव का मोहभंग हो गया। चीन में समाजवाद शब्द गाली बन गया। लेकिन भारत सरकार और कांग्रेस सहित अनेक राजनीतिक दलों ने उसे अब भी गले लगा रखा है। कारण? कारण यह है कि हमें दूसरों के दर्शन और दान के आधार पर उधार जिन्दगी जीने और दूसरों की दृष्टि से अपनी ओर देखने की आदत लग गई है। स्व० गोलवलकर और स्व० दीनदयाल उपाध्याय सरीखे अनेक व्यक्तियों की इस चेतावनी को समाजवाद के नशे में नकार दिया गया कि देश और समाज के सभीं आर्थिक और प्राकृतिक स्त्रोतों का बड़े पैमाने पर सरकारीकरण करते जाने से परजीविता पनपेगी, पराक्रम और उद्यम ओझल हो जाएगा। वही हुआ। देश की विकास प्रक्रिया में सरकारी तंत्र का योगदान तो है लेकिन आम समाज का श्रम और उद्यम उसमें शामिल नहीं है। इस प्रक्रिया में बांध तो बने, लेकिन व्यक्ति नहीं बना। व्यक्ति नहीं बनने के कारण ही बांध टूट रहे हैं। लूट खसोट हो रही है। बोफोर्स जैसे काण्ड हो रहे हैं! झूठ बोले जा रहे हैं। समाजवाद के नाम पर सरकारी उद्योगों में गत सैंतीस वर्षों में पचास हजार पांच सौ करोड़ की पूंजी लगी है। लगभग

सभी उद्योग घाटे में हैं। सरकार को इस वर्ष 450 करोड़ का घाटा उठाना पड़ा है।

आजादी के बाद देश ने जिन व्यक्तियों के नेतृत्व में अपनी यात्रा आरम्भ की, कुछ अपवाद के अतिरिक्त वे अपने और अपने इतिहास के प्रति अपराध बोध से ग्रस्त थे। जो कुछ दूसरों ने बताया उसे ही सच माना। भारत को पश्चिमी सांचे में ढालने को आधुनिक होना माना गया। बनी-बनाई पश्चिमी व्यवस्था का परीक्षण किए बिना अपने देश के ऊपर थोपा गया।

आर्थिक विकास प्रक्रिया का ही नहीं राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था का भी यही हाल है। हमारा समाजवाद रूस के रास्ते से होकर भारत की धरती पर उतरा तो लोकतंत्र इंग्लैंड और अमरीका आदि देशों का संस्कार लेकर आया। पश्चिमी चिन्तन भारतीय संविधान, लोकतंत्र और सेकुलरिटी का आधार बना। चर्च की दीवार तोड़कर निकले सेकुलरिज्म ने भारतीय धर्म और अध्यात्म से जुड़े सर्वधर्म समभाव को प्रदूषित किया। मजहबी हित को राष्ट्रीय हित पर व्यवहारिक प्राथमिकता प्रदान की। सांस्कृतिक एकसूत्रता को तोड़ा। अल्पसंख्यकता में निहित स्वार्थ पैदा किए। विविधता को अनेक राष्ट्रीयताएं और अनेक संस्कृति माना। अनेक राष्ट्रों का एक संघराज्य भारत होने की अवधारणा चर्च से निकली सेकुलरिटी और राजनीति की अंधी नकल का परिणाम है। इसी में से जन्मे संघीय संविधान की धाराओं ने अलगाववादी सोच को बल प्रदान किया।

रूसी अर्थव्यवस्था और अमरीकी राज्य व्यवस्था की चकाचौंध द्वारा भारतीय प्रतिभा को छला गया। एक अति प्राचीन और महान परंम्परा के वारिस होने का अहसास हमें नहीं रहा। हमने यह तो मान लिया कि पन्द्रह अगस्त 1947 को एक नया भारत राष्ट्र जन्मा है। किन्तु हमने यह नहीं माना कि पन्द्रह अगस्त, 1947 को हजार वर्ष से गुलामी के अंधे तहखाने में पड़ा पांच हजार वर्ष से भी अधिक लम्बी आयु वाला गौरवशाली भारत राष्ट्र पुनः प्रकाश में आया है। यदि यह अनुभूति हुई होती और अथर्ववेद के अतीत तक जाते, उसके पन्ने पलटते तो केवल तानाशाही, प्रचलित समाजवादी व्यवस्था और दोषपूर्ण लोकतंत्र के बीच ही चुनाव करने की बाध्यता में न फंसते। अथर्ववेद में स्वराज्य से लेकर वैराज्य तक अर्थ और राज्य व्यवस्था के इतने प्रकार बनाये गये हैं कि आधुनिक विश्व उसकी कल्पना तक नहीं कर सकता।

यह आज का भारतीय यथार्थ है कि समाजवाद आर्थिक लोकतंत्र के मार्ग की बाधा बना, चर्च और राज्य के संघर्ष में से जन्में सेकुलरिज्म की सर्वधर्मसमभाव की भारतीय चेतना को ग्रहण लगा तो उधार ली गयी राजनीतिक लोकतांत्रिक प्रक्रिया ने व्यक्ति को केवल मतदाता बनाया। भारत का नागरिक मात्र मतदाता और उपभोक्ता बनकर रह गया। कहां पहुंचे हम इन चालीस वर्षों में? वर्तमान समाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था और चुनाव प्रक्रिया में से किस प्रकार के लोग सामने आ रहे

हैं? इसकी पड़ताल करते हैं तो मन घृणा से भर जाता हैं।

लोकसभा के पूर्व महासचिव और पूर्व चुनाव आयुक्त श्री श्यामलाल शकधर ने भारत की लोकतांत्रिक क्रिया ओर स्थिति पर बहुत ही बेबाक टिप्पणी की है। वे कहते हैं, "हम निर्वाचित तानाशाही की ओर बढ़ रहे हैं। हम चुनाव के द्वारा स्वयं को समाप्त कर रहे हैं। हम स्वयं अपनी तबाही के जन्मदाता बन गए हैं। कभी किसी ने आज से पहले केवल पार्टी के नेता के प्रति प्रतिबद्धता ही बात की थी? यह तो गुलामी का परिचायक है। यह तो केवल तानाशाह ही कहता है कि मेरे प्रति वफादारी रखो। गुटबाजी की बात तानाशाह ही करता है। यह तो वही हुआ कि मुझे भी प्यार करो और मेरे कुत्ते को भी। मैं यह नहीं कहता कि संसद में सभी पांच सौ लोग ईमानदार ही हों। अगर पांच प्रतिशत लोग भी ईमानदार हों तो देश को आगे ले जाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। मगर वर्तमान व्यवस्था में ऐसे लोग आगे आ ही नहीं सकते। इस व्यवस्था में जात-पांत, बाहुबल, पैसा और अहंकार की प्रमुख भूमिका है। ये सभी अधार्मिक चीजें हैं। व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें विवेकशील लोग ही चुनकर आएं। क्या आज संसद में कोई ऐसा व्यक्ति है जिसके पास अन्तरात्मा नाम की कोई चीज बची रह गयी हो?"

यह सवाल केवल सांसदों और संसद से ही नहीं समाज से भी है कि क्या समाज में ऐसे लोग हैं जिनके पास अन्तरात्मा नाम की कोई चीज बची हो? क्या समाज में पांच प्रतिशत ऐसे ईमानदार लोग हैं जो देश को आगे ले जाने में सहायक सिद्ध हों? देश-दशा ठीक करने के लिए हर स्तर पर केवल पांच प्रतिशत लोग चाहिएं। किन्तु ये पांच प्रतिशत लोग भी नहीं मिल पा रहे हैं, कितना बड़ा दुर्भाग्य है? कितनी बड़ी विडम्बना?

इस विषय के विश्लेषण का समापन प्रसिद्ध न्यायविद डा० लक्ष्मीमल सिंधवी इस प्रकार करते हैं— "राजनीति आदर्श और यथार्थ का पाथेय लेकर चलती है। हमारे देश में इस पारम्परिकता को घुन लग गया है। लोकतंत्र जीवन दर्शन और जीवन शैली से संबंध रखता है। यह एक ढांचा भी है और एक प्रक्रिया भी। हमने हमारे संविधान के माध्यम से एक श्रेष्ठ ढांचा बनाया, एक उत्तम प्रणाली स्थापित की, किन्तु व्यवहार और प्रक्रिया में लोकतंत्र की प्राण प्रतिष्ठा एक दुष्कर लक्ष्य रहा। समाज और राजनीति पर पूंजी का अत्यधिक और अनुचित प्रभाव उस कठिन और दुष्कर लक्ष्य को दुर्लभ बना दे सकता है।। आज लोकतांत्रिक जवाबदेही का ढांचा बहुत कमजोर है। जनमानस में जन-प्रतिनिधियों के उलझे हुए गणित और सार्वजनिक बहस के आदान-प्रदान में विनय और विवेक का, निःस्वार्थ सेवा और त्याग का, समझ और दूरदृष्टि का, योग्यता और प्रतिभा का ऐसा अवमूल्यन हो गया है कि न केवल चुनाव की प्रक्रिया पूंजी और दूसरे अनुचित प्रभावों से दूषित है अपितु राजनीतिक, शासकीय और सामाजिक निर्णय की शैली सर्वत्र आपाधापी की त्रासदी से त्रस्त और ग्रस्त है।

न केवल मत मांगने के तरीके में हमारी मति मारी गई है बल्कि शासन चलाने में, राष्ट्र की एकता कायम रखने में, आपस में बातचीत करने में, साझे निर्णय करने, निभाने और सहयोग से कार्य करने में हम अक्षम सिद्ध हो रहे हैं? दोष पूंजी का नहीं है, न पूंजीपतियों का है, दोष हमारी राजनीतिक प्रक्रिया का है। यह अपराध किसी एक दल या व्यक्ति का नहीं बल्कि सभी दलों और राजनीतिज्ञों का यह सामूहिक अपराध है कि लोकतांत्रिक निष्ठा की गंगा हमारे बीच में परम प्राचीन सरस्वती की तरह विलुप्त होने को है।

स्पष्ट है कि तथाकथित समाजवाद ने आर्थिक लोकतंत्र का रास्ता रोका। पश्चिमी सेकुलरिज्म ने सामाजिक सद्भाव समाप्त करके भारतीय नागरिकता को अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक में बांटा। चुनाव प्रक्रिया ने लोकतंत्र को भ्रष्ट किया। भारतीय लोकतंत्र का संचालन जन के नहीं धन के प्रतिनिधि करते हैं। इस सच्चाई को कोई नकार नहीं सकता कि भ्रष्टाचार में से जन्मा लोकतंत्र ही नहीं आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कोई भी तंत्र और प्रक्रिया हो वह सार्थकता, पावित्र्य, और विश्वास का सृजन नहीं कर सकती।

यह कैसा लोकतंत्र, समाजवाद और सेकुलरिज्म है जो व्यक्ति, समाज देशनिरपेक्ष, किन्तु केवल सत्तासापेक्ष है? जो व्यक्ति और उसके शील एवं चरित्र को कुचलकर व्यवस्था को गलीज बनाकर केवल सरकारी गलियारे में रोशनी करता है? यदि यह प्रधानमंत्री के मन की मौज नहीं, यथार्थ की अनुभूति है तो ईमानदारी के साथ इस आयातित व्यवस्था और विचार को बदलने का सार्थक और परिणामकारी प्रयास करें, अन्यथा समय उनके इस मोहभंग को भी पूर्व की भांति राजनीतिक पाखण्ड के बस्ते में बांधकर किसी भी अंधे गड्ढे में फेंक देगा। व्यवस्था बदलनी है, देशवासियों को दैहिक, दैविक, भौतिक ताप से मुक्त करना है तो भारत में समाजवाद लाने की नहीं रामराज्य लाने की बात करिये। सम्प्रदायों की चर्च प्रणीत सेकुलरिटी से नहीं सर्वधर्मसमभाव से जोड़िए। आर्थिक समृद्धि और सुख को दरिद्रनारायण की पूजा करने के पवित्र भारतीय भाव के प्रकाश में देखिए।

लेकिन बाईस दिसम्बर को समाजवाद के विषय में राजीव ने जो कुछ कहा था वह उनका यथार्थबोध नहीं मनमौजीपन था। मद्रास से बंबई आते-आते सत्ताईस दिसंबर तक समाजवाद पुनः गरीब जनता के आंसू पोंछने लगा। दरिद्र को नारायण मानने लगा। जबकि बाईस दिसम्बर को वह अप्रासंगिक था। देश की जनता का धन खा रहा था। राजीव स्वयं यह समझ पाने में सक्षम नहीं हैं कि उनकी मद्रास की बात सच थी या बंबई का कथन सच है। एक गंभीर राष्ट्रीय विषय पर इतनी आकस्मिक और सतही टिप्पणी? इतनी अज्ञानता? इतना मनमौजीपन। रूस और चीन जिस समाजवाद को खोखला कहकर तिरस्कृत कर रहे हैं भारत के राजीव कभी उसे आर्थिक विकास का अमृत कुंभ बताते हैं तो कभी दरिद्र नारायण की सेवा का साधन

और कभी अनुपयोगी। राजीव तो नहीं बता पाएंगे किन्तु शायद उनके सलाहकार यह बताने की कोशिश करें कि समाजवाद और सरकारी उद्यमों के विषय में मद्रास और बंबई में राजीव ने जो कुछ कहा है उसमें से कौन सा कथन सच है ? राजीव के तीसरे भाषण का इन्तजार है।

10 जनवरी 1988

सकारात्मक-सार्थक कर्म करो भाई !

बाईस दिसम्बर, 1987 को दिल्ली के रामलीला मैदान में एक जनसभा हुई। कम्युनिस्टों के अलावा विपक्ष के लगभग सभी मान्य-स्थापित राष्ट्रीय और क्षेत्रीय नेता सभा मंच पर उपस्थित थे। सभा का उद्देश्य था, राजीव के भ्रष्ट शासन को समाप्त करके भ्रष्टाचार मुक्त, स्वच्छ और सक्षम शासन की स्थापना का अवसर उत्पन्न करना। वक्ताओं ने वीरोचित गर्जनाएं कीं, उनके भाषणों में भ्रष्टाचारी शासन और नेताओं का घिनौना चेहरा उभरा, सत्ता-राजनीति के स्वयंवर में स्वयं को चुने जाने के लिए जनता को लुभाने का भरपूर प्रयास किया गया, लेकिन कोई भी 'वर', किसी भी वक्ता का व्यक्तित्व, उसे भाया नहीं।

सभा के बाद विश्लेषणों का दौर चला। जितने व्यक्ति उतने विचार। विरोधी दलों की कलह, किसी सर्वमान्य व्यक्तित्व का अभाव, राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी, सत्ता बदलने की सतही प्रयास, सत्ता प्रतिष्ठान की असफलताओं को भुनाने का अवसरवादी प्रयोग और देशदशा सुधारने का संपूर्ण दायित्व अन्ततोगत्वा जनता के सिर पर थोपकर स्वयं के दायित्व से मुक्ति। कुल मिलाकर विश्लेषणों का स्वर यह रहा कि विरोधी दलों के नेताओं ने देश की जनता को तो उकसाया, उसका दायित्व बोध जगाने का प्रयास तो किया किन्तु स्वयं को उससे अलग मानकर। जनता और नेताओं के बीच सीधा-सार्थक संवाद का संयोग बना ही नहीं। उपदेशक की शैली में श्रोताओं को सावधान करते हुए बताया कि उसे ऐसा या वैसा करना चाहिए और सभा समाप्त हो गई। केवल रामलीला मैदान की ही नहीं देश के दूसरे भागों की सभाओं का भी यही हाल है।

ये पवित्र विचार

अब सभा के बोल सुनिए—पौराणि कथा के फिल्मी नायक आंध्र के मुख्यमंत्री नन्दमुरि तारक रामाराव मंच की ऊंचाई से भी ऊपर उठकर ऊंची आवाज में बोले—"जब मैं चारों ओर चोरी, बेईमानी, दगाबाजी, कृतघ्नता, कपट और भ्रष्टाचार देखता हूं तो मेरा खून खौलने लगता है। आजादी प्राप्त होने के बाद के इन चालीस वर्षों में हमें क्या मिला?" जिस समय रामाराव यह पवित्र विचार व्यक्त कर रहे थे ठीक उसके पहले उनके दामाद को लेकर उन पर कुनबापरस्ती का आरोप लगाने के कारण वे श्रीनिवासत्लु रेड्डी को अपने मंत्रिमंडल से निकाल चुके थे। गत दो जनवरी को आंध्र

उच्च न्यायालय ने उन पर भ्रष्टाचार का जो प्रथम दृष्ट्या मामला माना है उस पर टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

उसी सभा में जनता पार्टी के अध्यक्ष चन्द्रशेखर, लोकदल के देवीलाल, कर्पूरी ठाकुर और भाजपा के अटल बिहारी वाजपेयी आदि भी बोले थे। सभी ने या तो राजीव की तरफ देखा या जनता की तरफ। अपने अन्दर झांककर अपनी ओर किसी ने नहीं देखा। देश की गरीब जनता के आंसू पोंछने की तड़प सब में थी, लेकिन अपना हाथ कितना साफ है, यह सवाल किसी के मन में नहीं उठा। उठा भी हो तो पता नहीं चला क्योंकि वह तब शब्द और अभी तक कर्म बन कर बाहर नहीं निकला। शब्द और सिद्धान्त पर व्यवहार करने का रिवाज आज के वातावरण में नहीं है। कई नेता कई बार इस लेखक से यह कह चुके हैं कि कथनी और करनी की एकरुपता राजनीति में अप्रासंगिक होती है। यह संतों, साधुओं और आचार्यों का धर्म है, राजनीति का नहीं।

भाजपा के अटल बिहारी वाजपेयी ने शानदार और गरिमापूर्ण ढंग से अपना भाषण शुरू किया था। राष्ट्र, समाज, समस्याओ, भ्रष्टाचार और प्रशासनिक अक्षमताओं आदि की चर्चा अत्यंत ऊंचे वैचारिक धरातल पर की। सभा में उपस्थित जनसमुदाय उनके विचारों से स्वयं को जोड़ ही रहा था कि श्री वाजपेयी सत्ता-राजनीति की आम सतह पर आ गए कि यह ईश्वरीय निर्देश नहीं है कि सभी निर्वाचित सरकारों को पांच साल तक बने ही रहना चाहिए। यदि कोई निर्वाचित सरकार भ्रष्टाचार और लोकतंत्र विरोधी कार्य करती है तो जनता को यह अधिकार है कि वह उसे उसका कार्यकाल पूरा होने के पूर्व सत्ता से हटा दे। श्री वाजपेयी के इस कथन पर तालियां खूब बजीं, नारे भी खूब लगे। लेकिन शोर शांत हुआ, मंच पर बैठे लोगों पर नजर गई तो वहां बैठी जनता के मन में यह सवाल घुमड़ने लगा कि वाजपेयी जी बात तो ठीक कह रहे हैं लेकिन राजीव की भ्रष्ट सरकार को हटाएं कैसे? कोई तरीका नहीं बताया वाजपेयी जी ने। लोकतंत्र में किसी निर्वाचित सरकार को हटाने के दो ही तरीके हैं—सदन में पराजित करना या चुनाव में हराना। सदन में विरोधी दल इतने कमजोर हैं कि इसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती और चुनाव अभी लगभग दो वर्ष दूर हैं। सदन में वाजपेयी जी और विरोधी दल राजीव की भ्रष्ट सरकार को नहीं गिरा सकते और समाज में जनता के पास अभी अवसर नहीं है, राष्ट्रपति उसे भंग करेंगे नहीं, राजीव स्वयं इस्तीफा देंगे नहीं। फिर भी वाजेपयी जी जनता को सलाह देते हैं कि वह राजीव की भ्रष्ट सरकार को हटा दे। कैसे? विरोधी दलों का कहना है तरीका जनता तय करे, यह उसका दायित्व है। वे शासन सम्हालने का अपना दायित्व निभाने के लिए तैयार है। मौका आयेगा तो जनता के आगे-आगे चलने में वे पीछे नहीं रहेंगे।

नकारात्मक दृष्टिकोण

भारत की राजनीति और सार्वजनिक जीवन में दोहरा मापदण्ड चलता है। यह

दोहरापन इंदिरा कांग्रेस में भी है और विरोधी दलों में भी। इंदिरा कांग्रेस को हिंसा, हत्या, भ्रष्टाचार और लोकतंत्र विरोधी कार्यों के कारण अपदस्थ करने का जनता से अनुरोध करने वाले विरोधी दलों के नेता आंध्र, कर्नाटक, केरल, पश्चिम बंगाल आदि का प्रश्न सामने आते ही कतरा जाते हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात, जम्मू-कश्मीर और केन्द्रीय सरकार पर भ्रष्टाचार, लूटखसोट भाई-भतीजावाद का आरोप लगता है तो इन्दिरा कांग्रेस उसे टाल जाती है। किसी को अपनी कानी आंख नहीं दिखाई देती। दोनों एक दूसरे की आंख की ढेंढ़नी की ओर इशारा करते हैं। देशवासी दुविधा में पड़ जाते हैं कि भ्रष्टाचार मिटाने, लोकतंत्र बचाने और भाई-भतीजावाद से मुक्त होने के लिए वे किसका सहारा लें—कहां से शुद्ध, पवित्र, चरित्रवान व्यक्ति लायें? भ्रष्टाचार और अनैतिकता देखकर जिनका खून खौलता है उनके लिए विपक्षी भ्रष्टाचार, 'भ्रष्टाचार न भवति', जो भ्रष्टाचारियों को सत्ता से हटा देने की नसीहत देते हैं वे अकर्मण्य और उदासीन हैं।

अब प्रश्न यह है कि यह स्थिति आई क्यों? सीधा और सरल उत्तर है विरोधी दलों के नकारात्मक दृष्टिकोण के कारण। 'मरणान्तानि वैराणि' का राम कथन, विरोधी दलों की राजनीतिक शक्ति बनी तो हर रुठा-झूठा-तिरस्कृत, निष्कासित कांग्रेसी विपक्ष का सहारा बनने लगा। कल का भ्रष्ट कांग्रेसी आज कांग्रेस से अलग हुआ नहीं कि वह क्रांति के पुरोधा के रूप में पूजा जाने लगा।

श्री राम प्रभु ने रावण के मारे जाने के बाद लक्ष्मण को उसके पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए मरणान्तानि वैराणी अर्थात् मरने के बाद शत्रुता का अन्त हो जाने का उपदेश किया था। अब कांग्रेस से अलग होने और कांग्रेसी शरीर का त्याग करते ही भ्रष्ट कांग्रेसी को चरित्रवान मान लिया जाता है। वह कांग्रेस में बाजी नहीं मार पाता तो विरोधी दलों को अपने जाल में फंसाता है। सत्ता का भूखा विपक्ष उसके इर्दगिर्द जमा होने लगता है। एक के बाद दूसरा सत्ताकामी कांग्रेसी विरोधी दलों का रक्त-मांस पी-खाकर कभी इधर से तो कभी उधर से सत्तासुख भोगता है। विपक्ष हर अवसर के बाद और अधिक अवसादग्रस्त, और अधिक विघटित और अधिक हताश तथा और अधिक अविश्वसनीय बनता जाता है।

प्रामाणिक प्रयास को पलीता

1967 के पहले तक राष्ट्रीय राजनीतिक विकल्प बनाने का प्रामाणिक प्रयास चला। समाजवादी और साम्यवादी, भारतीय विचारधारा पर आधारित भारतीय जनसंघ अपने-अपने प्रयास में लगे थे। कम्युनिस्टों की अपनी शक्ति नहीं थी। रूस के दबाव पर कांग्रेस ने कम्युनिस्टों के साथ दोस्ती और सांठ-गांठ करके उनके दामन पर लगा गद्दारी का दाग धोया। उन्हें देश में प्रतिष्ठा दिलाई। किन्तु चीन ने भारत पर हमला किया, नेहरू जी और इन्दिरा गांधी ने रूस से दोस्ती कर ली तो केवल राजनीतिक

कर्मकाण्ड करने के अतिरिक्त राष्ट्रीय स्तर पर कम्युनिस्टों की कोई सार्थक राजनीतिक भूमिका नहीं रही। कम्युनिस्टों की हवा रूस की दोस्ती और चीन की दुश्मनी ने निकाल दी, तो समाजवाद अपनाकर नेहरू जी ने समाजवादियों को सुस्त कर दिया। उनकी सैद्धान्तिक निष्ठा केवल सत्ता की राजनीति तक सीमित रह गई। लोहिया जी अपने जीवन के अंत तक संघर्ष अवश्य करते रहे, लेकिन समाजवादी आन्दोलन जनता के मन से उतर गया। भारतीय जनसंघ निष्ठापूर्वक अपनी वैकल्पिक धारा बनाने में लगा था। सत्ता प्रतिष्ठान को उससे खतरा दिखाई दिया तो उसके जन्मते ही उस पर साम्प्रदायिकता, युद्धलिप्सा, मुसलमानों का दुश्मन, अंधे और मध्ययुग में ले जाने वाला, आर्थिक नीति विहीन दल का आरोप लगाकर बदनाम किया। क्योंकि ये आरोप जवाहरलाल नेहरू ने लगाये थे इसलिए बिना सोचे-समझे तथाकथित प्रगतिशील बुद्धिजीवियों और राजनीतिज्ञों ने उनके सुर में सुर मिलाया। किसी ने उसे जनेऊधारी पार्टी कहा, तो किसी ने खड़ाऊंधारी। उसके संस्थापक अध्यक्ष की कश्मीर में हत्याजन्यमृत्यु तक पर परदा डाल दिया गया। डाक्टर मुखर्जी के नेतृत्व में विरोधी दलों की वैकल्पिकता का केन्द्र-बिन्दु बनते-बनते जनसंघ रह गया। फिर भी 1952 में अपनी स्थापना से लेकर 1967 तक राष्ट्रीय विकल्प बनने की दिशा में उसके कदम आगे बढ़ते ही रहे।

यही वह बिन्दु है जब राष्ट्रीय विकल्प में गैर कांग्रेसवाद के नकारात्मक दृष्टिकोण का जहर घुसा। मरणान्तानि वैराणी की गलत और सुविधापरक अवधारणा ने विरोधी दलों को कांग्रेसी संस्कृति के जाल में फंसाया। विरोधी दलों का नेतृत्व समय-समय पर कांग्रेस में सत्ता वंचित कांग्रेसी सम्हालते रहे। चरणसिंह, गोविन्द नारायण सिंह, महामाया प्रसाद, अजय मुखर्जी, भगवतदयाल शर्मा राव वीरेन्द्रसिंह आदि कांग्रेसी गैर-कांग्रेसवाद के रथ पर सवार होकर विकल्प के रूप में विपक्ष के आगे-आगे चले। रही सही कसर 1977 में पूरी हो गई। राजनीतिक दबाव में आकर जनता पार्टी में विरोधी दलों के विलय ने राष्ट्रीय विकल्प बनने की प्रक्रिया पर घातक प्रहार किया। अब विरोधी दलों के पास कहने के नाम पर केवल भाषण और करने के नाम पर केवल सभा के अलावा और कुछ भी नहीं बचा है। आज सत्तारुढ़ दल सहित सभी दल समाजवादी है। सिद्धान्त, कर्म, ढंग और इरादों के स्तर पर किसी में कोई अन्तर नहीं है। आम जनता का भी ऐसा स्तर नहीं है कि वह सैद्धान्तिक एकरूपता के बावजूद व्यक्तियों और दलों के किसी सैद्धान्तिक पग की प्रबलता या उसके किसी पहलू पर उसके बल का बारीकी के आधार पर चुनाव करे। सत्ता, धन और बाहुबल की तिकड़ी के सामने विरोधी दल हतप्रभ हैं। सत्ता में आने के अलावा विपक्ष के पास भविष्य की कोई आकर्षक रूपरेखा भी नहीं रही।

आज भी वैकल्पिक विपक्षी राजनीति सत्ताकामी, सत्तावंचित और कांग्रेस से तिरस्कृत लोगों की परिक्रमा कर रही है। मरणान्तानि वैराणि की तरह कांग्रेसियों को

माफ करके विपक्ष ने उन्हें अपना तारणहार मान लिया है। भ्रष्टाचार मिटाने, दगाबाजी की राजनीति का अन्त करने, गरीबों के साथ विश्वासघात का बदला लेने में यदि विरोधी दलों की रूचि होती तो उनमें कोई भी तो ऐसा होता जो राजीव को क्षमा दान न देता और रामाराव, हेगड़े, ज्योतिबसु, फारुख अब्दुल्ला और विरोधी दलों के साथ-साथ उन तमाम दूसरे नेताओं का भी सार्वजनिक रूप से राजनीतिक बहिष्कार करने का अभियान चलाता जिनका अतीत और वर्तमान दोनों भ्रष्ट है और जो भ्रष्टाचार विरोधी अभियान की लहर पर सवार होकर सत्तासुख भोगने के लिए व्याकुल हैं? किन्तु अभी तक ऐसा कोई व्यक्ति सामने नहीं आया। अभी तक ऐसे किसी बुद्धिजीवी ने भी यह सलाह देने का साहस नहीं दिखाया कि 'गैरवाद' के नकारात्मक दृष्टिकोण के आधार पर नहीं, सिद्धान्त, नीति, नेतृत्व और कर्म की जमीन पर सार्थक संघर्ष की प्रयोगशाला में स्वस्थ सामाजिक मन बना कर व्यवस्था बदली जाय। छोटे और अवसरवादी तरीकों से आने वाला परिवर्तन 1947, 1967, 1977 के परिणाम तक ही पहुंचेगा। जिसका अर्थ होगा विपक्ष और विकल्प पर फिर एक आघात और फिर दस वर्ष की दूरी तक पीछे चले जाना। दस वर्ष पीछे चले जाना। हारकर हताश होकर गैर कांग्रेसवाद और मरणान्तानि वैराणी की मानसिकता का शिकार होकर कांग्रेसी बिसात पर सत्ता राजनीति के खेल में मात खाते रहना, किसी रूठे झूठे, सत्ताचित, सत्ताकामी ओर निष्काषित कांग्रेसी को अपना और देश का भाग्यविधाता मानकर अपनी विश्वसनीयता समाप्त करते रहने की यह प्रक्रिया विरोधी दल कब छोड़ेंगे ?

किसी राजनीतिक विकल्प की सोच भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में उचित नहीं है। यहां अनेक दल रहेंगे ही। विभिन्न विचारों वाले अनके दलों में से किसी एक दल को अपनाने का काम जनता को करना होगा। जनशिक्षण की प्रतियोगिता में विरोधी दल क्यों नहीं उतरते। जनहित के लिए जनसंघर्ष की प्रतिस्पर्धा में बाजी मार लेने का प्रयास क्यों नहीं किया जाता। सत्तावादी राजनीति की अपेक्षा मुद्दों और समस्याओं को लेकर कोई देशव्यापी आन्दोलन क्यों नहीं चलाते कि आम आदमी को किसी प्रखर और प्रामाणिक दल को अपनाने का अवसर मिले ?

ये प्रश्न काल्पनिक नहीं हैं। 1987 में हरियाणा में इन्हें आजमाया गया था। हरियाणा संघर्ष समिति ने सतलुज व्यास जोड़ नहर और पानी के बंटवारे का प्रश्न उठाया। पानी का सवाल उठा तो उसने किसान जुड़ा, किसान जुड़ा तो मंडी जुड़ी, मंड़ी जुड़ी तो उपभोक्ता जुड़ा, उपभोक्ता जुड़ा तो व्यापारी जुड़ा, और फिर सभी के हित एक बिन्दु पर केन्द्रित हो गए। तो उसमें से एक ऐसा प्रबल जन आन्दोलन जनमा जिसने राजीव की इन्दिरा कांग्रेस के भ्रष्ट शासन को तहस नहस कर दिया। संघर्ष समिति सत्ता के लिए नहीं पानी के लिए बनी थी। पानी नहीं मिला तो सरकार बदलना जरूरी हो गया था। कोई भारतीय सत्ता सापेक्ष सतही अभियान

जनता में क्षणिक आकर्षण तो उत्पन्न कर सकता है, निर्णायक प्रभाव पैदा नहीं कर सकता। इस प्रक्रिया और प्रयास का स्वाभाविक परिणाम होता है एक भ्रष्टाचारी का विकल्प दूसरे भ्रष्टाचारी को बनाना। सभा करें तो उद्देश्य स्पष्ट रहे, बोलें तो अधूरी नहीं, पूरी बात बोलें, परिवर्तन की बात करें तो तरीका भी बतायें, भ्रष्टाचार मिटाने का अभियान लाएं तो अपनी ओर अपने आसपास भी देखें, परिवर्तन ओर संघर्ष का मुद्दा सत्ता को नहीं समस्याओं को बनायें, स्वहित और दलहित को नहीं, जनहित को प्रमुखता दें, सेवा ओर संघर्ष की प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्धा में ईमानदारी के साथ उतरें। बंधी हुए तीन टांगों वाले धावक मैराथन दौड़ में बाजी नहीं मारते। दलों का नहीं जो जनता का दिल जीतेगा वही व्यवस्था बदलने का मैराथन जीतेगा। नकारात्मक कार्य काफी कर चुके। अब कोई सकारात्मक सार्थक कर्म करो भाई।

17 जनवरी 1988

राजपथ पर कोलाहल, जनपथ सूना-सूना

अड़तीस वर्ष हुए जब 26 नवम्बर, 1949 को भारतीय जन की ओर से आत्मार्पित संविधान 26 जनवरी 1950 को भारत राष्ट्र को समर्पित किया था। तभी निर्वाचित राष्ट्राध्यक्ष और शासनाध्यक्ष, संसद, विधानसभा, संविधान से शक्ति ग्रहण करती न्यायपालिका, राष्ट्र के प्रति प्रतिबद्ध कार्यपालिका, विचार और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य के प्रति समर्पित समाचारपत्रों और स्वतंत्रता का सुफल देखने के लिए लालायित राष्ट्रीय समाज के सहयोग के साथ भारतीय गणतंत्र की यात्रा का आरम्भ हुआ। लोक गरिमा भारतीय लोकतंत्र का अधिष्ठान बना। संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों और राष्ट्रीय कर्तव्य बोध से परिपूर्ण तब का पारदर्शी माहौल बहुत ही मनमोहक था। तब से अब तक एक ऐसी नई पीढ़ी अपनी यात्रा के सैंतीस किलोमीटर चल चुकी है। वह आजादी के संघर्ष का अंग नहीं रही, किन्तु राष्ट्र निर्माण का दायित्व तो उस पर ही है। चालीस पैंतालीस करोड़ की इस इस पीढ़ी ने गुलामी की यातना नहीं भोगी है। यह गांधी, सुभाष, अरविन्द, लाल, बाल, पाल, तिलक, टण्डन, नेहरू को प्रत्यक्ष नहीं जानती। यह भी संभव नहीं है कि आजादी के राष्ट्रीय संघर्ष का सूरमा होने का दावा नई पीढ़ी करे। जो जूझे-जीते वे चले गए। जो बाद में जन्मे और अब जी रहे हैं वे पुरानों के केवल वारिस ही हो सकते हैं। उनसे यह सवाल पूछा जाना बेमानी है कि तुम तब कहां थे ? तुम कुछ भी नहीं जानते क्योंकि तुम आजादी की लड़ाई के अंग नहीं थे। तुम्हें गुलामी की पीड़ा का अहसास नहीं है। किन्तु आजादी के बाद जन्में 40 करोड़ लोगों को यह सवाल पूछने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता कि 15 अगस्त 1947 और 26 जनवरी 1950 के बाद उसे जो राष्ट्रीय चरित्र और चिन्तन दिया गया है क्या वह वास्तविक है ? क्या वह भारत राष्ट्र के सत्य के साथ जुड़ा है ? क्या स्वाधीन भारत के गणतंत्र में 'गण' और 'तंत्र' के बीच तालमेल है ?

कतराती पीढ़ी

पुरानी पीढ़ी इन प्रश्नों का उत्तर देने से कतराती है। सत्य के नाम पर असत्य सिखाती है। शब्द कुछ और इरादा कुछ। व्यक्ति और संस्था के शब्द और इरादे के बीच सत्य सूली पर टंगा है। जो कहते हैं वह सच नहीं जो सच है उसे कहते नहीं।

सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाते समय असत्य और हिंसा सिखाया। आदर्श अच्छा बताया किन्तु व्यवहार की व्याख्या ने उसे असत्य और आदर्शहीनता की ओर धकेला। मासूम भारतीय जन समझ ही नहीं पाया कि क्या सत्य है, क्या असत्य ? क्या व्यवहार है, क्या आदर्श ? सत्य को समय सापेक्ष बनाने का प्रयास असत्य का आरम्भ बिन्दु बना। आचार्य विनोबा भावे की एक कथा है। एक पिता जी बेटे को बता रहे थे कि "बेटा सच बोलो।" बेटा केवल सच ही जानता था और कुछ नहीं। उसने प्रश्न किया—"पिताजी यह सच बोलना क्या होता है ?" पिता ने समझाया, "बेटा जो चीज जैसी हो, जैसे देखो, उसे वैसा ही बताओ, वैसा ही बोलो" बेटे ने जिज्ञासा की—"पिताजी क्या ऐसा भी होता है, कि जो चीज जैसी होती है वैसी न बताकर उसे किसी और तरह का बताया जाता है या बताया जाना चाहिए।" पिताजी बेटे को सत्य सिखाते सिखाते उसे इस बिन्दु तक ले गए कि "बेटा यह जरूरी नहीं कि जो चीज जैसी हो उसे वैसी ही बताई जाए। समय और परिस्थिति का विचार करना होता है।" यहीं से झूठ की शुरूआत हुई। बेटा जान गया कि बात करने का एक तरीका यह भी होता है कि जो चीज जैसी है उसे वैसी नहीं भी बताकर सत्यवादी बना रहा जा सकता है। जो बालक सत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता था उसे असत्य का अभ्यास कराया उसके अनुभवी पिता ने सत्य बोलने की शिक्षा देते देते।

विडम्बना

यह विडम्बना बेटे की ही नहीं राष्ट्र की भी है। गत सैंतीस और चालीस वर्षों में सदाचारी बनते बनते हम भ्रष्टाचारी बन गए। अखण्डता की आवाज लगाते लगाते विघटन को बढ़ावा देने लगे। अहिंसा का स्मरण करके हिंसक बन गए। साम्प्रदायिकता से घृणा करते करते सम्प्रदायवादी हो गए। जात पांत तोड़ो अभियान चलाकर जाति का जंजाल खड़ा कर दिया। लोकतंत्र की कथा सुनाते सुनाते वंशवादी हो गए। राष्ट्रीयता का अर्थ बताते राष्ट्रीय समाज को संकीर्ण और प्रतिगामी कहने लगे। एक जन, एक राष्ट्र एक संविधान का एकता सूत्र तथाकथित अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक की बहस और तुष्टीकरण ने छिन्न कर दिया। यह सब केवल इसलिए हुआ कि जो चीज जैसी है उसे वैसी नहीं बताई गई, वैसी ही नहीं मानी।

नई पीढ़ी के इस चालीस करोड़ को साफ शब्दों में यह नहीं बताया कि देश का विभाजन क्यों हुआ ? द्विराष्ट्रवाद को क्यों माना ? कश्मीर को विशेष दर्जा देकर देश के दूसरे भागों में अलगाव का अहसास क्यों जगाया ? तिब्बत की सच्चाई देश से क्यों छिपाई ? 1962 के चीनी हमले के हादसे पर पर्दा क्यों डाला ? 1965 के युद्ध, ताशकन्द में संधि वार्ता और शास्त्री जी की मौत का रहस्य देश के सामने क्यों नहीं रखा ? देश के चरित्र प्रदूषण का मूल कारण नहीं बताया। कृष्ण मेनन के ईमान और इरादों को 1962 की पराजय से पहले भी तो स्वीकार किया जा सकता था ?

कम्युनिस्टों का राजनीतिक सामाजिक बहिष्कार 1940-42 में क्यों नहीं किया ? देशद्रोह को प्रतिष्ठा क्यों प्रदान की गई ? पानी सिर से ऊपर पहुंच जाने के पहले भी तो सिराजुद्दीन, मूंदड़ा, ललितनारायण मिश्र, तुलमोहन काण्ड और अंतुले जैसे लोगों के कारनामों पर से पर्दा हटाया जा सकता था ? यह सच्चाई आज भी नहीं मानी जा रही कि बोफोर्स जैसे काण्ड गत चालीस वर्षों के पाखण्ड, प्रदूषित राजनीतिक चरित्र और संस्कृति की उपज हैं। अभी तक यह भी तय नहीं हो पाया कि यह देश किसका है ? उसके निर्माण, विकास और भविष्य का दायित्व किसका है ? देशवासियों को पंजाब, मिजोरम, सूखा, बाढ़, आर्थिक तबाही, शांति व्यवस्था और श्रीलंका आदि मामले में विश्वास में नहीं लिया जाता। युवा पीढ़ी को यह बताया नहीं जाता कि यह देश केवल हिस्सा बांट करने वालों का जमघट है कि यहां कोई ऐसी भी है जो इसे बांटने नहीं केवल बनाने की भावना रखता है ? जो इस देश के एकजन के रूप में यहां की विधि व्यवस्था और संविधान का सम्मान नहीं करते उनका सत्य देश के सामने उजागर करने से हम कतराते क्यों हैं। जिस लोकतंत्र का हम दम भरते हैं उसमें शामिल मूल लोकतत्व कौन सा है ? क्या है हमारे लोकतंत्र की परिभाषा ? कौन सा है वह 'लोक' जिसकी सुख समृद्धि राष्ट्रीय सुख समृद्धि होगी, जिसके सपने केवल इसी देश की मिट्टी में पलते और रूपाकार ग्रहण करते हैं ?

ऐसा क्यों ?

भारत के ये चालीस करोड़ नये बेटे बेटियां सत्य बोलना और जानना चाहते हैं तो उन्हें असत्य बोलने और उसी से जुड़े रहने का तरीका सिखाया जाता है। ऊपर के सभी सवालों का एक साथ जवाब दे पाना संभव न हो तो भी भारतीय गणतंत्र की सैंतीसवीं वर्षगांठ पर 'गण' और 'तंत्र' से जुड़े सवालों का जवाब तो मिलना ही चाहिए। ऐसा क्यों लगने लगा है कि आज का भारतीय 'गण' एक या एकात्म नहीं है कि उसके शरीर में एक ही राष्ट्रीय आत्मा निवास नहीं करती ? यदि भारतीय गण की आत्मा एक मानी जाती तो भारत विभाजन नहीं होता। पहले विभाजन के बाद पुनः दूसरे विभाजन का माहौल न बनाया जाता। अलग अस्तित्व और पहिचान का प्रश्न खड़ा न किया जाता। भिन्न आत्मबोध से ही अलगाव का आरम्भ होता। अभिन्नता अलगाव जानती ही नहीं। जिस दिन भारत का विभाजन हुआ उसी दिन यह सिद्ध हो गया था कि भारत का 'जन गण' कौन है ? उसका मन किसके साथ जुड़ा है ? किन्तु यह सत्य न तब स्वीकारा गया न अब स्वीकारा जा रहा है। सरदार खुशवन्त सिंह ने बंगलौर में आयोजित टीपू सुलतान व्याख्यानमाला में इस सत्य की ओर संकेत किया है कि भारत हिन्दू देश है। यहां की पचासी प्रतिशत आबादी हिन्दू है। इस सत्य को अस्वीकार करना मूर्खों के स्वर्ग में रहने जैसा है। पांच सौ साल के मुस्लिम और दो सौ साल के अंग्रेज शासन का उद्धार हिन्दुओं में कट्टरता पैदा करने में बहुत बड़ा

योगदान है। सेकुलरिटी की सतही सोच देश का ताना बाना तोड़ रही है।

जैसा है, वैसा नहीं कहते

खुशवन्त सिंह ठीक तो कहते हैं किन्तु जो बात जैसी है उसे पूरी तरह वैसी ही नहीं कहते। भारत का हिन्दू देश होना यदि सच है तो भारत की शासन और समाज व्यवस्था हिन्दू इतिहास और भविष्य की आकांक्षा के आधार पर क्यों नहीं बनाई गई? तब तो हिन्दू परम्परा के प्रकाश में ही संविधान, न्याय, शासन, समाज और अर्थ व्यवस्था का निर्माण किया जाना चाहिए था। यह तो हुआ नहीं। हुआ यह कि जिस हिन्दू मानस के कारण भारत में पंथ निरपेक्ष राज्य का विधान बनाया गया उसे प्रतिगामी अंधयुग का आधुनिकता विरोधी कहकर 'गधे' की गाली देने की सीमा तक कोसा गया। हम भारतवासी भारत के संदर्भ में यह विश्व सत्य स्वीकार नहीं करते कि किसी देश का बहुमत राष्ट्रीय समाज ही उस देश का भविष्य बनाता है। उसकी आकांक्षाएं ही राष्ट्रीय आकंक्षायें होती हैं। यदि इस सत्य को स्वीकार किया गया होता तो भारतीय संविधान, शासन व्यवस्था और गणतंत्र का रूप कुछ और ही बना होता। पाकिस्तान और बंगलादेश बन जाने के बाद शेष भारत वस्तुतः हिन्दू राष्ट्र ही रह गया था। उसके बाद इसे वैधानिक रूप से हिन्दू राष्ट्र मानकर अपने पांच हजार वर्ष के इतिहास और अनुभव के आधार पर ममता समतायुक्त समाज और पंथनिरपेक्ष राज्य व्यवस्था की जानी चाहिए थी। मुख्य राष्ट्रीयधारा उभरती तो अलगाववादी धाराएं उसमें स्वतः विलीन हो जातीं। पंथों सम्प्रदायों की साम्प्रदायिक समानान्तरता नष्ट होती। पंथ वैशिष्ट्य और अस्तित्व भी बना रहता। और प्रवाह भी प्रदूषित न होता। भारत में हिन्दू आकांक्षाओं के अनादर का अर्थ है देश की पचासी प्रतिशत जनाकांक्षा का अनादर। पचासी प्रतिशत आबादी अनादृत होगी तो देश समादृत कैसे होगा ? तथाकथित अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के नाम पर बहुसंख्यक समाज के चरित्र और आकांक्षा को विवादास्पद बनाने से अल्पसंख्यकों की प्रामाणिकता पर स्वाभाविक रूप से संदेह पैदा होता है।

हिन्दू राष्ट्र स्वीकार करने से भारत के विभिन्न समुदायों को भय क्यों हो ? जिस इंग्लैंड का उदाहरण सामने रखकर भारत में आधुनिक संसदीय शासन व्यवस्था चलाई जा रही है उससे भी हम कुछ नहीं सीखते। इंग्लैंड वस्तुतः प्रोटेस्टेंट ईसाई राष्ट्र है। उसके राष्ट्राध्यक्ष और शासनाध्यक्ष सदा प्रोटेस्टेंट ही होते हैं। ईसाइयत इंग्लैंड का प्रमुख मजहब है। फिर रोमन कैथोलिक, यहूदी, मुसलमान और हिन्दू वहां शांतिपूर्ण सुरक्षित जीवन व्यतीत करते हैं। तथाकथित सेकुलरटी के भारतीय झण्डा वाहक इंग्लैंड पर सेकुलरिटी विरोधी होने का आरोप नहीं लगाते। हिन्दुओं का कहना मत मानो। अपने इंग्लैंड की ही मान लो भाई। हिन्दू राष्ट्र की सर्वधर्म समभावी व्यवस्था में अल्पसंख्यक समुदाय को कोई खतरा नहीं है। इतिहास की साक्षी है कि हिन्दू भारत में

अल्पसंख्यकों की रक्षा ही नहीं की गई अपितु उनका भरपूर पालन पोषण भी किया गया। हिन्दू राष्ट्र में अल्पसंख्यक होने के कारण किसी को कभी कोई यातना नहीं दी। हिन्दू मानस एकात्मवादी होता है। एकात्मता प्रताड़ित नहीं, पालन करती है। हिन्दू ने किसी सम्प्रदाय, पंथ से कभी संघर्ष नहीं किया। उन्हें बढ़ावा ही दिया। हां उसने उन व्यक्तियों और समुदायों को समय समय पर अवश्य दण्डित किया जो देश की एकता और एकात्मकता के लिए खतरा बने। ऐसे व्यक्तियों और समुदायों को हिन्दू ने देशद्रोही कहा। उनमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई होने का भेद नहीं किया। अप्रदूषित राष्ट्रभक्ति की सदा आराधना की है भारत के हिन्दू ने। राष्ट्र के विकास और संरक्षण के अनुष्ठान में सभी को पंथ और सम्प्रदाय का विचार किए बिना शामिल किया है। किन्तु जो लात मारते हैं, जो राष्ट्र से अलग रहते हैं, जिन की आकांक्षाएं राष्ट्र को तोड़ने की साजिश करती हैं जो देश से नहीं केवल अपने मजहब से जुड़ी होती हैं, उनका स्वागत और समादर कोई देशभक्त कैसे करे ? खुशामद और तुष्टीकरण से राष्ट्र का भविष्य नहीं बनता। भविष्य बनता है समर्पण और संकल्प से। यह संपूर्ण समर्पण भारत भूमि पर रह रहे किस समाज में है ? पचासी प्रतिशत हिन्दू समाज में कि प्रन्द्रह प्रतिशत तथाकथित अल्पसंख्यक समाज में ? इस सवाल का जवाब जब जब 'एक जन, एक राष्ट्र' की चर्चा करेंगे, खोजना ही पड़ेगा।

लोकतंत्र का मर्म नहीं जाना

हमने भारत के राष्ट्र और समाज सत्य को नहीं स्वीकारा तो भारतीय लोक व्यवस्था का संचालन करने वाले माध्यम, लोकतंत्र का मर्म भी नहीं जाना। अतएव लोकतंत्र भीड़तंत्र में बदल गया। आतंकित मतदाताओं को हांक कर मतदान केन्द्र तक ले जाना और उनमें से अपना चुनाव करा लेना ही लोकतंत्र रह गया है। भयभीत और असुरक्षित आदमियों की भीड़ को लोकतंत्र की अभिव्यक्ति माना। लोकतंत्र का आधार 'लोक' रहा ही नहीं। उसका आधार बन गया शासन। शासन में बने रहने की तकनीक की सभ्य संज्ञा को यदि 'लोकतंत्र' मान लिया जाये तो ही भारत अपने यहां लोकतंत्र होने का गर्व कर सकता है। इसका स्पष्टीकरण इंग्लैंड के चर्चिल से सुनें। उन्होंने लोकतंत्र की परिभाषा की थी कि :

'Democracy, I say, is not based on violence or terrorism but on reason, on fairplay, on freedom, on respecting the rights of other people. Democracy is not a harlot to be picked up in the street by a man with a tommy gun,'

'अर्थात लोकतंत्र का आधार हिंसा या आतंकवाद नहीं, स्वच्छ और न्यायसंगत व्यवहार, स्वतंत्रता, तर्क और दूसरे लोगों के अधिकारों का आदर करना है। लोकतंत्र सड़क पर जा रही वेश्या नहीं कि जिसे कोई बन्दूकधारी उठा ले जाये।'

घिनौना कर्म

चर्चिल द्वारा की गई लोकतंत्र की परिभाषा के प्रकाश में भारतीय लोकतंत्र की प्रतिमा देखें और पचासी प्रतिशत लोकजन की आकांक्षाओं की कसौटी पर भारतीय गणतंत्र को परखेंगे तो भारत राष्ट्र के सत्य को असत्य के आवरण से ढंकने का घिनौना कर्म साफ साफ दिखाई देगा। राष्ट्र की आत्मा आज इतनी आहत और अपमानित है कि लगता है कि उसने स्वयं को अभिव्यक्त करने का इरादा त्याग दिया है अब स्वयं को साकार करने का उसमें साहस रहा ही नहीं। आज जब सैंतीस वर्ष की जवान हो गयी नयी पीढ़ी अपने राष्ट्र का सत्य पाना और जानना चाहती है तो बूढ़े बाप की तरह हम उसे यह बता रहे हैं कि जो जैसा है उसे वैसा बता कर भी सत्य बोला जा सकता है, सत्यवादी बने रहा जा सकता है। सत्य और सिद्धान्त व्यवहार के बाजार में बेमोल बिक रहे हैं। उदासमना भारतीय 'गण' को यह विडम्बना बेचैन कर रही है कि भारत की संस्कृति, समाज और राष्ट्र का सत्य स्वीकारा तो जाता है किन्तु भारत उत्सव की शोभा बढ़ाने और भारत की संस्कृति बेचने के लिए। हमारा राष्ट्र सत्य अब केवल शोभा की वस्तु रह गया है, अनुभूति और गौरव का विषय नहीं रहा। यदि भारत की भूमि पर हिन्दू साम्प्रदायिक और संकुचित है तो फिर यहां का राष्ट्रीय कौन है, यहां का जन किसे मानें ? यह गणतंत्र और लोकतंत्र किसके लिए है? भारतीय गणतंत्र का रथ राजमार्ग से होता हुआ अपने वास्तविक 'गण' के पास क्यों नहीं पहुंच रहा है ? राजपथ पर तो गणतंत्र के उत्सव का कोलाहल है किन्तु जनपथ सूना-सूना और सुनसान क्यों है ?

31 जनवरी 1988

गांधीजी के जीवन की शोकान्तिका

तीस जनवरी शहीद दिवस है। इसी दिन 1948 में महात्मा गांधी को नाथूराम गोडसे ने गोली मारी थी। 1947 में भारत विभाजन और मुस्लिम तुष्टीकरण की कुण्ठा गोली बन कर निकली और गांधी जी के सीने को छलनी कर गयी। अपनों के कारण मजबूर वह महात्मा तब 'हे राम' का आखिरी शब्द बोला था, अर्थात मानो परमात्मा से प्रार्थना कर रहा हो कि 'हे राम अब इस अपने देश की रक्षा तुम्हीं करना।' तब से अब तक चार दशक बीत गए। सचमुच यह देश राम भरोसे ही चल रहा है। यह राम का देश है न। कहते हैं कि प्रत्यक्ष परमात्मा पधारते हैं इस भूमि पर उद्भूत जीवन दर्शन के स्वत्व की रक्षा के लिए। पार्थसारथी योगेश्वर श्रीकृष्ण पार्थ को साफ साफ शब्दों में बता गए हैं कि 'जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब धर्म के अभ्युत्थान स्थापन, सज्जनों के परित्राण और दुष्टों के विनाश के लिए मैं जन्म लेता हूं। राम मर्यादा बता गए, कृष्ण कर्म की चेतना जगा गए, फिर भी हमारा किया कराया सब कुछ अकारथ गया केवल इसलिए कि हमने अपनों ही नहीं मानी तो अपनों को भी नहीं माना।

गांधी का संताप

गांधीजी के जीवन की शोकान्तिका और उनका संताप यह था कि जिसे गांधी जी ने माना, उसने गांधी को नहीं माना। जिन्होंने गांधी को माना, गांधी ने उन्हें नहीं माना। राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए गांधी जिस स्तर, और भविष्य की जिस कल्पना को साकार करने के लिए जूझ रहे थे, उसके साथ वे तमाम लोग पूरी निष्ठा के साथ जुड़ नहीं सके या यह कहना संभवतः अधिक उपयुक्त होगा कि उन लोगों ने जुड़ना नहीं चाहा, जो उनके साथ साथ चल रहे थे। देश की धरती, संस्कृति, और मन से जुड़े उस फकीर राजनेता को उनके उत्तराधिकारी ने एक अर्द्धनग्न और असभ्य व्यक्ति से अधिक और कुछ नहीं माना। गांधी के विरूद्ध बगावत न कर पाना उसकी मजबूरी थी कि गांधी भारत देश की नब्बे प्रतिशत देशवासी की धड़कन थे जो उन्हीं की तरह अर्द्धनग्न और 'असभ्य' थे। गोडसे ने गांधी को केवल एक बार मारा और क्षण मात्र में मृत्यु की पीड़ा से गांधी मुक्त हो गए। लेकिन उनके उत्तराधिकारियों ने गांधी जी के सीने में इतने घाव किये कि वे पूरी तरह छितरा गए। तब बोले थे गांधी कि मेरी अब कोई नहीं सुनता। मेरी उपयोगिता समाप्त हो गयी, शायद मुझमें अब वह शक्ति भी नहीं रही कि किसी ऐसे नए नेतृत्व का निर्माण कर सकूं जो भारत का भविष्य

बना सके। गांधी जी की इस लाचारी पर उनके उत्तराधिकारियों को दया नहीं आयी। वे प्रसन्न हुए कि उन्होंने गांधी जी को पछाड़ दिया। गांधी जी मारे गए तो वे इसलिए रोये थे कि वे नहीं रोयेंगे तो दुनियां क्या कहेगी। वही लोकलाज की बात। नाम गांधी का लिया काम किया गांधी जी की इच्छा के विपरीत। एक काम यह भी किया कि गांधी जी के विचारों को 'वाद' की पोशाक पहना कर 'गांधीवाद' ब्रान्ड राजनीति चलाई कि समय समय पर आवश्यकतानुसार गांधी जी को दर्शनी हुण्डी के रूप में भुना सकें। गांधी का अंग अंग राजनीति के बाजार में बेचा गया। गांधी राजनीतिक व्यवसाय बना दिये गये। आज भी उन्हें बेच रहे हैं कांग्रेसी। और गांधी विवश हैं बिक जाने के लिए।

महात्मा गांधी ने बहुंत प्रयास किया कि उनका प्रिय उत्तराधिकारी जवाहरलाल भारत देश को समझ सके। अपने इस प्रयास में असफल रहे महात्मा जी। नेहरू जी को वाशिंगटन, लन्दन, पेरिस और मास्को तो भाया लेकिन भारत उनकी समझ में नहीं आया। गांधी जी के रहते और उनके बाद भी एक ऐसी राजनीतिक संस्कृति की धारा बनाई गयी कि जो गांधी को समझते ओर मानते थे वे सभी गांधी जी की तरह किनारे लग गए। जो गांधी जी के नाम पर सार्वजनिक पाखण्ड करते थे उन्होंने गांधी को हड़प कर उन्हें अपना, अपने परिवार और पार्टी का बन्दी बना लिया। आजाद भारत में गांधी जी आज भी उनके बन्दीवास में सड़ रहे हैं।

लोकनायक की गवाही

लोकनायक ने बताया था कि एक बार नेहरू जी ने उन्हें विचार विमर्श करने के लिए बुलाया और बातचीत के क्रम में कहा, 'जयप्रकाश तुम मेरे सहयोगी बनो। सरकार में शामिल होना चाहो तो उपप्रधानमंत्री बनो। मुझे तुम्हारी बहुत जरूरत है।' लेकिन जयप्रकाश जी ने नेहरू जी का यह अनुरोध नहीं माना। क्यों ? जयप्रकाश जी का उत्तर था—'केवल इसलिए कि भावी भारत के निर्माण की नेहरू और मेरी मूल कल्पना में जमीन आसमान का अन्तर था। नेहरू जी की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सोच में पेरिस, मास्को, वाशिंगटन की चकाचौंध थी, मेरी आंखों में भारत का भूखा, नंगा, अपढ़, बीमार गरीब गांववासी और उजड़े हुए गांव थे। मेरा कहना था कि गांव बनेंगे तो देश बनेगा, नेहरू जी कहते थे बड़े उद्योग और सुन्दर शहर देश को दुनिया में प्रतिष्ठा प्रदान करेंगे। मेरा नेहरू जी को सीधा उत्तर था—यह गांधी जी की सोच के विरूद्ध है। राष्ट्र निर्माण के प्रश्न पर मेरी आप से नहीं बनेगी। हम दोनों दो विपरीत छोर पर खड़े होकर देश-दशा देख रहे हैं। किन्तु यही एकमात्र कारण नहीं है, इससे भी गंभीर और बड़ा कारण है हमारी आंखों का अन्तर। आप भारत को भारत की आंखों से नहीं, पश्चिमी आंखों से देखते हैं जबकि मेरी आंखें केवल भारत को देखती हैं, वे भारत के दरिद्रनारायण की आंखें हैं, उसमें पश्चिम की प्रतिभा को तो

स्थान है, प्रतिमा को नहीं।

आत्मा पर आघात

नेहरू जी की बात तोड़कर जयप्रकाश जाने लगे तो प्रधानमंत्री निवास की चकाचौंध दिखाते हुए नेहरू जी ने पूछा था—"अच्छा जयप्रकाश यह बताओ कि क्या भारत जैसे विशाल देश के प्रधानमंत्री को किसी विशाल सुसज्जित राजभवन सा दिखाई देने वाले निवास में नहीं रहना चाहिए कि दुनिया भर के नेता उसे देखकर दंग रह जायें। क्या इससे भारत और उसके प्रधानमंत्री की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ती।" जयप्रकाश बोले थे—"नेहरू जी ! भारत की प्रतिष्ठा प्रधानमंत्री के भव्य भवन से नहीं, भारत देश की जनता के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्तर और उसके प्रतिनिधि की सादगी और सरलता से बढ़ेगी। यह विदेह और राम जैसे राजाओं का देश है। चाणक्य जैसे त्यागियों, विरागियों का राष्ट्र है।" नेहरू जी चुप हो गए थे, जयप्रकाश जी चले आए थे। उस दिन भी गांधी जी अवश्य रोये होंगे। गोडसे ने गांधी जी के केवल नश्वर शरीर को गोली मारी थी नेहरू जी ने तो उनकी अविनाशी आत्मा पर आघात किया था।

गांधी जी की इच्छा

गांधी चाहते थे कि देश आजाद होगा तो राष्ट्र के नवनिर्माता गांवों में रहेंगे। गांवों से देश की समृद्धि का महायज्ञ और अभियान आरम्भ होगा। अपने उत्तराधिकारी अर्थात् नेहरू को वे इस कार्य के लिए तैयार करना चाहते थे। आजादी प्राप्त होने के चार दशक पूर्व 1908 में उन्होंने भावी भारत की रूपरेखा बना ली थी। अपने 'हिन्द स्वराज्य' के दस्तावेज पर वे बार बार बल देते रहे। जब उनको आजादी एकदम करीब दिखी तो 5 अक्तूबर 1945 को अपने उत्तराधिकारी जवाहरलाल को अंतिम बार लिखा कि "मेरे पास 1908 में लिखा गया 'हिन्द स्वराज्य' इस समय नहीं है किन्तु मुझे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं है कि उस समय मैंने जो लिखा उससे मेरा पत्र मेल खाता है कि नहीं। तत्व की बात यह है कि मेरी वर्तमान धारणा क्या है ? मेरा विश्वास है कि यदि भारत को वास्तविक आजादी प्राप्त करनी है तो तत्काल या पश्चात हमें महलों में नहीं गांवों की झोंपड़ियों में रहना पड़ेगा। करोड़ों लोगों का शहर में सुख शांतिपूर्वक रह सकना कदापि संभव नहीं होगा। सत्य और अहिंसा के बिना मानववंश का विनाश निश्चित है। इस सत्य और अहिंसा का दर्शन केवल गांवों की सादगी और सरलता में ही कर सकते हैं। यह सादगी और सरलता चर्खे से जुड़े दर्शन और तत्व में निहित है। मैं भयभीत नहीं हूं कि इस प्रक्रिया में दुनिया प्रतिगामी दिखाई देगी। परवाना जलने से पूर्व चक्रवात की गति से चक्कर लगाता है और जल जाता है। यह भी संभव है कि भारत इस चक्रवात से बाहर न निकल सके। किन्तु मैं अपने जीवन की अंतिम सांस भारत और भारत द्वारा संपूर्ण

विश्व को इस चक्रवात से मुक्त करने का कर्तव्य करता रहूंगा। मेरे कथन का निहितार्थ और मूल तत्व भाव यह है कि मानव जीवन के लिए आवश्यक वस्तु पर प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत स्तर पर नियंत्रण होना चाहिए। इस नियंत्रण के बिना व्यक्ति की रक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः व्यक्तियों से ही यह विश्व बना है। बिन्दु के बिना सिंधु का अस्तित्व संभव नहीं है। यह एक सामान्य बात है। मैंने कुछ नया नहीं कहा है।''

समझो जवाहर

'चिरंजीव जवाहरलाल ! तुम मुझे नहीं समझ पाओगे, यदि यह सोचोगे कि मैं आज के गांवों की बात कर रहा हूं। मेरा गांव मेरी कल्पना में निवास करता है। इस दुनिया में प्रत्येक व्यक्ति अपनी कल्पना के अनुसार रहता है। मेरी कल्पना का ग्रामवासी निरीह, उदासीन, निष्करूण और अनासक्त नहीं सचेतन व्यक्ति होगा। वह किसी घिनौने कमरे में पशुवत जीवन व्यतीत करने वाला इंसान नहीं होगा। गांवों के स्त्री पुरूष स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते हुए संसार का सामना करने के लिए तैयार रहेंगे। मेरी कल्पना का गांव कालरा, प्लेग और चेचक जैसी बीमारियों से मुक्त होगा। वहां कोई न निठल्ला और उपक्षित होगा न कोई विलासिता पूर्ण जीवन जियेगा। इन सबके बावजूद मैं ऐसी बहुत सी चीजों की कल्पना कर सकता हूं जिनका बड़े पैमाने पर उत्पादन करना पड़ेगा। वहां क्या होगा, यह मैं पूरी तरह नहीं जानता और मैं उसकी परवाह भी नहीं करता। यदि मैं मूल भावना और तत्व की रक्षा कर सका तो शेष चीजें स्वतः स्वतंत्रता के साथ आयेंगी और अपना स्थान प्राप्त करेंगी। और यदि मैं इस मूल तत्व को त्याग दूंगा तो सब कुछ गंवा दूंगा।

'यद्यपि मैं एक सौ पच्चीस वर्ष तक सक्रिय और कर्मशील जीवन जीने की कामना करता हूं फिर भी मैं एक बूढ़ा आदमी हूं और मेरी तुलना में तुम युवा हो। इसी कारण मैंने कहा है कि तुम मेरे उत्तराधिकारी हो। यह अच्छा होगा और इससे मुझे शांति भी मिलेगी कि कम से कम मैं अपने उस उत्तराधिकारी को समझता हूं और मैं जैसा और जो कुछ भी हूं वह भी मुझे समझता है।''

उत्तराधिकारी का उत्तर

गांधी जी की यह व्यथा नेहरू जी ने समय रहते नहीं समझी। महात्मा जी के इस पत्र के उत्तर में नेहरू जी ने लिखा था 'संक्षेप में मेरा विचार यह है कि हमारे सामने सत्य बनाम असत्य और अहिंसा बनाम हिंसा का प्रश्न नहीं है.... मैं यह नहीं समझ पा रहा हूं कि गांव सत्य और अहिंसा के अनिवार्य और साकार रूप कैसे हैं ? एक गांव सामान्यतः सांस्कृतिक और बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ा होता है । प्रतिगामी और पिछड़े हुए माहौल में प्रगति नहीं की जा सकती। संकीर्ण दिमाग के लोगों का झूठा और हिंसक होना अधिक संभव है। प्रगति और विकास के लिए यातायात के आधुनिकतम

साधन और अन्य प्रकार के भी विकास कार्य और अधिक विकसित होने के लिए अनिवार्य होंगे। विकास की मंजिल प्राप्त करनी है तो इसके अलावा ओर कोई रास्ता नहीं है। यदि ऐसा है तो बड़े उद्योगों की अपरिहार्यता स्वीकार करनी पड़ेगी। पूर्णतः ग्रामीण समाज में क्या यह सभव होगा ? हिन्द स्वराज्य बने मैंने आज से अड़तालीस साल पूर्व पढ़ा था। तब भी वह मुझे पूर्णतः अवास्तविक लगा था। विचार विमर्श के समय जब आपने हमें यह बताया था कि पुराना चित्र आपके मस्तिष्क में अभी भी विद्यमान है तो मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ था। 'हिन्द स्वराज्य' आज से अड़तालीस वर्ष पूर्व लिखा गया था। तब से अब तक दुनियां पूरी तरह बदल चुकी है।"

गांधी जी भारत की धरती से जीवन रस ग्रहण करते थे तो नेहरू जी पर पश्चिमी साम्राज्यवादी संस्कार इतना प्रभावी था कि वे किसी भारतीय वैकल्पिक विचार और दृष्टि को समझने के लिए तैयार ही नहीं थे। उनके विचार से गांव असंस्कृत ही नहीं, संस्कृति विरोधी और असभ्य भी थे। राजनीतिक मंच पर नेहरू गांधी जी के साथ थे, सांस्कृतिक, सामाजिक और नव निर्माण की यात्रा में वे उन से अलग थे। आजाद और प्राचीन भारत राष्ट्र के नवनिर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ बिन्दु राष्ट्रीय प्रवृत्ति, प्रकृति और वास्तविकता से इतना अलग और विपरीत था कि दो दशक पूरा होते होते देश अपनी वास्तविक मंजिल की बगल से हजारों किलामीटर दूर चला गया। ग्रामवासिनी भारत माता गरीब से कंगाल होती गयी और कुछ सैंकड़ों लोग समृद्धि के शिखर पर चढ़ते गए।

व्यवस्था के बन्दी

गांधी जी नेहरू जी को अपने पत्र हिन्दी (हिन्दुस्तानी) में लिखते थे। साथ में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी भेजते थे कि उनका उत्तराधिकारी उनकी बात समझ सके। किन्तु नेहरू जी के लिए हिन्दी देश की नहीं, प्रतिगामी, असंस्कृत और असभ्य लोगों की भाषा थी। उनके लिए राष्ट्र और राज्य की भाषा अंग्रजी, वोट की भाषा हिन्दी थी। भाषा और भावना के बीच कोई संवाद संबंध और सम्पर्क रहा ही नहीं। शायद इसी कारण दोनों एक दूसरे को समझ नहीं सके। देश ने गांधी को समझा , गांधी ने देश को समझा, लेकिन उनका मनोनीत उत्तराधिकारी दोनों को नहीं समझ सका। और जब समझा तब बहुत देर हो चुकी थी। तब तक नेहरू जी स्वनिर्मित व्यवस्था के बन्दी बन चुके थे। अपने जीवन के आखिरी पड़ाव पर पहुचते पहुंचते नेहरू जी को गांधी जी के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक सत्य का अहसास हुआ । 1962 में लोकसभा में उन्होंने अपनी भूल स्वीकार की। बोले, 'शायद गांधी जी ठीक कहते थे कि पुनर्निर्माण की इकाई गांव को बनाना चाहिए। समृद्धि और विकास के उपकरण गांवों में उद्भूत विकास की मंजिल तक पहुंच सके।' नेहरू जी का यह अहसास

अकारथ गया । क्योंकि तब उन्हें गांव में रची बसी संस्कृति और ग्रामीणों के रूप में साकार भारत माता की भावना से जोड़ने के लिए कोई गांधी नहीं था। और कांग्रेस की सत्ता संस्कृति के तेवर इतने चढ़ चुके थे कि वह चेतावनी देने लगी कि यदि सत्ता मे रहना है तो गांवों को गरीब ही रहने दो। सत्ता सुख भोगना है तो ग्रामवासियों को सोने दो। गांव जाग गए, गांधी के रास्ते पर चले तो कांग्रेस को सिंहासन खाली करना पड़ेगा। गांधी का नाम जप तो करो, गांधी को कभी धरती पर उतरने मत दो।......... गांधी का व्यापार करो.......व्यवहार नहीं।

बलि के बकरे

सत्ता की यह सलाह मान ली गांधी के वारिसों ने। सचमुच गांधी बहुत याद आते हैं—सत्ताकामी कांग्रेसियों और सत्ता के दलालों को भी और समाज और देशवासियों को भी। जो गांधी को नहीं समझते गांधी उन्हें भी याद आते हैं जो समझते हैं उन्हें तो याद आते ही हैं। कोई स्वार्थवश याद करता है तो कोई संस्कारवश। बेचारा अशरीरी गांधी विवश है। उसके वारिस उसे बकरे की तरह समय समय पर हलाल किया करते हैं। उसका रक्त मांस पी खा रहे हैं। स्वयं सत्ता सुख भोग रहे हैं। देश की सांसत हो रही है। अपना सही उत्तराधिकारी न चुन पाने की सजा केवल गांधी जी को ही नहीं, देश को भी भुगतनी पड़ रही है।

7 फरवरी, 1988

द्विपक्षीय रोग और खंडित दृष्टि

1987 के अंतिम दौर में यह आभास हो रहा था कि पंजाब में आतंकवाद अपने अंतिम दौर में है। चण्डीगढ़ और दिल्ली के बीच पर्दे के पीछे बातचीत का दौर चला। आतंकवादियों के अलग अलग गुटों के साथ प्रधानमंत्री के अलग अलग दूतों ने सम्पर्क साधा। दो केन्द्रीय मंत्रियों के विश्वासपात्र माध्यमों और प्रधानमंत्री के विश्वस्त व्यक्तियों के बीच होड़ लगी कि कौन किसका सर्वाधिक विश्वासपात्र है। आतंकवादियों और उनके नेताओं को इन विश्वस्तों ने यह संकेत भी दिया कि वे उन्हें आम माफी दिला देंगे। प्रधानमंत्री इस प्रस्ताव से सहमत हैं। प्रधानमंत्री को यह बताया गया कि 'आतंकवादी अब पूरी तरह निराश हो चुके हैं। बिखर रहे हैं। वे आत्मसर्पण करने के लिए कोई सम्मानजनक बहाना और समझौता चाहते हैं कि पराजयबोध के बिना हथियार डालकर मुख्य धारा में शामिल हो सकें। पाकिस्तान भी विश्व जनमत के दबाव में है। उसने आतंकवादियों को सहायता देनी बंद कर दी है। सीमा पार से अब प्रशिक्षित आतंकवादी पंजाब नहीं आ रहे हैं।

दो मंत्रियों की होड़

यह मृगजलीय माहौल पूरी तरह जड़ जमा पाता कि दो केन्द्रीय मंत्रियों की होड़ चरम सीमा पर पहुंच गयी। यद्यपि दोनों के पास कोई वास्तविक आधार और समाधान नहीं था लेकिन राजदरबार में अपनी गुड्डी चढ़ाने की होड़ में एक दूसरे को पछाड़ने का दांव पेंच शुरू हो गया। एक मंत्री बादल, रागी और आतंकवादियों के एजेन्ट बने तो दूसरे ने राजीव की इंदिरा कांग्रेस के राजनीतिक भविष्य का झंडा संभाला। दोनों की लड़ाई ने आशान्वित आतंकवादियों को उकसाया। बातचीत और सम्मानजनक समझौते की आशा में आतंकवादी स्वर्ण मंदिर परिसर और अकाल तख्त में जा जमे। परिक्रमा के कमरों पर कब्जा कर लिया। वहीं छिपकर बातचीत के लिए दिल्ली से बुलावा आने की प्रतीक्षा करने लगे। और दिल्ली में पंजाब समस्या का समाधान भावी चुनावों के नतीजों की तुला पर तौला जाने लगा कि आतंकवादियों की आम माफी ओर उनसे प्रत्यक्ष बातचीत का देश के चुनाव पर कैसा प्रभाव पड़ेगा ? दोनों केन्द्रीय मंत्री अपनी अपनी प्रतिष्ठा और पूछ का आकलन करने लगे कि पंजाब समस्या हल हो गयी तो दिल्ली दरबार में उनका भविष्य क्या होगा ? जब तक समस्या तब तक प्रतिष्ठा' के उनके निष्कर्ष ने आतंकवादियों और प्रकाशसिंह बादल, रागी और

अकाली गुटों को भड़काया कि उन्हें राजनीतिक फंदे में फंसाया जा रहा हैं परिणामस्वरूप पंजाब में बनता दिखाई देता समस्या के समाधान और शांति का माहौल मृगजल की तरह तिरोधान हो गया। 1988 का आरंभ आतंकवादी हत्याओं के नये दौर के साथ शुरू हुआ। लगभग पांच व्यक्ति की औसत से एक सौ पचास के आसपास बेगुनाह पंजाबी एक महीने में मार दिये गये। सत्ता की दलीय राजनीति की मथनी से पंजाब समस्या का समुद्र मंथन करने और समाधान तलाशने के प्रयास में से निकला हत्याओं का दौर।

आज की स्थिति

आज स्थिति यह है कि अकाल तख्त के शिखर पर दो खालिस्तानी झण्डे आसमान में लहरा रहे हैं। परिक्रमा की दीवारों पर खालिस्तानी मानचित्र लगे हुए हैं। लगभग सौ आतंकवादी परिक्रमा के कमरों में रह रहे हैं। वहीं हत्या की योजना बनती है, वहीं से सबको बारूदी रसद पहुंचाई जाती है। सरकार सब कुछ जानती है। पुलिस महानिदेशक रिबेरियो को सब कुछ पता है। गुप्तचर विभाग सुरक्षातंत्र को एक एक आतंकवादी की सूचना दे चुका है। तीन साल का चक्कर लगाकर पंजाब पुनः भिण्डरावाले के काल में प्रवेश कर चुका है। किन्तु आतंकवाद हत्या और हिंसा के संदर्भ में देश का मानस अब सहज हो गया है। अब उसे हत्या सहज और शांति असहज लगती है। यदि कोई दिन हत्या के बिना बीत जाता है तो लोग सवाल पूछने लगते हैं कि क्या बात है आज कोई मारा नहीं गया भाई ? शांति का माहौल अब उसके मन मानस में मानें अब रहा ही नहीं। रिबेरियो ने भी अब अपना कमान रख दिया लगता है। कहते हैं कि पंजाब में शांति गोली से नहीं होगी। अर्थात आतंकवादियों को आदर मिलेगा, उनसे सादर वार्ता की जाएगी तो ही बात बनेगी। सरकार और सुरक्षातंत्र अपनी असफलता का भांडा गुप्तचर विभाग के सिर पर फोड़ते हैं कि वह ठीक ठाक जानकारी नहीं देता। गुप्तचर विभाग के लोग दुखी हैं कि उनकी सूचनाओं का पालन करना तो दूर, उन पर ध्यान तक नहीं दिया जाता। प्रत्येक गुप्त सूचना सरकारी फाइलों में सुधर संवर कर कार्रवाई होने से पूर्व आतंकवादियों तक पहुंच जाती है। गुप्तचर अपना बचाव करने के लिए सार्वजनिक रूप से प्रमाण नहीं दे सकते। इस लेखक को एक बार असावधानीवश एक दुःखी गुप्तचर ने यह तथ्य स्वयं बताया कि यदि सरकार ने उसकी सूचना को महत्व दिया होता तो तीन वर्ष पूर्व जो दर्जनों रेलवे स्टेशन सामूहिक रूप से जलाये गये थे, वे जलाये न जाते। आतंकवादियों के कदम कदम, उनकी हर चाल की जानकारी सरकार को दी गई है लेकिन राजनीतिक भय उसे सही कार्रवाही करने से रोकता है। राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण स्थानीय प्रशासन इतना असहाय है कि वह आतंकवादियों का प्रथम शत्रु बन गया है।

निहित स्वार्थ

प्रधानमंत्री जी कहते हैं कि वे बातचीत करना चाहते हैं। अकालियों से और

विराधी दलों से भी। यह भी कहा जा रहा है कि अब सीधे प्रधानमंत्री सचिवालय पंजाब समस्या को देखेगा। किन्तु इसमें तत्व की कोई बात नहीं है। पंजाब समस्या सदा प्रधानमंत्री ने ही देखी है। लेकिन वे केवल देखते भर हैं कोई समाधान नहीं निकालते। समस्या को उलझा जरूर देते हैं। पंजाब समस्या पर प्रधानमंत्री ने जब जब बात की है बात बनी नहीं, बिगड़ी है। वे बात उनसे करते हैं जिनका पंजाब की समस्या में निहित स्वार्थ है। उनका ध्यान पंजाब समस्या के समाधान पर नहीं बल्कि वोट राजनीति पर होता है।

केवल वोट और सत्ता

समझौता सूरमा प्रधानमंत्री राजीव द्विपक्षीय समझौता करते हैं। एक पक्ष होता है अपराध और हत्या करने वाले अलगाववादियों और उनके पक्षधरों का। दूसरा पक्ष सत्तारूढ़ इन्दिरा कांग्रेस अध्यक्ष और सरकार के प्रधानमंत्री का। राजनीतिक भय कभी आतंकवादियों को तुष्ट करने का प्रयास कराता है तो कभी राजनीतिक गुटों को। किसी बड़े आयाम में वोट राजनीति निरपेक्ष समाधान की तलाश की ही नहीं जाती। केवल छवि, केवल वोट, केवल सत्ता और कुछ नहीं होता समझौते के मूल में। जब तक समस्या तब तक सत्ता। सत्ता के लिए समस्या पैदा करना उस समस्या की जिम्मेदारी दूसरों पर थोपना, राष्ट्रीय एकता के नाम पर उसके समाधान का प्रयास करते करते राष्ट्रीय एकता के टूट जाने की सीमा तक उसे खींचना और फिर उस समस्या से जुड़े कांग्रेस प्रेरित गुट के साथ समझौता करके शांति और अहिंसा का देवदूत होने का प्रमाण पत्र प्राप्त करके देश को हिंसा और अशांति की आग में झोंक देना ही कांग्रेसी कुनबे का चरित्र और उसकी राजनीतिक कार्य प्रणाली है। मिजोरम, पंजाब, श्रीलंका, असम में उन्होंने यही किया है। समस्या को सुलझाने के लिये किससे बातचीत करना चाहते हैं प्रधानमंत्री ? चाहे पंजाब हो चाहे मिजोरम चाहे श्रीलंका और त्रिपुरा किससे बात की जायें तो बात बने ? क्या केवल आन्दोलनकारियों से, क्या केवल राजनीतिक पक्ष से ? क्या केवल विशिष्ट हित गुट से ? किसी भी 'केवल' किसी भी अलग थलग प्रयास में समाधान नहीं मिलेगा। घरेलू राजनीति में द्विपक्षीय वार्ता का रास्ता समस्या के समाधान की मंजिल तक नहीं ले जाता। यह विश्व राजनीति की वार्ता की विधा है। दो राष्ट्रों के बीच यह तरीका उचित है। किन्तु घर में बात सभी पक्षों से करनी होती है। घर में कोई एक ही सार्वभौम पक्ष नहीं होता। पंजाब और मिजोरम के समझौते में यही चूक हुई है। स्मरण रहे न पंजाब में केवल अकाली है न मिजोरम में केवल लालडेंगा। दोनों जगह एक ही नहीं, ऐसे बहुत से लोग और अनेक पक्ष हैं जिन्हें विश्वास में लिया जाना चाहिए था। किन्तु लिया नहीं गया। आम सहमति की बात कौन करे अकाली दल तक को तोड़कर लोंगोवाल और बादल गुट बनाकर एक गुट के साथ समझौता कर लिया गया । बेचारे लोंगोवाल मार

दिये गए। बादल बहक गए। सिखों सहित सभी पंजाबी संकट में पड़ गए। पंजाब देश से कट जाने की पीड़ा से तड़पने लगा। प्रधानमंत्री यह भूल गये कि पंजाब समस्या का समाधान केवल सिख राजनीति के तुष्ट या उससे रूष्ट होने में नहीं है। आतंकवाद और अलगाव के विरूद्ध युद्ध सभी पंजाबियों को अनेक मोर्चों पर साथ साथ लड़ना होगा। पंजाब में पंजाबी रहते हैं केवल अकाली सिख ही पंजाब में नहीं हैं। वे सभी सिख और गैर सिख भी उनमें शामिल हैं। जिन्होंने इस हत्या आतंक और विश्वास के माहौल में भी विश्वास ओर भाईचारा मिटने नहीं दिया। पंजाब की समस्त महत्वपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक, मजहबी, सांस्कृतिक, संस्थाओं और देश के दूसरे भागों के बुद्धिजीवियों का गोलमेज सामूहिक सम्मेलन बुलाकर सर्वसम्मति सामूहिक या अधिकांश मुद्दों पर आम सहमति निर्माण करके इस समस्या का हल ढूंढने का प्रयास अब तक नहीं किया गया। बातचीत भिण्डरावाला, तोहड़ा, लोंगोवाल, बरनाला, बादल और मान की परिक्रमा करती रहती है। विरोधी दलों की आम राय में जो सत्य बिन्दु होते हैं उन्हें मान लेने में राजीव हिचकिचाते हैं।

द्विपक्षीय रोग

इस प्रक्रिया को अपनाने के अतिरिक्त ओर कोई उपाय पंजाब समस्या का समाधान नहीं देख सकता। वोट राजनीति निरपेक्ष, राष्ट्र सापेक्ष विचार और व्यवहार करने की जरूरत है। अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता के लिए मान्य वार्ता की यह द्विपक्षीय विधा देश का शरीर कमजोर कर रही है। इसी द्विपक्षीयता ने श्रीलंका में भी भारत की शांति सेना को उलझा रखा है। यदि भारत के राजीव के साथ श्री लंका के जयवर्द्धने, जाफना के तमिल और श्रीलंका के सिंहली प्रतिनिधि एक साथ बैठते, राजीव केवल मध्यस्थ होते सबका साझा समझौता होता तो भारतीय शांति सेना की वहां जरूरत ही नहीं पड़ती। भारतीय सैनिकों को तमिलों पर गोली न चलानी पड़ती। शांति सेना तमिलों के बचाव के लिए गयी थी। विनाश के लिए नहीं। मिजोरम में केवल लालडेंगा का ही पक्ष नहीं था। एक पक्ष वह भी तो था जो सशस्त्र विद्रोह का विरोधी था और अपने इस विरोध का संत्रास बीस वर्ष से झेल रहा था। यही द्विपक्षीय प्रक्रिया दार्जिलिंग गोरखालैंड के विषय में भी अपनायी जा रही है। घीसिंग ज्योति बसु वार्ता का एकमात्र अर्थ है, अलग गोरखालैंड की स्वीकृति।

दार्जिलिंग की समस्या को सुलझाना है तो बात करनी ही होगी। लेकिन केवल घीसिंग से ही नहीं, उस उपेक्षित और मौन प्रतिकार करने वाले पक्ष से भी जो घीसिंग के अलगाववाद का पक्षधर नहीं है। इस पक्ष को भी तो कुछ कहना है इसकी भी सुनी जानी चाहिए। भले ही वह कम मुखर नहीं है। यह मौन पक्ष कुछ कम सार्थक नहीं होता। इसकी संवेदनाओं के कारण ही आन्तरिक कलह गृहयुद्ध का रूप नहीं ले पाती। देश में केवल आन्दोलनकारी आतंकवादी और अलगाववादी ही नहीं रहते। केवल वह

ही देश या किसी क्षेत्र विशेष के प्रतिनिधि नहीं होते। समस्याएं सुलझाने का यह तुरत फुरत सतही रास्ता उचित नहीं है। समस्या का समाधान या किसी समस्या को सुलझाने के लिए समय दृष्टि का होना आवश्यक है। टुकड़े टुकड़े में उसकी ओर देखेंगे तो टुकड़े ही हाथ लगेंगे। टूटन को बल मिलेगा। खण्डित दृष्टि में अखण्डता को देख पाने की रोशनी नहीं होती। बिखरा हुआ विचार एकात्म बोध प्रदान नहीं कर सकता। सीमित निहित स्वार्थ ओर तात्कालिकता में दूरगामी सर्वमान्य समाधान प्रदान करने का सामर्थ्य नहीं होता। पंजाब को केवल पंजाब ही नहीं केवल अकाली सिख गुट ही नहीं, सम्पूर्ण देश के परिप्रेक्ष्य में देखेंगे तो ही किसी सार्थक समाधान पर पहुंच पायेंगे। अन्यथा हर वार्ता और समझौते के बाद हत्या का नया दौर चलता रहेगा—केवल पंजाब ही नहीं, पूरे देश में भी।

14 फरवरी 1988

परिवर्तन और विकल्प का एकमेव मंत्र

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघ चालक श्री बालासाहब देवरस कहते हैं कि देश की समस्याओं का समाधान सामान्य मनुष्य करेगा, देश को विकल्प आम आदमी प्रदान करेगा तो इस अपूर्व अवधारणा पर सहसा विश्वास नहीं होता। देश के विशिष्ट और सामान्य जन अपने आस पास किसी नेता या संस्था की तलाश करने लगते हैं। कहां है वह नेता और संस्था जो उनका नेतृत्व करे। यह सोच अपने आसपास के तीन फुट के वृत्त के बाहर न देख पाने की अक्षमता की देन है। सामने बैठे कुछ व्यक्तियों के कर्तव्य कुशलता और अकुशलता को ही आधार मानकर भविष्य की सोचेंगे तो वे समस्त कर्तव्यवान व्यक्ति आंखों से ओझल हो जाएंगे जो परिस्थिति को परिवर्तित कर सकते हैं। जिनका नेतृत्व कृत है, उसे क्यों नहीं देखा जाता ?

श्री देवरस ने जिस सामान्य मनुष्य में विश्वास व्यक्त किया है वह और कुछ नहीं लोकचेतना और लोकशक्ति की ओर संकेत है। अच्छा होता देश के बुद्धिजीवी इस सामान्य मनुष्य में निहित लोकशक्ति का शब्द भाष्य करते। लोकशक्ति और लोकचेतना का चिन्तन न करके व्यक्ति और संस्था का चिन्तन किया जा रहा हैं कि सत्तापक्ष में राजीव नहीं तो फिर कौन ? विपक्ष में चन्द्रशेखर, रामाराव, ज्योति बसु, कर्पूरी ठाकुर, लालकृष्ण आडवाणी और अटलबिहारी वाजपेयी नहीं तो फिर कौन ? यह बंधी बंधायी यथास्थितिवादी सोच है। इसमें कुछ नया करने, कोई नई धारा निर्माण करने की ऊर्जा नहीं है।

परिभाषा

श्री देवरस के सामान्य मनुष्य की असामान्य शक्ति और चेतना का भाग्य समय समय पर किया जाचुका है। लोकचेतना ने लोकशक्ति की परिभाषा कर्म के शब्दों में लिखी है। इसके उदाहरण देश में भी हैं और विदेश में भी। ताजा उदाहरण है महेन्द्र सिंह टिकैत का। दो वर्ष पूर्व कौन जानता था टिकैत को ? टिकैत किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में पढ़े बुद्धिजीवी नहीं है। वे सार्वजनिक जीवन में किसी खानदानी विरासत के वारिस नहीं हैं। उन्हें किसी स्थापित संस्था या संगठन का आधार और समर्थन प्राप्त नहीं है। प्रचार का कोई तंत्र उनके पास नहीं है। पोस्टर और पर्चे तक नहीं बंटे। किसी राजनीतिक दल और स्थापित नेता से सहायता नहीं मांगी। अपनी मांगे पूरी करने के लिए सत्ता के दरबार में दांत के नीचे तिनका दबाकर गिड़गिड़ाये नहीं। सरकार और सत्ता समाज का बंधक बन गई। टिकैत किसी से मिलते नहीं

किन्तु हर एक आदमी चाहता है कि वह टिकैत से मिले। इन मिलने वालों मे राजनेता भी हैं, पत्रकार और बुद्धिजीवी भी। सत्ता राजनीति के धुरंधर अपना समर्थन देने की बात करते हैं तो वे उन्हें साफ साफ बता देते हैं कि किसान आंदोलन में शामिल होना है तो अपना राजनीतिक चोगा उतार कर आओ। महाराष्ट्र के किसान नेता शरद जोशी से लेकर राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह और चरणसिंह की पत्नी गायत्री देवी तक को उन्होंने यही कहा। मेरठ किसानों का तीर्थ बन गया है। वहां जाने, शहीद किसानों को श्रद्धांजलि अर्पित करने में तीर्थयात्रा और देवपूजा का अहसास सबने किया ? यह लोकशक्ति की अभिव्यक्ति का चमत्कार नहीं तो और क्या है कि दो दो बार मानसिक चिकित्सालय में मनोविकार की चिकित्सा कराकर आए महेन्द्र सिंह टिकैत को 'महात्मा' की उपाधि देकर लाखों ने गर्व का अनुभव किया। महेन्द्र को महात्मा की उपाधि सरकार और सत्ता पुरूष ने नहीं, समाज और लोकचेतना ने दी। सभी राजनेता राजनीतिक दल लोकशक्ति और लोकचेतना की कोख से जन्मे टिकैत के व्यक्तित्व के सामने बौने बन गए।

अनेक आंदोलन

यह कार्य पहली बार नहीं हुआ है। सत्तर और अस्सी के दशक में लोकशक्ति की यह अभिव्यक्ति अनेक बार हुई। लोकचेतना कई बार स्थापित नेताओं, बुद्धिजीवियों और विचारकों को हतप्रभ कर चुकी है। 1973-74-75 में गुजरात नवनिर्माण बिहार से आरंभ लोकनारायण जयप्रकाश नारायण की संपूर्ण क्रांति और केरल में निलक्कल आंदोलन इतने पुराने नहीं हुए हैं कि शोध करके इतिहास के पन्नों से प्राप्त किया जाये। राष्ट्रीय एकात्मता यात्रा, गुजरात में भारतीय किसान संघ का सफल आंदोलन रामजन्मभूमि मुक्ति यज्ञ, असम के छात्रों का आंदोलन, पचास के दशक में केरल की कम्युनिस्ट सरकार के विरूद्ध जन आंदोलन लोकशक्ति और लोकचेतना का मूर्त्त रूप है। मात्र 1974-75 तक चला संपूर्ण क्रांति आंदोलन अपवाद था जिसे जयप्रकाश जैसे स्थापित नेता का नेतृत्व प्राप्त था। शेष आंदोलन में किसी नेता की खोज सहसा सफल नहीं हुई। गत वर्ष गुजरात में हुए किसान आंदोलन के नेता की खोज अभी तक सफल नहीं हुई। जबकि आंदोलनों के इतिहास में वह एकमात्र ऐसा आंदोलन था जिसकी सभी तीस मांगें सरकार को माननी पड़ीं।

विदेशों के उदाहरण

इस प्रकार के उदाहरण विदेशों में भी हैं। फ्रांस की मुक्ति की देवी जोन आफ आर्क कौन थी ? वह स्थापित और ज्ञात महिला नहीं थी। सर्वथा अज्ञात और इस ग्रामीण महिला का चमत्कार ही था कि फ्रांस ने मुक्ति की सांस ली। दूसरे महायुद्धों के बाद पूर्वी यूरोप के देशों में जो नेतृत्व उभरा वह सर्वथा अज्ञात ही था। उसकी बोली और व्यवहार मान्य परम्पराओं के अनुरूप नहीं था। स्थापित, ज्ञात और मान्य

नेता अप्रासंगिक हो जाते हैं तो समय उन्हें इतिहास के कूड़ेदान में फेंक देता है। तब लोकचेतना लोकशरीर में अद्भुत अपराजेय शक्ति का संचार करती है। समाज और सामान्य मनुष्य माने जाने वाले लोग अति सामान्य और भिखारियों की भांति पीछे पीछे चलने के लिए बाध्य हो जाते हैं। प्रचार और भाषणों से बनाई गई छवि को छिन्न होते देर नहीं लगती। छवि अर्थात छाया, छाया अर्थात अवास्तविक। वास्तविकता का सूर्योदय होता है। छवि छाया छिन्न हो जाती है।

आधुनिक भाष्य

आधुनिक होने या न होने के संदर्भ में इसी ओर देवरस का संकेत था । इसी का आधुनिकतम भाष्य किया है मेरठ में महेन्द्र सिंह टिकैत ने, स्वयंभूत किसान शक्ति ने, समर्पित लोकशक्ति ने, सत्ता निरपेक्ष सामाजिकता ने। यही सामान्य मनुष्य की शक्ति है। लोकशक्ति और चेतना जागती है तो वह अपने प्रतीक और प्रतिमान बना लेती है। आपातकाल के समय 1977 के चुनाव में भी वह चेतना प्रगटी थी। कोई एक दल और एक नेता न होते हुए भी लोकचेतना ने अन्यायी सत्ता को उखाड़ फेंका था। जनता सरकार पहले बनी,, जनता पार्टी बाद में, वह भी पूरी तरह बन नहीं पाई। जनप्रतिनिधि चुनकर आए तो जयप्रकाश कृपलानी के आसपास जमा हुए कि आप फैसला करें कि कौन सत्ता का संचालन करे। चाहते हुए भी वे जनप्रतिनिधि जयप्रकाश और कृपलानी की उपेक्षा नहीं कर सके। क्यों ? केवल इसलिए कि उस समय वे ही लोकशक्ति और लोकचेतना के प्रतीक थे। बाद में जो कुछ हुआ वह सबके सामने है। लोकचेतना का अनादर न किया होता तो 1980 में जनता पार्टी को पराजय का मुंह न देखना पड़ता। ये सत्ता से जुड़ी बातें हैं। लेकिन संदर्भ लोकशक्ति का ही है।

एकमेव मंत्र

महेन्द्र सिंह टिकैत के आंदोलन का यह संदेश गांठ बांध लेने लायक है कि समाज और देश को बदलना है तो स्थापित नेतृत्व और प्रसारित छवि की परिक्रमा न करके आम आदमी की चेतना जगाएं, उससे जुड़ें। सामान्य मनुष्य पर भरोसा रखें। वही सामान्य मनुष्य देश में परिवर्ततन ला सकता है। जिसे जगाने सा आह्वान श्री देवरस ने किया है। परिवर्तन और विकल्प का यही एकमेव अनुष्ठान और मंत्र है।

21 फरवरी 1988

यह सच देश को बताया नहीं जाता

भारतीय संसद का बजट सत्र चल रहा है। यह सत्र देश के शरीर का एक्सरे होता है। इस सत्र में जनजीवन के प्रत्येक पहलू पर विचार किया जाता है। सरकार आंकड़े देती है, आर्थिक, शैक्षणिक, सामाजिक आदि विकास का। विधि व्यवस्था की स्थिति नियंत्रण में होने और स्वच्छ और कुशल प्रशासन का। विपक्ष सरकारी दावे पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। दोनों पक्षों के तर्कों और तथ्यों के बीच जो स्वीकार नहीं किया जाता वही सच होता है। उस सच का सामना करने से सरकार कतराती है तो विपक्ष भी ईमानदारी से सामने नहीं आता। सत्ता पक्ष और विपक्ष के बीच का भूखण्ड है भारत देश। भारत राष्ट्र की जिन्दगी का सच वहां सशरीर बैठा है। गरीब, उपेक्षित, किसान, शोषित कृषि, मजदूर, कर्मकार, औद्योगिक कर्मचारी, कर्जदार नागरिक, भ्रष्टाचार का दैत्य, अपना 'स्व' खोता जा रहा समाज, साक्षर अशिक्षित, बेरोजगार नवजवान, कटघरे में खड़ी नौकरशाही, अवसरवादी, कायर, चापलूस चिन्तक, काला बाजारी, तस्कर, हिंसक राष्ट्र शत्रु, आत्मप्रवंचक और देशवासियों के साथ धोखा करने वाले चतुर और 'व्यवहारकुशल' आदर्शहीन राजनेता इसी भूखण्ड पर रहते हैं। कहते हैं कि भारत देश यही है। शेष लोग इसके बाहर, इसके आसपास, इसके चारों ओर खड़े हैं। उनके कुछ तमाशबीन, कुछ तिकड़मबाज ओर कुछ कुछ न कर पाने के दुःख से दुखी लोग हैं। इसके अतिरिक्त जो और कुछ इस भूखण्ड के बाहर है वह है विदेशी मायाजाल अर्थात विदेशी कर्ज की चमक और विकास का मृगजाल। इस विद्युतीय विकास का बटन भारत के हाथ में नहीं किसी और के हाथ में है। वह जब तक चाहेगा विकास की बिजली जलेगी नहीं तो घुप अंधकार। देश पर एक लाख छः हजार करोड़ रूपये का विदेशी और देशी कर्ज है। प्रति व्यक्ति आय 2907 रुपये कर्ज 1700 रुपये। विदेशी कर्ज की ब्याज चुकाने के लिए कर्ज लेने की नौबत आ गयी है। जिस दिन कर्ज मिलना बन्द हुआ कि भारत की राजनीतिक आजादी बट्टे में खरीद लेंगे विदेशी। यह सच देश का बताया नहीं जाता। आर्थिक विकास के मृगजलीय स्वर्ग का गुलाबी सपना टूटेगा। तो देश संभवतः अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता खो चुका होगा। तब बंधुवा मजदूर की तरह विदेशी महाजनों के संकेत पर जिन्दगी जीने को विवश होंगे देशवासी। तब न रूस माफ करेगा न अमरीका। न अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को दया आएगी न विश्व बैंक को। भिखारियों और कुत्तों की तरह दुरदराए जाएंगे इस महान देश की महान परम्परा के वारिस देशवासी। तब वे अपने आत्मसम्मान

का वास्ता देने का अधिकार खो चुके होंगे। क्योंकि भिखारी का कोई आत्मसम्मान नहीं होता। उसके हाथ होता है भिक्षापात्र। उस पात्र में होती है घृणा और दया की भीख। विदेशी दया का पात्र बनाने की ओर बड़ी तेजी से ले जाया जा रहा है इस गौरवशाली देश को। आत्मनिर्भरता की अवधारणा को आत्महीनता चिढ़ा रही है। विदेशी बैंकों में जमा भारत का काला धन देश के परिश्रम, पसीने और ईमानदारी को चुनौती दे रहा है। काले धन की समानान्तर सरकार और अर्थव्यवस्था राजयक्षमा की तरह राष्ट्र शरीर को अशक्त बना रही है। यदि ऐसी ही स्थिति बनी रही कोई सार्थक बदलाव नहीं आया तो विदेशी या स्वदेशवासियों को भी अपना सिक्का अपने पास रखना पड़ेगा। अर्थहीन मुद्रा मिट्टी से भी सस्ती होगी। पूर्णरूप से निरूपयोगी। फिर एक ही रास्ता बचेगा। अराजकता और लूट। गृहयुद्ध और हत्या। मरता क्या न करता। कृश, कमजोर, और भूखे आदमी का निष्करुण हो जाना सहज बात है। देश के आम आदमी का संवेदनशील और निष्करुण होने का अर्थ है ममता और अपनत्व का अन्त। इस अन्त के परिणाम का भाष्य करने की आवश्यकता नहीं है। अभी करुणा ममता शेष है, अपने अपने स्तर पर इनके अभाव का अर्थ सभी लगा सकते हैं।

यह भयावह भविष्य काल्पनिक नहीं यथार्थ है। अभी संभलने का समय है, संभल गये तो अच्छा।

कौन संभले ?

किन्तु प्रश्न यह है कि कौन संभले। सत्ता प्रतिष्ठान उसके संचालक या समाज ? सत्ता प्रतिष्ठान और उसके संचालक स्वनिर्मित व्यवस्था ओर अपने चरित्र के बन्दी हैं। आज का भारत उनके ही चरित्र और कर्म का परिणाम है। उनके स्वतः बदलने का अर्थ है आत्मस्वीकृति। आत्मस्वीकृति के लिए चाहिए आत्मबल। यदि आत्मबल होता तो वे देश को बंधक बनाने वाला कर्म योजना और उपाय न करते। एक जून की रोटी खाते, आत्मसम्मान के साथ रहते। देश को आत्मनिर्भरता की ओर ले जाते। अपनी भूमि की उपज, अपने अन्न, रक्त और पसीने को अपने खेत में बीज, खाद तथा पानी के रूप में बार बार बोते। स्वदेशी खेती में विदेशी खाद पानी देकर भारतीय मन का संस्कार न बिगाड़ते। यदि बदल लाना है तो बदलना होगा समाज को। शुद्धता लानी है तो शोधन करना होगा राष्ट्र की मुख्यधारा का। आत्मसम्मान पाना है तो अपने आप्त पुरुषों का चरित्र अपनाना होगा। यदि भ्रष्टाचार, आत्महीनता, आर्थिक दिवालियेपन से मुक्त होकर अपने भाग्य का विधाता स्वयं को बनाना है तो देशवासियों को पुराणकालीन 'परशुराम' की तरह आज का परशुराम बनना होगा।

वर्तमान संदर्भ में अतीत के परशुराम की पुराण कथा पढ़ें और समझें। लिखा है कि परशुराम ने इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश किया था ? क्यों ? इसलिए कि उन्हें

किसी श्रेष्ठ सत्ता पुरुष की तलाश थी। वे जिस किसी को खोज करके लाते थे कुछ दिन बाद उस पर सत्ता मद सवार हो जाता था। सत्ता पुरुष में भोग विलास और चारित्रिक पतन बढ़ता तो परशुराम अपना परशु उठा लेते। ये कार्य तब तक करते जब तक उन्हें राम जैसा आदर्श सत्ता पुरुष नहीं मिला। राम के मिलने तक इक्कीस बार वे प्रलंयकारी परिवर्तन करते रहे। लेकिन राम के मिलते ही परशुराम ने अपना परशु फेंक दिया। विश्वासपूर्वक जंगल में चले गए कि अब राजा राम समाज को कष्ट मुक्त करेगा। मर्यादा और चरित्र का सम्मान ओर आचरण का आदर्श प्रस्तुत करेगा। राजा ओर राजतंत्र अपने सेवकधर्म का पालन करेंगे। परशुराम की कथा आज दिल्ली राज्यों की राजधानियों गांवों की पंचायतों और देश के कोने कोने में पढ़ी जाए। अपेक्षित परिणाम निकलने तक व्यक्ति और व्यवस्था बदलने का कार्य प्रारम्भ करने की जरूरत है। राम के मिलने तक पुराण पुरुष परशुराम की तरह देशवासी अपना कर्म करें और अपेक्षित परिणाम पाने तक लगातार करते रहें। यह कार्य सरल नहीं है। आलस्य, आत्मविश्वास, हीनता और परजीविता के प्रभाव से पीड़ित लोग यह कार्य नहीं कर सकते। दलीय और वर्गीय स्वार्थ से जुड़े मुद्दों पर तात्कालिक रूप से आन्दोलित होने वाले लोग दूरगामी और परिणामकारी परिवर्तन की अपेक्षा न करें। इसमें से तोप को मांग कर तमन्चा पाने जैसा परिणाम ही निकलेगा।

कऊन सा देस ?

देश की आजादी के चालीस वर्षों का गत सात आठ महीने से अनेक स्तरों पर विश्लेषण किया जा रहा है। खोया पाया का खाता बनाया जा रहा है। इसी प्रक्रिया में शामिल समाचार पत्रों ने विशेषांक निकालें। सरकार प्रचार कर रही हे। स्वाधीनता की दौड़ें आयोजित हो रही हैं। बुद्धिजीवी गोष्ठी कर रहे हैं। हर आदमी कुछ न कुछ सोच रहा है। सत्ता के गलियारे से दूर बैठे भारतवासियों की सोच को अभिव्यक्त करने का भी प्रयास किया गया। बम्बई के एक हिन्दी साप्ताहिक ने अपने छब्बीस जनवरी, 1988 के अंक में देश के विभिन्न भागों के लोगों से एक सवाल पूछा, 'आप क्या सोचते हैं आजादी के चालीस वर्षों के बारे में। इस सवाल के जवाब में वाराणसी के बासठ वर्षीय भगवानदास ने कहा, 'देश पहले नरक था, अब नरककुण्ड है।' राजस्थान के कपिलदेव गौतम बोले, 'देश दशा पर रोना आता है। जयपुर के बयासी वर्षीय हकीम इब्राहिम ने जवाब दिया, 'कभी कभी नींद नहीं आती।' वाराणसी के पचहत्तर वर्षीय उमाशंकर उपाध्याय का कहना है कि, 'पहले लड़ते थे अब गिड़गिड़ाते हैं।' वहीं के नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि अट्ठाईस वर्षीय विपिन ने प्रश्न के उत्तर में प्रश्न किया, 'आज की देश दशा देखकर ऐसा लगता है कि क्या इस देश में कभी गांधी भी हुए थे?' और अन्त में लखनऊ की कैसरबाग सब्जीमंडी में सब्जी बेचने वाले छब्बीस वर्षीय दिलीप ने दिल दहला देने वाला प्रति प्रश्न किया, 'कऊन सा देस ? कऊन देस

कै बात पूछत हैं आप। हम नाहि जानित देश वेस।'

कोई नरककुण्ड में है, किसी को रोना आता है, किसी को नींद नहीं आती, कोई गिड़गिड़ा रहा है, कोई गांधी के होने या न होने पर प्रश्नचिन्ह लगा रहा है और कोई यह जानता नहीं कि देश नाम की कोई चीज भी है भारत और हिन्दुस्तान नाम के इस भूखण्ड पर।

राजधानी के एक राष्ट्रीय दैनिक के व्यंग्य चित्रकार ने अपने व्यंगचित्र में देश की राजनीतिक व्यवस्था और सरकार संचालन पर सटीक टिप्पणी की। व्यंगचित्र में एक व्यक्ति अपने प्रधानमंत्री राजीव गांधी से पूछा रहा है, 'श्रीमन् ! यदि कोई व्यक्ति मुख्यमंत्री के रूप में असफल हो जाय तो क्या करे ?'

प्रधानमंत्री—'उसे केन्द्र में कैबिनेट मिनिस्टर बना दो।'

—'और यदि वह कैबिनेट मंत्री के रूप में भी असफल हो जाता है तो ?'

—'तो उसे मुख्यमंत्री बना दो।'

—'और अगर वह दोनों स्थानों पर असफल हो जाये तो।'

—'चिन्ता क्यों करते हो । तो उसे राज्यपाल बना दो।'

—''और यदि वह सभी जगह असफल हो जाय तो ?'

इस प्रश्न के उत्तर में प्रधानमंत्री राजीव उस व्यक्ति के सामने निरुत्तर मौन खड़े हैं—स्वयं प्रश्न बन कर। इस मौन को मुखर करने के लिए शायद अलग से टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

यह चर्चा यहीं विराम नहीं लेती। इस बहस में वयोवृद्ध राष्ट्र कवि सोहनलाल द्विवेदी भी शामिल हुए। वे कवि हैं। देश की आजादी की लड़ाई कविता कर्म, वाणी और व्यवहार दोनों से लड़े थे। द्विवेदी जी ने वर्तमान भारत राष्ट्र के शरीर का एक्सरे किया। सच मानिये एकदम पारदर्शी और बेबाक विश्लेषण कि

''हाहाकार मचा पग पग पर
धधकी महाउदर की ज्वाला।
नंगों भिखमंगों की टोली।
जपती दो टुकड़ों की माला।
देख खड़ा कंगाल सामने।
मन की सब साधें मुरझाईं।
तुम कहते हो गीत सुनाओ
आज रुद्ध है मेरी वाणी।'

'आजादी के चालीस वर्ष पर यह वयोवृद्ध स्वतंत्रता सेनानी राष्ट्रकवि काव्य टिप्पणी करता है—

''ये झूठी खुशियां और मनाओ आज नहीं
दिन आज खुशी का नहीं, दुःखी दिलवालों का।

पीछे झण्डा फहराना, ऐ झण्डेवालों
पहले जवाव दो, मेरे चन्द सवालों का।
आजादी तो आई, वरवादी गयी नहीं
पूरी न हुई वह आशा जो मन में पूजी
न्याय मिलेगा यों ही रिश्वत देने से ?
यह राज्य चलेगा कव तक रिश्वतखोरों से ?'

देश के सत्ता संचालक कैसा देश बनाना चाहते हैं ? इसका और नमूना देखिये। प्रधानमंत्री राजीव के तकनीकी सलाहकार साम पित्रोदा ने भोपाल में एकत्रित इंका के नौजवानों को देश निर्माण के लिए प्रेरित किया "आप हों और आपके हाथ में स्काच का गिलास भी हो तो मैं बुरा नहीं मानता।" गांधी और शराब का संयोग आधुनिक भारत के निर्माण का आधुनिकतम प्रयोग है। स्काच का गिलास हाथ में पकड़े हुए गांधी को आधुनिक भारत का आदर्श बनाया जा रहा है। बड़े ही सधे बंधे अन्दाज में। बहुत ही मासूम तरीके से।

यदि इस अंधकार से उबरना है तो जिस भूखंड पर यह देश खड़ा है पहले उस धरती पर उतरिये। उसके सत्य का सामना करिये। केवल सत्ता और चुनाव राजनीति का खेल ही देश कार्य नहीं है। परिवर्तन चाहिए तो परिवर्तन के अनुष्ठान में परशुराम की तरह शामिल होइए। राम की तरह राज्य का संचालन करने वाला सत्ता पुरुष या समूह प्राप्त होने और बापू के सपनों के राम राज्य की व्यवस्था बनने तक परिवर्तन का परशु उठाए रहिए, नहीं उठाए ही न रहिए, उसे चलाइए भी। यह भारत देश का उज्जवल भविष्य निर्माण करने का तकाजा है। अन्यथा परजीवी और बंधक जिन्दगी के अतिरिक्त देश की और दूसरी नियति नहीं होगी। संसद बजट पारित कर देगी, पक्ष विपक्ष में बहस भी हो जायेगी। किन्तु आर्थिक गुलामी के जिन्न को राजनीतिक आजादी और राष्ट्रीय अस्मिता को अपना आहार बनाने से रोका नहीं जा सकेगा।

6 मार्च 1988

सिंहासन खाली करो......

तेईस फरवरी को वामपंथी रैली। नौ मार्च को लोकदल भाजपा का संयुक्त जनप्रदर्शन। बारह मार्च को इन्दिरा कांग्रेसियों द्वारा दाण्डी मार्च कार्यक्रम। पन्द्रह मार्च को भारत बन्द का आयोजन। इन सबके अपने अपने संदेश हैं। उनके आयोजकों के अपने अपने इरादे हैं।

वामपंथी अपने वर्चस्व में जन आन्दोलन चला कर आक्टोपस की तरह सभी राष्ट्रीय लोकतांत्रिक शक्तियों को सोख लेना चाहते हैं। वैचारिक छुआछूत की दुर्गन्ध और भ्रम फैलाकर राजीव को तब तक सत्ता में बनाये रखना चाहते हैं जब तक वे स्वयं केन्द्रीय सत्ता के सूत्रधार नहीं नियन्ता बन जायें। भाजपा-लोकदल सबको साथ लेकर, सबके साथ देशव्यापी संघर्ष की भट्टी में तपा हुआ साझा सोच निर्माण करना चाहते हैं कि इस विविधतापूर्ण भारत राष्ट्र में विचार और कर्म की एकसूत्रता बनाई जा सके। इन्दिरा कांग्रेसियों द्वारा गांधी जी के नमक सत्याग्रह हेतु अट्ठावन वर्ष पूर्व 12 मार्च को की गई दाण्डी मार्च की स्मृति जगाने पर विश्वनाथ प्रताप सिंह ने सही टिप्पणी की है कि 'देश की दंडी मारने वाले अब दाण्डी यात्री बन रहे हैं। नमक हरामी करने वाले नमक बनाने का ढोंग कर रहे हैं। जबकि नमक बनाने का अधिकार केवल उनको होता है जो नमक हलाली करें। नमक बनाने और दाण्डी यात्रा करने के पहले प्रधानमंत्री को चाहिए कि वे देश का नमक हलाल करें। गांधी जी ने विदेशी नमक का विरोध किया था लेकिन प्रधानमंत्री के दोस्त विदेशी संगमरमर की कोठी बनवा रहे हैं। राजीव जी बापू की नकल करने का ढकोसला करते हैं। क्या बापू उनकी तरह ढाई लाख के पलंग पर सोते थे ?'

किन्तु आज से तेरह वर्ष पूर्व 6 मार्च 1975 को भी दिल्ली के वोट क्लब पर प्रदर्शन हुआ था। वह इन सभी प्रदर्शनों से विराट था। उस प्रदर्शन की दिशा इन प्रदर्शनों से अधिक स्पष्ट थी। उसका संकल्प अधिक प्रबल और प्रखर था। उसका नेतृत्व भी अधिक विश्वसनीय था। तब उस मंच पर लोकनायक जयप्रकाश नारायण विराजमान थे। मंच और कार्यक्रम का संचालन नानाजी देशमुख कर रहे थे। तब भी मंच के पार्श्व भाग में राष्ट्र कवि दिनकर की यही पंक्ति लिखी थी कि—'सिंहासन खाली करो, जनता आती है।' तब लोगों को लगा था कि अब कुछ होकर रहेगा। परिवर्तन होगा। संपूर्ण क्रांति की अग्नि ज्वाला धधकेगी। भ्रष्टाचार भस्मीभूत होगा। कोई कुन्दन सा तपी व्यक्ति नया नेतृत्व देगा। देश की तकदीर बदलेगी। आग जली।

अंधकार छटा। सत्ता बदली, किन्तु समाज नहीं बदला। देश की तकदीर की बात कौन करे। जो जनता भ्रष्टाचारियों से सिंहासन खाली कराने आई थी उसने सिंहासन खाली तो करा लिया लेकिन देश की तकदीर में कोई अन्तर नहीं आया। वह इतना अधिक निराश हुई कि ढाई साल बाद फिर उसी अहंकारी, भ्रष्ट और एकाधिकारी व्यक्ति को मतदान द्वारा प्रतिक्रांति करके सत्ता सौंप दी।

तब और अब

तेईस फरवरी, नौ मार्च और पन्द्रह मार्च 1988 के आयोजन के विषय में 6 मार्च 1975 के आयोजन के संदर्भ में सोचें। आज की परिस्थिति तब की तुलना में बहुत अधिक गंभीर है। भ्रष्टाचार के प्रति अब तब जैसी घृणा नहीं रही। लोकतांत्रिक संस्थाओं की गरिमा पर अवमानना और समर्थता की काली छाया मंडरा रही है। राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन में मर्यादा नाम की कोई चीज अब रही नहीं। शील और शालीनता को मध्ययुगीन शब्दकोष को शब्द और सोच बताया जाने लगा है, चरित्र और विश्वास का संकट इतना अधिक घना है कि अब यह विश्वास ही नहीं होता कि चरित्र और विश्वास नाम का कभी कोई विचार भाव रहा होगा। देश का प्रधानमंत्री भयादोहन का शिकार है। किसी भी दिन कोई भी विदेशी और उनका अपना स्वदेशी साथी उनके साथ ब्लैकमेल (भयादोहन) करके इस देश की संप्रभुता को संकट में डाल सकता है। भूख और इतनी बहुआयामी हो उठी है कि शायद सब कुछ निगल जाने के बाद भी वह तुष्ट न हो। विराट भारत पूरी तरह बौनों से घिरा हुआ है।

लेकिन तब ऐसा नहीं था। तब परिस्थिति इतनी नहीं बिगड़ी थी। तब नेतृत्व का इतना बड़ा अकाल भी नहीं था। तब भ्रष्टाचार प्रधानमंत्री की देखरेख में तो चलता था किन्तु वह स्वयं और सीधे भ्रष्टाचार में शामिल नहीं था। तब देश की बूढ़ी हड्डियों में बल था। तब उसकी मिचमिचाती आंखों में ज्योति थी। तब भरोसा था। विश्वास था। हो सकता है तब इसी कारण तब की भयंकरता का भय कम रहा हो। कुशल और विश्वसनीय केवट हो तो नाव चाहे अंधड़ में हो या मंझधार में नाव पर सवार लोगों को चिन्ता नहीं होती। जिन्दगी और मन का पंछी आश्वस्त रहता है कि किनारा मिल ही जायेगा। नाव मंझधार को पार कर ही लेगी। लेकिन अब ऐसा नहीं है। जिनकी गोद में हमारा गला है वे ही गलकटिए भी हैं।

मंच और जनता के बीच का अंतर

मंच पर बैठे नेताओं और मंच के सामने बैठी जनता के बीच तब और अब एक बहुत बड़ा अन्तर है। तब मंच और जनता के बीच की खाली जगह को 'विश्वास' भर देता था। अब वहां अविश्वास तैरता है। तब नेता जो कुछ कहता था जनता उसे ठीक ठाक समझती थी। वह यह भी मानती थी कि नेता अपने कहें का अर्थ और परिणाम

समझता है। वह जनता के बीच रहता और उसके साथ साथ चलता था। उसके आसपास मंडराता नहीं था। इन रैलियों मे कुछ ऐसे लोग तो थे जिन्हें अपने अपने क्षेत्र का विश्वास प्राप्त है किन्तु ऐसे लोग दिखाई नहीं दिए जिन्हें संपूर्ण देश का विश्वास प्राप्त हो। प्रत्येक नेता स्वयं को जनता से अलग करके बोला। अर्थात 'देश की परिस्थिति खराब है, आप सुधारिए। भ्रष्टाचार है आप सुधारिए। भूख, बीमारी, गरीबी है, इनसे आप लड़िए। विकल्प नहीं है। तो विकल्प आप दीजिए। विकल्प हम नहीं, आप हैं। प्रधानमंत्री देश के सम्मान का सौदा कर रहे हैं, उन्हें सजा आप दीजिए। सब कुछ हैं आप। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान निर्गुण परमात्मा के सगुण रूप हैं आप अर्थात जनता।' जनता में जनार्दन तत्व और नर के नारायण रूप का उन्हें अहसास है कि नहीं मैं नहीं कह सकता लेकिन परीक्षा के समय परिणाम के भय से पीड़ित परीक्षार्थी की तरह हनुमान मन्दिर जाकर मारुति की परिक्रमा और संकट मोचन को प्रसाद मानने का तरीका तो इन सबने अपना ही रखा है। मन में भेद, मुंह में भजन जैसी बात जनता ओर नेता के बीच चल रही है। गए बीते विद्यार्थी से भी गए बीते हैं नेता। बेचारा विद्यार्थी कम से कम इतना तो कह देता है कि हे पवनसुत ! हे संकटमोचन !! मुझे पास कर दो मैं तुम्हें प्रसाद चढ़ाऊंगा।' इनमें इतना भी साहस नहीं कि ये यह कह सकें कि आप (जनता) मुझे अपना आशीष दीजिए कि मैं विकल्प बन सकूं। मैं और मेरा दल आपके सामने है। हम सेवा करने के लिए रात दिन प्रस्तुत हैं। हमें स्वीकार करके सेवा का अवसर दीजिए।' किन्तु जब यह कहने का अवसर आता है तो ये लोग न जाने क्यों कतरा जाते हैं। कहते हैं, 'विकल्प की बात बेमानी है। और यह भी कहना बेमानी है कि देश में कोई राजनीतिक विकल्प नहीं है। विकल्प है और वह विकल्प हैं आप। इस देश की जनता। हम भारत के लोग।' भाववाचक संज्ञा को कर्मकारक बनाने का यह अद्‌भुत तरीका है। विकल्प जनता होती है क्या ? विकल्प जनता नहीं होती। विकल्प जनता में से उभरता है। रत्नों में सागर नहीं होता, सागर में रत्न होते हैं, इसलिए वह रत्नाकर है। सागर के रत्न की तरह समाज के जो रत्न मंच पर बैठे होते हैं वे स्वयं को राष्ट्रमाता के गले का वैकल्पिक आभूषण बनाने या बताने से घबड़ाते, हिचकिचाते या शर्माते क्यों हैं ? वे अपने सामने बैठे साक्षात जनार्दन के सम्मुख क्लीव अर्जुन की तरह नपुंसक भाव से गिड़गिड़ाते क्यों हैं, परिवर्तन के महासमर के सूरमा का दायित्व वहन करने में उनका शरीर कांपता क्यों है ? आधे अधूरे मन का समर्पण और निर्वीर्य की आराधना अर्थहीन होती है। अर्जुन को दुर्योधन के दुःशासन का विकल्प प्रदान करना था तो उसे युद्ध करने का निश्चय करना पड़ा था। तभी धर्मराज विकल्प बने थे। विरोधी दल जनता से आशीष तो मांगते हैं लेकिन वह जनार्दन अपना आशीष किसे दे, यह नहीं बताते। अपनी आकांक्षा छिपा कर 'दैव' की निःस्वार्थ आराधना करने का आडम्बर करते हैं। भारतीय राजनीति में विकल्प न उभरने की यही विडम्बना हे। साहसहीन,

पाखण्डपूर्ण प्रलाप और आधे अधूरे प्रयास में से विकल्प कैसे उभरेगा ?

बिगड़ते समीकरण

एक के बाद दूसरी रैली के बीच के विश्राम के समय विकल्प बनाने की कसरत की जाती है। कुछ दल एक साथ बैठते हैं। विलय और विसर्जन की बात करते हैं। बात पूरी भी नहीं हो पाती कि उसमें बल पड़ जाते हैं। बात में बल पड़ जाने का अर्थ होता है उसका टूट जाना। बात टूटती है तो दिल और दल दोनों टूटते हैं। गठबंधन टूटते हैं। समीकरण बिगड़ते हैं। और रहा सहा विश्वास भी मिट जाता है। कुछ दिन, विश्राम कर फिर एक रैली और फिर गठजोड़, विलय और विकल्प बनाने का अर्थहीन सिलसिला। यही है विकल्प की तलाश का गत दो दशकों की भारतीय राजनीति में विरोधी दलों का इतिहास और चरित्र। यह इतिहास और चरित्र नहीं बदलेगा तो विकल्प नहीं मिलेगा। रैलियां चाहे जितनी और चाहे जितनी बड़ी क्यों न की जाएं।

सूत्र की परीक्षा

विकल्प का बिन्दु दलीय एकता नहीं, मन या संकल्प है। यह संकल्प जिस किसी व्यक्ति या दल के माध्यम से अभिव्यक्त होगा उसे ही विकल्प बनने का सौभाग्य और सुअवसर प्राप्त होगा। उसी के सिर पर जनता जनार्दन अपने आशीष का राजमुकुट बांधेगी। इस सूत्र की परीक्षा हरियाणा, आंध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल और पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों में की जा चुकी है। विकल्प प्राप्त या प्रदान करने के लिए लालायित विराधी दलों के नेता इस मुद्दे पर विचार क्यों नहीं करते कि विलय और एकता के कारण वह वहां जीते थे कि इसका मर्म कुछ और था। श्री अटल बिहारी वाजपेयी के इस कथन में सार्थकता है कि विकल्प जोड़ तोड़ में से नहीं संकल्प में से जन्मेगा। लेकिन इसी के साथ यह सवाल भी जुड़ा हुआ है कि वह संकल्प है कहां ? पहले संकल्प की तलाश करें फिर विकल्प प्राप्त करने का प्रयास। रही दलीय एकता की बात। तो इस समय यह बात अकारथ होगी। एकता की पहली शर्त है — एक ऐसे हिमालय सरीखे व्यक्तित्व का होना जिसे जन विश्वास प्राप्त हो। जिसे सभी सहज भाव से अधिकांश में स्नेह और अल्पांश मे भय से स्वीकार कर ले। जिसके पास बैठकर प्रमुख राष्ट्रीय मुद्दों पर आम सहमति पर पहुंचा जा सके। जिसके निर्देशन में सामूहिक राष्ट्र यज्ञ अप्रतिहत चले, और उससे अलग होने का अर्थ अलग होने वालों के लिए सहज रूप में केवल आत्मनाश हो और कुछ नहीं।

राजनीति के क्षेत्र में आज ऐसा व्यक्ति और व्यक्तित्व नहीं है कि जिसका चरित्र असंदिग्ध और निर्मल हो, जो सत्ता निरपेक्ष रहकर सत्ता राजनीति की लड़ाई लड़े, जिसका नाम देश की वर्तमान दुर्दशा के गुनहगारों की सूची में शामिल न हो। जो अपने मान अपमान के लिए नहीं, राष्ट्र के सम्मान की रक्षा और उसके उज्जवल

भविष्य के लिए जूझे।

गांधी जी का नाम लें तो गांधी का तरीका भी अपनायें। गांधी ने अंग्रेजों और अंग्रेजी राज्य का विकल्प प्रदान करने के लिये कोई अखिल भारतीय आन्दोलन शुरू करने के पूर्व छोटे स्तर पर किसी क्षेत्र विशेष में उसका प्रयोग किया था। जनता की अन्तः शक्ति जगायी थी। बिहार का चम्पारण गुजरात का बाराडोली और दाण्डी मार्च सरीखे आन्दोलन इसके प्रमाण हैं। बाराडोली आन्दोलन में से सरदार पटेल, चम्पारण आन्दोलन में से विनोबा सरीखे लोग और दाण्डी मार्च में से देश की प्रभविष्णुता जन्मी थी। गांधी से जुड़ने का अर्थ है जमीन से जुड़ना। जमीन से जुड़ेंगे तो जनता से अपने आप जुड़ जायेंगे। 'दंडा' लेकर 'दाण्डी' की तरफ गांधी की तरह अकेले चलेंगे तो सारा देश जो जहां है वहीं से अपने आप पीछे पीछे चल पड़ेगा।

राजमुकुट धारण करने के लिए लालायित सिर तो बहुत हैं लेकिन वह मस्तक कहां है जिसके तेज से रत्नजड़ित राजमुकुट की चमक भी धूमिल पड़ जाय। अच्छा हो विकल्प के नेतागण एक होने की बात न करके एक साथ काम करने जूझने और संघर्ष करने का शुभारम्भ करें। संभवतः इसी में से विकल्प का कोई तावीज, मिल जाये। सहभागिता में से सह चिन्तन का जन्म होगा। सह चिन्तन में सैद्धान्तिक स्पष्टता आयेगी। सैद्धान्तिक स्पष्टता में से एकता भी प्रगट हो सकती है। विकल्प बनाने के लिये व्यक्तियों और दलों से लेकर नीतियों और व्यवहार के स्तर तक वैकल्पिकता का निर्माण करना होगा। इस विविधतापूर्ण समाज और राष्ट्र में से यह कार्य सहभागिता और सहचिन्तन ही संभव होगा। व्यक्ति विचार और दल का छुआछूत समाप्त होगा। इसी में से सहधर्मिता ओर समान कर्तव्यबोध प्राप्त होगा। जितना शीघ्र जितने अधिक लोग इस प्रक्रिया से जुड़ेंगे उतना शीघ्र और उतना ही सशक्त विकल्प बनेगा।

इन रैलियों ने विकल्प का मार्ग पहले से केवल कुछ अधिक चौड़ा बनाया है। क्षितिज पहले से कुछ अधिक स्पष्ट किया है। मंथन, आलोड़न, आत्मालोचन ओर प्रत्यालोचन की प्रामाणिक प्रक्रियाएं चलीं और धरती के यथार्थ का साक्षात्कार करने का सामर्थ्य रहा तो कोई सार्थक परिणाम अवश्य निकलेगा। जोड़ तोड़ की प्रक्रिया केवल विश्वास तोड़गी, अंधकार बढ़ायेगी, निराशा को जन्म देगी।

27 मार्च 1988

भविष्य के प्रति सहमा-सहमा देश

फरवरी, 1988 के अंतिम चरण में एक सुखद समाचार मिला तो कई दुःखद और चिन्ताजनक संकेत भी प्राप्त हुए। भारतीय वैज्ञानिक पृथ्वी से पृथ्वी पर मार करने वाला 'पृथ्वी' प्रक्षेपास्त्र बना लेने में सफल हो गए। ढाई सौ किलोमीटर की दूरी तक मार करने वाला यह प्रक्षेपास्त्र पूर्णतया भारतीय वैज्ञानिक प्रतिभा और तकनीक की देन है। अब भारत भी अमरीका, कनाडा, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, फ्रांस, जापान, चीन, इटली और सोवियत संघ की पंक्ति में खड़ा हो गया। वैसे तीसरी दुनिया के सात देश—मिस्र, नाइजीरिया, ब्राजील, अर्जेन्टीना, इस्राइल, कोरिया और पाकिस्तान भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। वे भी किसी भी समय इस प्रकार का प्रक्षेपास्त्र बनाने में सक्षम हैं। किन्तु उपलब्धि तो उपलब्धि ही होती है। भारतीय वैज्ञानिकों ने भारत का मान बढ़ाया है। वे निश्चित ही कृतज्ञ देशवासियों की बधाई के पात्र है। इससे राष्ट्रीय सुरक्षा व्यवस्था सुदृढ़ हुई है। देश ने आधुनिक सैनिक साज-सामान के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की ओर अपना पग बढ़ाया है। राष्ट्रजनों की कामना है कि यह बढ़ा हुआ कदम थमे नहीं, निरन्तर बढ़ता ही जाए।

वज्रपात

किन्तु देशवासियों के भाग्य में शायद विधाता ने सुख-लेख लिखने में बहुत ही कोताही से काम लिया है। एक छोटी सी खुशी का आभास होता है और उसके आनन्द की पूरी-पूरी अनुभूति भी नहीं हो पाती कि उससे कहीं बड़ा, बहुत बड़ा, वज्रपात हो जाता है। फरवरी का अंतिम सप्ताह राष्ट्रीय मानस पर एक ऐसी गहरी लकीर बना गया है जिसे मिटा पाना सहज संभव नहीं होगा। उस लकीर में ऐसे शब्द और कर्म जुड़े हुए हैं जिनका निहितार्थ है देश को किसी गंभीर संकट की भट्टी में झोंकने की तैयारी।

इस काल खण्ड में देश की छाती पर 'पृथ्वी' प्रक्षेपास्त्र से भी घातक प्रहार किये गये। वह अपने भविष्य के प्रति पूरी तरह सहम गया। वित्तमंत्री ने संसद में पूरी तरह कंपा देने वाला आर्थिक स्थिति का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया। टूट रही अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बताने की उनकी हर कोशिश ने आर्थिक आतंक और कंगाली की आशंका की भयानक तस्वीर उभारी। मुद्रा स्फीति अर्थात् रुपये के मूल्य में और अधिक गिरावट होने का संकेत दिया। रेलवे स्टेशन पर एक रुपये में एक कप चाय पीता यात्री कांप

उठा कि अब अपनी यात्रा में वह शायद चाय भी न पी सके। रेल का किराया—भाड़ा बढ़ाया गया तो घर से बाहर जा रहे लोग वापस लौट आये। डाक सामग्री और दूरभाष महंगा हुआ तो देशवासी घबड़ा गए कि अब तो अपने संबंधियों से पत्र-संपर्क तक कर पाना कठिन हो गया। कोयला, लोहा, पेट्रोल की कीमतें पहले ही बढ़ाई जा चुकी थीं कि इसी बीच उन्नीस फरवरी को केन्द्रीय बजट पेश हुआ। 6080 करोड़ का पुराना 7484 करोड़ का नया घाटा, 546 करोड़ के नये कर, विदेशी ऋण और ब्याज के भार से दबा भारत का नागरिक सिर पकड़ कर आंख मूंदकर बैठ गया कि अब इस तूफान से उसे भगवान ही बचाये।

लज्जास्पद घटना

आर्थिक अंधेरगर्दी और लोकतांत्रिक परम्पराओं का अपमान करते हुए फरवरी 1988 ने देशवासियों को अपना अंतिम प्रणाम कहा। तेईस फरवरी, 1988 को भारतीय लोकतंत्र का अब तक का सर्वाधिक लज्जास्पद इतिहास लिखा गया। इसी दिन शासक दल ने भारत के उपराष्ट्रपति और राज्यसभा के सभापति का अपमान किया। इसी दिन राज्य सभा में प्रधानमंत्री राजीव के दोस्त अमिताभ बच्चन से संबंधित श्री अटल बिहारी वाजपेयी ओर कैलाशपति मिश्र के सवाल का जवाब देने में राजीव के कांग्रेसी सांसदों ने हर संभव बाधा खड़ी की। शायद राज्ससभा और संसद के इतिहास में यह पहला अवसर रहा कि पूरे प्रश्न काल में एक ही प्रश्न पर चर्चा होती रही और कांग्रेसी सांसद यह प्रयास करते रहे कि किसी भी रूप में सच्चाई बाहर न आने पाये। पांचजन्य के पिछले अंक में प्रकाशित तेईस फरवरी को राज्यसभा में प्रश्नोत्तरकाल का आंखों देखा हाल इसकी पुष्टि करता है। श्री वाजपेयी का सवाल अन्त तक सवाल ही बना रहा। यह कहना शायद अधिक उचित होगा कि उनके सवाल का प्रत्येक जवाब अपने आप में नया सवाल बनता गया।

ऐसा क्यों हुआ?

क्या हो गया प्रधानमंत्री को? क्या चाहते थे इन्दिरा कांग्रेस के सांसद और मंत्री? किससे, किसका, क्या और क्यों कुछ छिपाना चाहते थे वे? सत्योद्घाटन के प्रति अपराधबोध का कारण क्या है? उन्हें भारत के उपराष्ट्रपति और राज्यसभा के सभापति का अपमान और अवज्ञा करने में लज्जा क्यों नही आई? सभापति डा० शंकरदयाल शर्मा महाभारतकालीन असहाय द्रोपदी की तरह चीखे, चिल्लाए भाव विह्वल हुए। उनकी आखें आंसुओं से भर आईं। वे हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाये। पद-त्याग करने की स्थिति तक पहुंच गए। किन्तु फिर भी राजीव और उनके साथियों को द्रया नहीं आई। ऐसा लगा जैसे दुर्योधन अपनी उपस्थिति में दुःशासन से द्रोपदी का चीरहरण करा रहा था। संसद की तौहीन और उसका शीलहरण किए जाने का यह घिनौना प्रयास क्यों? यदि बच्चन बंधु राजीव के मित्र हैं तो उनके सांसद, मंत्री और

सरकार इस सत्य को छिपाना क्यों चाहते हैं? और यदि वे राजीव के मित्र नहीं हैं तो स्वीकार क्यों नहीं करते? अमिताभ और अजिताभ बच्चन का राजीव का मित्र होना या न होना उनके लिए भारी क्यों पड़ रहा है? उनके चरित्र और कर्म को इंदिरा कांग्रेसी राजीव के चरित्र और कर्म से क्यों जोड़ते हैं? किसी मित्र को देशहित और संसद से बड़ा क्यों माना जा रहा है? यदि आंध्र की राज्यपाल कुमुद जोशी संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि से अधिक व्यय करके मर्यादा का उल्लंघन कर रही हैं तो संसद में इसका उल्लेख करने की अनुमति देने से कांग्रेसी घबड़ाते क्यों हैं? जो तथ्य आंध्र के गांव-गांव में छापकर बांटे जौर पढ़े जा रहे हैं उनकी चर्चा संसद में की जानी औचित्य और अनौचित्य की सीमा में कैसे आ गई? संसद द्वारा पारित प्रस्ताव के अन्तर्गत बनाई राज्यसभा में उसकी चर्चा और उसका उल्लेख किए जाने की अनुमति देने वाले सभापति को अपमानित करने के पीछे इरादा क्या है? प्रधानमंत्री की उपस्थिति में उनकी मौन स्वीकृति से मंत्री से लेकर सामान्य इंकाई सांसद तक ने उपराष्ट्रपति और सभापति को जलील क्यों किया?

सीमा चुक गई

कितने असहाय थे उस दिन भारत के उपराष्ट्रपति और राज्यसभा के सभापति डा० शंकरदयाल शर्मा। कितना भयंकर अपमान किया राजीव के वफादारों ने डा० शर्मा का? उनके शब्द इसके मुखर साक्षी हैं। सभापति जी दया की भीख-सी मांगते हुए बोले थे-"हाथ जोड़कर क्या मैं यह कह सकता हूं कि यदि कांग्रेस पार्टी, सत्तारूढ़ पार्टी यह तय करती है कि मैं इस पद के योग्य नहीं हूं तो मैं त्यागपत्र दे दूंगा। आप अपने नेता से विचार करके अपना निर्णय कीजिए।" कांग्रेसी सांसदों के व्यवधानों के शोर के बीच वह चीखते हुए बोले—"कृपया मेरी बात सुनिये। कोई दिक्कत नहीं है। मामला बहुत सरल है। राज्यसभा-लोकसभा में आपका बहुमत है। देश और आपके नेता के हित में क्या है उसका निर्णय आप कर सकते हैं। इस पद् पर बने रहने का मुझे कोई शौक नहीं है।.......आप यह क्या कर रहे हैं श्री चिदम्बरम। आप मंत्री हैं। यदि कोई साधारण सदस्य ऐसा करता तो मैं उसे नाम लेकर प्रताड़ित करता। हर चीज की हद होती है।"

परिवारवाद के नतीजे

सचमुच बात अब हद से बाहर निकल गयी है। केवल संसद में ही नहीं, हर क्षेत्र में। बूढ़े कांग्रेसी कमलापति त्रिपाठी से लेकर आम आदमी तक हर कोई शर्मिंदा और सहमा हुआ हे। इसकी एक झलक मिली सत्ताईस फरवरी को राजीव के संरक्षण में सुरेश कलमाडी द्वारा आयोजित स्वतंत्रता की मैराथन दौड़ के संदर्भ में। समाचार पत्रों और विरोधी दलों की प्रतिक्रियाओं को छोड़ दें, इंका कांग्रेसी सांसदों की प्रतिक्रियाओं को देखें। कई इंकाई सांसदों ने सहज भाव से इन पंक्तियों के लेखक से अपनी

अगल-बगल देखकर कहा-"यह आजादी की दौड़ नहीं, देश छोड़कर ससुराल भाग जाने का अभ्यास है कि भीड़ में शामिल होकर भागते—भागते किसी दिन भारत से भी भाग जायें। किसी को पता न चले और लोग समझें कि वह भारत के लिए भाग रहे हैं?" इस प्रकार के प्रसंगों पर कांग्रेसी सदैव अपना नाम छिपाता है। वह अपने कमरे में, अकेले में, अपने मन की बात सच-सच बोलता है और बाहर नेता की जय-जयकार करता है। यही कांग्रेसी-संस्कृति है। इसी कांग्रेसी पाखण्ड की सजा देशवासी भुगत रहे हैं। केवल देशवासी ही नहीं वे सभी कांग्रेसी भी जिनका चरित्र और कर्म सभी कुछ खण्डित है। जब पं० कमलापति त्रिपाठी संसद में सभापति के अपमान पर पं० जवाहरलाल का नाम लेकर रोते हैं तो उन्हें यह स्मरण नहीं रहता कि देश को किसी एक परिवार और व्यक्ति की जागीर और व्यापार बना देने का परिणाम यही होता है और इसमें उन जैसे उन तमाम कांग्रेसियों का हाथ है जो स्वयं या अपने बेटे-बेटियों के लिए पद और पैसा प्राप्त करने के लिए किसी भी सीमा तक गिर सकते हैं। कांग्रेसी चरित्र के संदर्भ में प्रतिष्ठा की चर्चा करना इसीलिए अप्रासंगिक हैं कि कांग्रेस संस्कृति में प्रतिष्ठा और प्रतिभा के लिए अब कोई स्थान ही नहीं हैं।

लोग कहते हैं कि यह सब इसीलिए हो रहा है कि राजीव और उनके सलाहकार आजादी के आन्दोलन की उपज नहीं हैं। यह आवश्यक और महत्वपूर्ण नहीं हैं कि कोई स्वतंत्रता संघर्ष की उपज है कि नहीं या देश-कार्य और निर्माण के लिए आजादी का योद्धा होना जरूरी है। काल-प्रवाह को कोई रोक नहीं सकता। स्वतंत्रता संघर्ष से जुड़े व्यक्तियों का सदा उपलब्ध होना संभव नहीं है। पुराने जायेंगे, नए आयेंगे। महत्वपूर्ण यह है कि क्या जो कुछ मान्य परंपराएं हैं उनका सम्मान सुरक्षित रहेगा कि नहीं? लोकतंत्र किसी दल की राजनीति और उसके नेता की आकांक्षा का बंधक बना रहेगा कि अपनी संपूर्ण गरिमा और प्रभाव के साथ चलेगा? पिछली भूलों और अच्छाइयों से सबक सीखा जायगा कि अच्छाइयों को अस्वीकार और भूलों को बारबार दोहराया जाता रहेगा। किसी परिवार और नेता द्वारा अपने प्रति किए गए उपकार और कृपा का प्रतिदान देने की ऋण मुक्तता के हीन और कृतज्ञ भाव से काम लिया जायगा। पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह की इस स्वीकारोक्ति से देशवासियों को गंभीर आघात लगा होगा कि मैंने अपने प्रति इंदिरा जी द्वारा किए गए उपकारों और अहसानों के बदले में राजीव को प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलाई थी और यदि ऐसा न करता तो इन्दिरा कांग्रेस बिखर जाती।" अर्थात् देश भले नरककुण्ड बन जाए, अपने प्रति अहसान अधिक महत्वपूर्ण है। यह फार्मूला केवल जैलसिंह पर ही नहीं कमलापति त्रिपाठी और उमाशंकर दीक्षित से लेकर नए कांग्रेसी पर भी लागू होता है। यही वह कांग्रेसी पाप है जिसका फल कांग्रेस ओर पापकर्मी कांग्रेसी ही नहीं सारा देश चख रहा है।

यह सब देख-सुनकर देशवासियों को दिल सचमुच दहल उठा है। बुद्धिजीवी

सन्नाटे में है। आम आदमी आसमान की ओर आंख लगाए हनुमान चालीसा पढ़ने लगा है कि संकटमोचन मारुति उसे संकट मुक्त करें। राजीव के समर्थक भी शर्मिन्दा, निराश और भयभीत हैं। अब यह पता लगा पाना सरल नहीं रहा कि कौन राजीव का समर्थक है और कौन विराधी?

कहते हैं आपत्तिग्रस्त ओर आहत मन पारदर्शी हो जाता है। वह अत्यन्त सहज भाव से सत्य की अभिव्यक्ति करता है। इसकी साक्षी में एक उदाहरण दूंगा। राजधानी से प्रकाशित सबसे बड़े हिन्दी दैनिक नवभारत टाइम्स के संपादक राजेन्द्र माथुर की वेदना का। यह वही राजेन्द्र माथुर हैं जिन्होंने राजीव को प्रधानमंत्री बनाये जाने पर बड़ी उमंग से अपने स्वहस्ताक्षरित लेख में लिखा था कि 'दुनिया के देश भारत आकर देख लें कि हमारे यहां वंशतंत्र और लोकतंत्र का कितना सुन्दर और सुखद समन्वय किया गया है।' उपराष्ट्रपति और राज्यसभा के सभापति डा० शंकरदयाल शर्मा का राजीव की देखरेख में इंकाई मंत्रियों और सांसदों द्वारा किए गए अपमान और उनकी अवज्ञा से आहत राजेन्द्र माथुर अपने अखबार में 'दिल्ली में धीमी आंच का तन्दूर' अग्रलेख में लिखते हैं—"पिछले साल इन्हीं दिनों राजीव गांधी ने अपने बर्ताव से राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह को नाराज कर दिया था और तब ज्ञानी जी को वह चिटठी लिखनी पड़ी थी जिसकी गूंज महीनों तक प्रधानमंत्री की नींद हराम करती रही। लेकिन 1987 के यातना वर्ष से कांग्रेस ने कोई सबक नहीं सीखा है। संसद का अधिवेशन शुरू होते ही उसने राज्यसभा में उपराष्ट्रपति को इतना तंग किया है कि डा० शंकरदयाल शर्मा को आंखों में आंसू भरकर इस्तीफा देने की बात कहनी पड़ी। जब लोकसभा में 400 से ज्यादा सीटें जीतने वाला शासक दल राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति की कद्र करने को तैयार नहीं होगा, तो प्रतिपक्ष को क्या गर्ज पड़ी है कि वह लोकतंत्र की किसी भी संस्था का सम्मान करे?"

"जर्मनी की राजधानी बर्लिन में 27 फरवरी, 1933 को संसद भवन अथवा राइखस्टाग मे आग लगा दी गई थी। यह घटना सारे संसार में लोकतंत्र के दहन का प्रतीक बन गई थी। हमारे राजनेता भी आज लगता है संसद को एक धीमी आंच वाला तन्दूर बनाने पर आमादा हैं, जिसमें से किसी दिन सेंका हुआ लोकतंत्र मुसल्लम ही बाहर आएगा।......जब संसद में बैठे लोग ही संसदीय शील की परवाह नहीं करेंगे, तो इस गाय के शील की रक्षा कौन सी ताकतें करेंगी?"

डा० शंकर दयाल शर्मा की कांग्रेस-निष्ठा पर आज भी किसी ने प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया है। वे मुख्यमंत्री, केन्द्रीय मंत्री, राज्यपाल, कांग्रेस-अध्यक्ष सब कुछ रह चुके हैं। ऐसे नेता का सभापतित्व यदि शासक-दल को भारी पड़ रहा है। तो नतीजा यही निकाला जा सकता है कि कांग्रेस को उपराष्ट्रपति ऐसा चाहए जो रबर की मुहर हो और जो प्रतिदिन बेईमान पक्षधरता के साथ राज्यसभा को संचालित करे। डा० शर्मा ने अपने पद की गरिमा अक्षुण्ण रखने के लिए जो काम अपने वृद्ध वर्षों में किया है

वह झुकी हुई रीढ़ वाली आज की कांग्रेसी संस्कृति के बीच लगभग अविश्वसनीय लगता है। लेकिन लोकतंत्र बचेगा तो ऐसे ही लोगों के कारण बचेगा।

एक अंतिम बात और। कांग्रेस की तरफ से जब शाम को माफी मांगी गई तो मंत्रियों ने आग्रह किया कि सुबह की सारी कार्रवाई को रिकार्ड से निकाल दिया जाए। क्या यह हैरतअंगेज बात नहीं है कि पहले आप उपराष्ट्रपति का अपमान करें और फिर उनसे ही आग्रह करें कि हमारा कलंक कृपया इतिहास में दर्ज न किया जाए। लोकतंत्र को आप प्रेशर कुकर में रखें, लेकिन फिर कहें कि लोकतंत्र का जो भुर्ता बना है उसे भूल जाइए।

इस प्रकार के अग्रलेख और प्रतिक्रियाएं और भी हैं। सभी प्रतिक्रियाएं लगभग इसी प्रकार की है। इस अग्रलेख से संसद के अपमान और देश के शरीर का ताप इसलिए नापा जा सकता है कि उसके लेखक कांग्रेसी-संस्कृति के पक्षधर हैं। इसी अखबार के व्यंग्य चित्रकार ने सत्ताईस फरवरी को हुई "स्वतंत्रता की महान दौड़" पर अपने व्यंग्य चित्र द्वारा यह टिप्पणी की थी कि "हम तो केवल रेंग सकते हैं, दौड़ नहीं सकते।" देशवासियों को उत्सवों में उलझाकर, वास्तविकताओं को झुठलाया जा रहा है। क्योंकि इसी दौड़ के समय और इसी के साथ-साथ जनपथ पर एक दौड़ भूखों की भी हुई थी। वे लगभग दो सौ भूखे बंदी बना लिए गए थे। राजपथ के राजकीय आयोजन के शोर में इन भूखों की कमजोर आवाज किसी ने नहीं सुनी। सुनते कैसे? राजीव सहित सभी लोग भागे जा रहे थे। ठहरते तो सुनते। लेकिन ठहरते क्यों? ठहरते तो सच्चाई का सामना करना पड़ता, जबकि वे इस सच्चाई से ही तो भाग रहे थे। भागने का एक कारण और भी था कि यदि अमरीका और जापान के लोग भाग सकते हैं दौड़ सकते हैं तो भारत के लोग भी क्यों न भागें? यदि वे दस हजार की संख्या में भागते हैं तो हम एक सौ पचास हजार की संख्या में भागेंगे। कम से कम भागने वालों की सूची में तो महाशक्ति के रूप में भारत का नाम दर्ज कराया ही जा सकता है।

1988 का अभी दूसरा महीना ही बीता है। इस साल के अभी दस मास शेष हैं। वर्ष के अन्त में किसी समुद्री द्वीप या पर्वत शिखर पर राजीव के मित्र अवकाश मनाने जाते समय तक और क्या-क्या घटेगा इसका संकेत मात्र है यह। तब तक देशवासी रेंगने लायक भी रहेंगे कि नहीं कुछ कहा नहीं जा सकता। तब तक संसद और लोकतंत्र की कितनी सांसत हो चुकी होगी, तब तक राजीव के मित्र कितने आश्वस्त हो चुके होंगे, तब तक सत्ता के दलाल और कमीशन खोर कितने सम्मानित हो चुके होंगे, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। इस संबंध में निश्चित रूप से कही गयी हर बात गलत सिद्ध हो सकती है कि कोई कुछ कहने लायक रहे ही नहीं कि सबकी वाणी बन्द और लेखनी कैद हो चुकी हो।

13 मार्च, 1988

'पूत के पांव' का छाती–प्रहार

देशवासी अपने पूत प्रधानमंत्री राजीव के पांव पालने में नही देख पाये थे तो गलती पूत की नहीं, उसे न देखने के लिए मन बना चुके देशवासियों की थी। लेकिन अब 'पूत' ने अपना पांव पालने के इतना बाहर निकाल दिया है कि उसे साफ-साफ देख पाने में कोई बाधा नहीं है। अब कोई यह नहीं कह सकेगा कि उसे पूत के इरादों का पता नहीं था। अब तो सीधे-सीधे जिन्दगी पर बन आई है। अब आजादी का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। राजीव ने नोटिस जारी कर दिया है कि ईश्वर ने जिन्दगी भले दी है किन्तु जीने का अधिकार अब उनकी दया का दास होगा।

देशवासियों के जीवन, जन-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति के अधिकार का अपहरण करने का बहाना बनाया गया है पंजाब की बिगड़ती स्थिति को। इसी बहाने संविधान में उनसठवां संशोधन किया गया, जिसका स्पष्ट अर्थ है जीने का अधिकार, जन-स्वातंत्र्य देश के किसी भी भाग में आने-जाने और विचार-अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य का अपहरण। अब संविधान की 19 वीं और 21 वीं धारा अप्रभावी हो जाएगी। सरकार जिसे जब चाहेगी गोल मार देगी। जेल में डाल देगी। लिखने, बोलने और प्रचार पर प्रतिबंध लगा देगी। और इस अत्याचार के विरुद्ध कोई न्यायालय का द्वार भी खटखटा नहीं सकेगा।

ऊपर-ऊपर से देखने में संविधान का यह 59 वां संशोधन बहुत ही मासूम लगता है। देशभक्ति से परिपूर्ण राष्ट्रीय अखंडता, एकता और आजादी का पहरेदार। दावा किया जा रहा है कि इस उपाय से पंजाब में आतंकवाद समाप्त किया जा सकेगा। इस प्रश्न पर सरकार को राष्ट्रीय संवेदनाओं को पता है। वह जानती है कि पंजाब का सवाल सामने आते ही देशवासी चुप हो जायेंगे कि चाहे जितने और अधिकार ले ले लेकिन आतंकवाद का अंत तो करे। काश ! जनता की यह ऊब यथार्थ पंजाब का आतंकवाद नहीं है। इसका यथार्थ है राजीव और उनकी सरकार की नीयत। पहले सरकार की नीयत का जायजा लें, पंजाब का यथार्थ जान लें, फिर इस संशोधन की परिणति और अपने भविष्य का निर्धारण करें।

भावना और यथार्थ

शेक्सपियर एक ऐसा नाटककार था जिसने भावना और यथार्थ दोनों को साथ-साथ जिया। उसने लिखा है कि 'प्रसंग अतिशय सुख का हो या दुख का , जब

दिल भर आता है तो जिह्वा, शब्द, व्यवहार और यथार्थ के बीच की कड़ी के टूट जाने का अर्थ होता है जीवन का अस्त-व्यस्त हो जाना। यह एक ऐसा अवसर होता है जब व्यक्ति उचित-अनुचित का निर्धारण कर पाने का अपना विवेक गंवा देता हैं और उस सुख या दुख के तात्कालिक क्षण को स्थायी सत्य मान कर अपने भविष्य की ओर से आंखें बन्द कर लेता है। उस समय चतुर व्यक्ति बड़ी आसानी से अपनी इच्छित दिशा में उसे हाँक ले जाते हैं। यह सच है कि आज देशवासियों का मन भरा हुआ ही नहीं ऊबा हुआ भी है। रोज-रोज की हत्या, रोज-रोज के अग्निकांड-बलात्कार, रोज-रोज की भूख और बीमारी। असमर्थ, दिशाहीन, कमजोर ओर भयभीत नेतृत्व। जिस पर हम भरोसा करते हैं वह भरोसे योग्य नहीं है, जिस पर भरोसा किया जाना चाहिए, उस पर भरोसा होता नहीं। एक के बाद दूसरी कड़ी टूट रही है। जिह्वा कुछ और बोलती है, यथार्थ कुछ और होता है, और व्यवहार कुछ और।

कत्लगाह

कहा जा रहा है कि पंजाब को संभालना है तो सरकार को और अधिक अधिकार देने ही पड़ेंगे। माना कि पंजाब की समस्या का सुलझाया जाना राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए आवश्यक हैं किन्तु क्या इसके लिए समूचे देश को कत्लगाह बना देने का अधिकार प्राप्त करना भी आवश्यक है? क्या पंजाब में हिंसा, हत्या और आतंकवाद पर केवल इसलिए नियंत्रण नहीं हो पा रहा है कि सरकार के पास पर्याप्त अधिकार नहीं? और क्या पंजाब की समस्या केवल कानून और व्यवस्था से जुड़ी समस्या है?

'संपूरन आजादी'

पंजाब की समस्या के प्रत्येक पहलू पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। गत आठ वर्षों में इस विषय पर व्यापक और गंभीर राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय बहस चल रही है। सुझाव और समाधान के इतने विविध सूत्र प्रस्तुत किये जा चुके हैं कि यदि उन सबका संयोजन किया जाता तो यह समस्या कब की सुलझ गई होती। पंजाब को अशांत क्षेत्र घोषित किया जा चुका है। वहां आतंकवाद विरोधी कानून लागू है, सरकार संसद से सीमा पर सुरक्षा-पट्टी बनाने का अधिकार प्राप्त कर चुकी है। आन्तरिक सुरक्षा कानून का बल उसे प्राप्त हैं। वहां विदेशियों की आवाजाही पर रोक है। सूची बनाई जाय तो गत आठ वर्षों में सरकार विभिन्न प्रकार के लगभग दो दर्जन अधिकार ले चुकी है। अधिकारों का अभाव नहीं है सरकार के पास। अभाव है इच्छा शक्ति और समझ का।

पंजाब में खालिस्तान के नारे लगते हैं। अकालतख्त और स्वर्ण मंदिर परिसर आतंकवादियों का अभयारण्य हैं। पाकिस्तान से शस्त्र और शिक्षित आतंकवादी पंजाब आ रहे हैं। आतंकवादियों ने सिख पंथ की व्यवस्था को बन्दी बना लिया है।

खालिस्तान परिषद्, खालिस्तान कमाण्डो फोर्स और बब्बर खालसा ने हथियारबंद आतंकवादियों के घेरे में जसवीर सिंह की ताज पोशी करके संपूर्ण सिख नेतृत्व को किनारे लगा दिया हैं। ये सभी लोग भारत भूमि पर एक ऐसा स्थान प्राप्त करने की घोषणा कर चुके हैं, जहां केवल आतंकवादियों का वर्चस्व हो। जिसे खालिस्तान कहा जा सके। उन्हें 'सपूंरन आजादी' चाहिए। उनका यह संकल्प है कि वे इस आजादी के लिए मर मिटेंगे लेकिन अपना कदम पीछे नहीं हटायेंगे।

यह सब राजीव और उनकी सरकार की जानकारी में खुले आम हो रहा है। उनके मंत्रियों का राजनैतिक हस्तक्षेप आतंकवाद को बढ़ावा दे रहा है। दुर्भाग्यवश पंजाब की समस्या को अभी तक उसकी संपूर्णता में नहीं देखा गया। पंजाब के सिखों को जानबूझकर अलगावादियों का बंधक बनने दिया गया। आतंकवाद की ओर कभी विधि-व्यवस्था, तो कभी चुनाव और सत्ता राजनीति के चश्मे से देखा गया। कभी सिखों को तोड़ा गया तो कभी गैर सिखों को भड़काया गया। परिणामस्वरूप मुट्ठी भर आतंकवादी सिखों के स्थापित नेतृत्व को धकिया और धमका कर पंजाब के नेता बन बैठे। अब खुली घोषणा की जा रही है कि पंजाब समस्या को सुलझाना है तो आतंकवादियों से ही बात करनीं पड़ेगी। यह सच है कि सभी सिख आतंकवादी नहीं है और सभी सिख खालिस्तान के झण्डावाहक भी नहीं है। किन्तु यह भी सच है कि सिखों का एक वर्ग खालिस्तान का कट्टर समर्थक है। ब्रिटेन और कनाडा के सिख आतंकवादियों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। पंजाब के सिखों का एक वर्ग उन्हें संरक्षण और शरण देता हैं खालिस्तान कुछ मासूम और आहत सिखों का रणघोष भी बन चुका है। यह आहत सिखों के अंसतोष का प्रतीक भी है। किन्तु ऐसे सिख बहुत कम हैं जो खालिस्तान या सिख राज्य के हेतु आत्मबलिदानी युद्ध के लिए आगे आयेंगे। यह आज की स्थिति है। लेकिन सिख इतिहास में यह कोई नया अध्याय नहीं जुड़ा है। अलगाववाद पंजाब के सिख मानस में योजनाबद्ध ढंग से घुसाया गया है। सौ वर्ष से भी अधिक समय से यह प्रयास निरन्तर चलता आया है। पहले अंग्रेजों ने यह कार्य किया। अब पाकिस्तान और दूसरी अलगाववादी विदेशी ताकतें इसे बढ़ावा दे रही हैं। रक्त और परम्परा के संबंधों को नकारा जा रहा है। आतंकवाद को केवल कानूंन भंग और हिंसा से जोड़ने की भूल की जा रही है।

राजनीतिक बाधा

समस्या कुछ और है, उपाय कुछ और किये जा रहे हैं। पंजाब समस्या की सूली पर संपूर्ण देश को फांस देने का रास्ता साफ किया जा रहा है। राजीव सरकार अधिकार प्राप्त होने के बाद भी भारत-पाकिस्तान सीमा पर सुरक्षा-पट्टी नहीं बनाती कि पाकिस्तान से आतंकवादियों के नए-नए जत्थे न आ सकें। केन्द्रीय गृहमंत्री आतंकवाद विरोधी अभियान में राजनीतिक बाधा खड़ी करते हैं। सिख राजनीति में

गुटबाजी बढ़ा कर चुनावी समाधान को राजनीतिक समाधान बताने का प्रयास करते हैं। अब हालत इस सीमा तक आ गई है कि आतंकवादियों के साथ बैठकर दो स्वतंत्र राष्ट्रों के अधिपतियों की तरह भारत और खलिस्तान के प्रतिनिधि बात करेंगे। बात नही बनेगी तो आपत्कालीन अधिकारों का उपयोग करके आतंकवादियों को निपटने के नाम पर अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों का नाश किया जाएगा। संविधान की मूल भावना और मूल आधार के विपरीत जनता को उसके मूलाधिकारों से वंचित कर दिया जाएगा। पंजाब में सरकारी हत्याकाण्ड होगा। खबर अखबारों में छपने नहीं दी जाएगी। यदि कोई बोलेगा तो उसे केवल जेल में ही बन्द नहीं किया जायगा बल्कि गोलियों से भून कर राख भी कर दिया जाएगा। पंजाब के संदर्भ में ऊबे हुए लोग तात्कालिक रूप से इस व्यवस्था और राजीव के प्रयास से खुश होना चाहें तो खुश हो लें। राजीव के 'साहस' की सराहना करना चाहें तो सराहना कर लें। लेकिन यह सब करने के पूर्व उनके इरादों का जायजा जरूर ले लें। यह न भूलें कि यह प्रयोग देश को पुनः आपत्काल की यातनामय भट्टी और अंधी गली में धकेलने का पूर्वाभ्यास है। प्रथम पग के रूप में देशवासियों की समझ और सहिष्णुता की जांच कराई जा रही है कि वे कितनी दूर की सोचते हैं? राजीव की नीयत नेक नहीं हैं इसका प्रमाण उन्होंने दे दिया है। तभी तो राज्यसभा का द्विवार्षिक चुनाव होने के पूर्व तुरत-फुरत राज्यसभा से 59 वां संविधान विधयेक पास करा लिया कि चुनाव के बाद वहां उनको आवश्यक समर्थन नहीं मिल पाता। अब लोकसभा ने भी यह विधयेक पारित कर दिया।

सोहराब जी की चेतावनी

भारत के पूर्व महान्यायकर्ता (सोलीसीटर जनरल) सोली सोहराब जी ने इस संशोधन के दूरगामी परिणामों के विषय में चेतावनी दी है कि "इसके बाद सरकार को यह अधिकार मिल जायगा कि अन्य लोगों सहित पत्रकारों को भी पंजाब जाने से रोक दे। वह पंजाब में और पंजाब के बाहर पंजाब पर चर्चा करने वाली बैठकों और गोष्ठियों पर भी रोक लगा सकती है। पंजाब समस्या पर पंजाब से बाहर प्रदर्शन करने पर भी रोक लगा दी जा सकती है। पंजाब में आपत्काल लागू होने के बाद संविधान की 19 वीं धरा निरस्त हो जायेगी। इस धारा के अन्तर्गत विचार अभिव्यक्ति, एकत्र होने, सभा और आन्दोलन करने की आजादी मिली हुई है। अब यह धारा केवल पंजाब में ही नहीं सारे देश में अप्रभावी हो जायगी। यह संशोधन जीने के अधिकार की रक्षा करने वाली संविधान की 29 वीं धारा को भी निरस्त कर देगा। सरकारी दमन से अपना बचाव करने के सभी वैध अधिकार समाप्त हो जायेंगे।

इसके आयांम और भी है। मोरारजी सरकार ने 44 वां संविधान संशोधन करके यह गारण्टी दी थी कि पूरे देश या उसके किसी भाग में सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में

आपत्काल लागू होने पर भी संविधान की 19 वीं धारा अप्रभावी नहीं होगी। यह केवल युद्ध, बाहरी आक्रमण के समय ही निरस्त होगी। यह 59 वां संशोधन इस गारण्टी को समाप्त कर देगा। कहां क्या हो रहा है किसी को कुछ पता नहीं लग सकेगा।

पंजाब पर 22 कानून

श्री लालकृष्ण आडवाणी ने इसके परिणामों को और अधिक स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि 59 वें संविधान संशोधन का उद्देश्य समाचार पत्रों की आवाज को दबाना हैं। इस संशोधन के द्वारा सरकार जो अधिकार प्राप्त करना चाहती है वे तो उसे पहले से ही प्राप्त है। गत आठ वर्षों में केन्द्र सरकार पंजाब पर 22 कानून थोप चुकी है। आतंकवाद प्रभावित क्षेत्र (विशेष अदालत) कानून, आतंकवाद गतिविधि निरोधक कानून, अशांत क्षेत्र कानून, राष्ट्रीय सुरक्षा कानून, बिना मुकदमा चलाये गिरफ्तार करने जमानत न लेने, बिना आरोप के दो वर्ष तक किसी को भी नजरबन्द रखने, अपराध स्वीकार कराने ओर सीमा पर सुरक्षा पट्टी बनाने जैसे अधिकार उसे पहले से ही मिले हुए हैं।

बारह वर्ष बाद

राजीव ने बारह वर्ष बाद एक बार फिर देश को उसी अंधे मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहां वह 1975 में खड़ा था। यह सब अचानक नहीं हुआ है। राजीव और कुछ नहीं केवल अपना आश्वासन पूरा कर रहे हैं। प्रधानमंत्री बनने के बाद उन्होंने 1975 में अपनी मां श्रीमती इंदिरा द्वारा लगाये गए आपत्काल को गलत नहीं बताया। वे कई बार यह कह चुके हैं कि यदि आवश्यक हुआ तो आपत्काल फिर लागू किया जायगा।

पहला कदम

अतएव आपत्काल उत्पन्न करने के साथ-साथ वे उसे लागू करने का अधिकार भी प्राप्त कर रहे हैं। पंजाब और गोरखालैण्ड जैसी समस्याओं का सहारा लेकर अपनी आर्थिक और राजनीतिक असफलता छिपाने और सरकार को बनाये रखने के लिए आपत्काल का उपयोग किए जाने की ओर यह पहला कदम है। अगर देशवासी अब भी किसी गलतफहमी में हों तो इसका दोष राजीव पर नहीं मढ़ा जा सकेगा। राजीव ने तो अपना इरादा स्पष्ट कर दिया है। देशवासी अपने कर्त्तव्य और भविष्य का निश्चय कर लें कि उन्हें पुलिस की गोलियों की दया पर किसी राजतंत्री और गुलाम देश के नागरिक की तरह जीवित रहना है कि किसी स्वतंत्र स्वाभिमानी नागरिक की तरह रहने के अपने नैसर्गिक अधिकारों के साथ।

समय की चेतावनी

अभी न चेते तो तीसरी आजादी का युद्ध लड़ने के अतिरिक्त और कोई उपाय

शेष नहीं रहेगा। पंजाब की प्रतिक्रिया में यदि इस विधयेक को जनता ने स्वीकृति दे दी तो इसका प्रायश्चित केवल पश्चाताप से नहीं होगा। फिर तो लाखों जीवन देकर ही जीने का अधिकार प्राप्त हो सकेगा। यह कहना जरूरी नहीं कि अभी समय है सचेत हो जायं। समय हमें स्वयं सचेत कर रहा हैं। जो समय का स्वर नहीं सुनते उनका नाश निश्चित होता है। पूत के जो पांव पालने में नहीं देख पाये थे। वे पांव अब हमारी छाती पर प्रहार कर रहे हैं। उन्हें पहचान लो।

3 अप्रैल, 1988

विकल्प के नेताओं से

इन्दिरा कांग्रेस का राष्ट्रीय विकल्प बनाने के लिए विरोधी दलों की विलय वार्ता चल रही हैं। हो सकता है विलय हो जाय। हो सकता है न भी हो। यह भी संभव है कि ऊपर एकता होने के बाद भी कटुता पहले से भी अधिक बढ़ जाय। किन्तु प्रश्न विलय और एकता का नहीं है, प्रश्न है विकल्प का। विकल्प बनने के लिये दलों का विलय पहले भी हो चुका है लेकिन एकता नहीं हुई। विकल्प नहीं बना समूचा भारतीय समाजवादी आन्दोलन विलय, विसर्जन फिर एकता और बिखराव का उदाहरण है। लोकदल विकल्प की तलाश करने की विलय और विर्सर्जन की प्रक्रिया का ही नाम है। जनता पार्टी भी विलय की कोख में से ही जन्मी थी किन्तु विकल्प वह भी नहीं बन पाई। सत्ता परिवर्तन से उसका पतन बहुत ही तेजी से हुआ। वैकल्पिक जनता सरकारें तो बन गई लेकिन वैकल्पिक जनता पार्टी अन्त तक नहीं बन पाई। अब फिर से एक दौर चला है कि सबको मिलाकर कोई नई और एक पार्टी बने तो काम चले। गत आठ वर्षों में यह दौर इतनी बार चला और टूटा है कि इसने विरोधी दलों की विश्वसनीयता भी समाप्त कर दी है।

दुर्भावना को न्यौता

कैसे-कैसे प्रयास हो रहे हैं। न नीति, न सिद्धान्त, न चरित्र, न चिन्तन। पुराने अनुभवों को पूरी तरह अलविदा। केवल सत्ता आकांक्षा की पूर्ति हेतु तात्कालिक उपाय किए जा रहे हैं कि पहले चुनाव जीतें, बाद में सब देख लेंगे। कहते हैं कि इस समय 1977 की भावना जगने की जरूरत है। लेकिन 1977 की भावना का 1979 में क्या हुआ था इस प्रश्न पर सोचने तक के लिए तैयार नहीं हैं। यदि 1988 में विरोधी दलों का यह प्रयास 1977 की भावना जगाना है तो यह न भूलें कि 1979 की दुर्भावना को न्यौता देना भी है। डरे हुए लोगों की एकजुटता का कोई अर्थ नहीं होता। इस प्रकार की एकता संकट समाप्त होते ही उसकी एक-एक ईंट बिखरने लगती है। बम्बई की एक पत्रिका ने विरोधी दलों, विशेष कर चन्द्रशेखर द्वारा विकल्प बनाने की प्रक्रिया पर अतीव सटीक टिप्पणी की है कि "आपत्काल के मुखर विरोधी चन्द्रशेखर आपत्काल के नादिरशाह संजय गांधी की पत्नी और प्रेरणा मेनका की बगल में बैठकर अब अपनी राजनीति करेंगे? संजय के नेतृत्व में आपात्काल के

झण्डावाहक अब चन्द्रशेखर के नेतृत्व में संपूर्ण क्रांति का नारा देंगे। चौधरी चरण सिंह के पुत्र अजीत सिंह भी उसमें शामिल होंगे।" लोकदल के बहुगुणा पर किसी को भरोसा नहीं हैं उनके अपने दल के लोग भी उन्हें अध्यक्ष पद से हटाने की चर्चा करते हैं। कहते हैं कांग्रेस का रास्ता बन्द है नहीं तो बहुगुणा जी अब तक कांग्रेस में चले गए होते। बहुगुणा इस चर्चा को लाख बार नकारते हैं, कोई मानता नहीं हैं दूसरों की कौन कहे उनके अपने दल का भी एक वर्ग इनकी इस नकार को स्वीकार नहीं करता। सत्ता राजनीति की रपटीली राह पर कौन, कब फिसल पड़े, कौन कब अपना दल छोड़ कर किस दल में चला जाय, कौन विलय कर ले, कौन विलय होते ही बिखर जाय, कुछ कहा नहीं जा सकता। प्रणव मुखर्जी कांग्रेस में वापस आते हैं तो विश्वनाथप्रताप सिंह, अरूण नेहरू, रामधन, विद्याचरण आदि कांग्रेस छोड़ कर चले जाते हैं। आने और जाने के कारण सभी के समान होते हैं। पहले जानकी रामचन्द्रन इंका से जुड़ती हैं, फिर जय ललिता कांग्रेस में आ धमकती हैं। बुद्धिप्रिय मौर्य जैसे कितने ही लोग मात्र संसद की सदस्यता के लिए किसी न किसी दल से समय-समय पर जुड़ते-टूटते रहते हैं। इस जुड़ने और टूटने का बहीखाता बहुत बड़ा है। सिद्धान्त का आधार न होने के कारण विरोधी दलों का राजनीतिक गणित इस कदर गड़बड़ा गया है कि उसमें से 'टूटने के लिए जुड़ने' का नया सिद्धान्त पैदा हो गया है।

नकारात्मक सोच

यह क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर "गैर कांग्रेसवाद" पर आकर अटक जाता है। "गैर कांग्रेसवाद" की नकारात्मक सोच और प्रक्रिया के कारण सैद्धान्तिक राजनीति को जो आघात लगा विरोधी दल अभी तक उससे उबर नहीं पाये। यह साठ के दशक की बात है। 1967 के चुनाव में कांग्रेस कई राज्यों में पराजित हो गई थी। पराजित अर्थात् उसे सामान्य से भी पतला बहुमत मिला। स्थिति ऐसी थी कि यदि सभी विरोधी दल एक हो जाएं तो कांग्रेस को सत्ता से हटाया जा सकता था। इसी समय का प्रसंग है। भारतीय राजनीति के दो धुराणों डा० राम मनोहर लोहिया और पं० दीनदयाल उपाध्याय से मिलने का मौका मिला। डा० लोहिया का मत था कि यही अवसर है जब कांग्रेस की कुर्सी हिलाकर जनता में विश्वास पैदा किया जा सकता है कि यह कांग्रेस को हटा सकती है। लोहियाजी 'गैर कांग्रेसवाद' के जनक थे। उनकी यह मान्यता थी कि जैसे भी हो कांग्रेस को एक बार सत्ता से हटना ही चाहिए। वे विभिन्न विरोधी दलों को अपना यह तर्क समझा रहे थे। विरोधी दलों में उस समय भारतीय जनसंघ कुला मिला कर सबसे बड़े दल के रूप में उभरा था। किन्तु उसके सर्जक दीनदयाल उपाध्याय, डा० लोहिया के इस तर्क से सहमत नहीं थे कि जैसे भी हो कांग्रेस को सत्ता से हटाया जाना चाहिए। उनका कहना था कि कांग्रेस को सत्ता से हटाया ही नहीं जाना चाहिए तो देश की राजनीति से भी उसका अस्तित्व मिटा देना

चाहिए। जब तक कांग्रेस रहेगी देश में आत्मविश्वास का अभाव बना रहेगा। कांग्रेस ने देश और उसकी भावना को खण्डित किया है। देश की आत्मा को आघात पहुंचाया हैं किन्तु कांग्रेस को कांग्रेसी तरीके से नहीं, अपने तरीके से हटाना और मिटाना होगा। अपना तरीका अर्थात् वैकल्पिक सिद्धान्त, आदर्श, नीति और व्यवहार का तरीका। लोहिया जी का कहना था कि फिर तो कांग्रेस भी हटेगी ही नहीं। यह रास्ता बहुत लम्बा है इसमें बहुत समय लगेगा। जब तक जनता का रहा-सहा आत्मविश्वास भी समाप्त हो जायगा। मतदाताओं ने विरोधी दलों को कांग्रेस से अधिक वोट और सीटें दी हैं। कांग्रेस को न हटाना उनके साथ विश्वासघात करना तो होगा ही और कांग्रेस का विकल्प भी नहीं पैदा होगा। पं० दीनदयाल का तर्क था कि जनता के आत्मविश्वास की चिन्ता न करके हम (विरोधी दल) अपना आत्मविश्वास बनाये रखने की चिन्ता करें। मतदाताओं ने विरोधी दलों को सत्ता संभालने के लिए नहीं, सशक्त विपक्ष प्रदान करने के लिए अपना समर्थन दिया है। मतदाता विरोधी दलों की परीक्षा ले रहा है। जो दल प्रामाणिकता के साथ काम करेगा उसे अगले चुनाव में बहुमत प्रदान करके वह सरकार सौंपने की सोचेगी। यह कार्य मतदाता बहुत ही धैर्य के साथ कर रहा है। समय आने पर वह विकल्प का चुनाव स्वयं करेगा।

आया राम, गया राम

डा० लोहिया बड़े थे। मुझे बताया गया कि वे बहुत ही याराना लहजे में बोले थे, "अरे भाईदीनदयाल! मौका मिला है एक बार कांग्रेस का सिंहासन तोड़ लेने दो। आओ हम सब एक होकर आज यह काम कर लें। कल कौन जाने क्या हो? हम रहें कि न रहें।" लोहिया जी की इस बात पर दीनदयाल जी हंसे थे, "ठीक है। आप की यही इच्छा है तो यह खेल भी खेल लें। लेकिन इसके बाद विरोधी दल कम से कम दस साल पीछे चले जायेंगे और हो सकता है उनका यह कच्चापन विकल्प की प्रक्रिया को तेज कर रहे मतदाताओं को भी निराश कर दे। कल तक जो दल एक-दूसरे के विरूद्ध कटुता के साथ लड़े थे आज अचानक एक होकर कोई सार्थक कार्य कर सकेंगे इसमें संदेह है। दलों के मिलने के पहले दिल का मिलना जरूरी है। पहले नीतियों और कार्यक्रमों पर सहमति आवश्यक है। पहले एक होना फिर नीति और कार्यक्रम बनाना उल्टी प्रक्रिया हैं। फिर कांग्रेस को तोड़ कर कांग्रेसियों के नेतृत्व में जो सरकार बनेगी उसकी संस्कृति, सिद्धान्त और नीति वह नहीं होगी जो विरोधी दलों की है।"

इतिहास साक्षी है 1967 से 'आयाराम गया राम' वाली कांग्रेस की राजनीतिक संस्कृति ने सत्ता के गलियारे से होकर विरोधी दलों में प्रवेश किया तो सभी विरोधी दल उसमें पूरी तरह डूब गए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री बाला साहब देवरस ने इस पर अत्यन्त ही दुखद किन्तु सार्थक टिप्पणी की है कि, "कांग्रेस ने जिस राजनीतिक संस्कृति को जन्म दिया आज वही देश की मुख्य राजनीतिक

संस्कृति बन गई है और कम्युनिस्ट और भाजपा जैसे दलों में भी यह कांग्रेस संस्कृति किसी न किसी रूप में प्रवेश कर गई है।"

कांग्रेस की राजनीतिक संस्कृति का अर्थ है गुटबाजी, जोड़-तोड़, सिद्धान्तहीनता, केवल चुनाव की राजनीति और तुष्टीकरण। राष्ट्रीय विकल्प बनाने वाले कितने लोग और दल ऐसे हैं जो इस कांग्रेसी संस्कृति के राजयक्षमा जैसे राजरोग से बचे हुए हैं? किन्तु कोई भी दल पूरी तरह से इसका अपवाद नही है।

"लोहिया जी 'गैर कांग्रेसवाद' के पक्षधर तो थे किन्तु उनकी दृष्टि धूमिल नहीं, स्पष्ट थी। लोहिया के गैर कांग्रेसवाद और दीनदयाल के सिद्धान्तवाद का आगे चल कर किसी न किसी बिन्दु पर संगम हो सकता था, यदि नियति ने उन दोनों के साथ क्रूर खेल न खेला होता। लोहिया जी अस्पताल में मर गए। दीनदयाल जी चलती रेलगाड़ी में रात के अंधेरे में मार दिये गये। यह कह सकते हैं कि अनिच्छा से ही क्यों न हों उस समय दोनों ने मिल कर 'गैर कांग्रेसवाद' का खेल खेला था। लेकिन यह ध्यान में रखना होगा की उनकी चिन्तन धारा, दिशा और दृष्टि स्पष्ट थी।"

दोनों सत्ता की राजनीति करते थे लेकिन दोनों की सोच सैद्धान्तिक थी। कांग्रेस हटाओं अभियान के साथ लोहियाजी यह भी कहते थे कि "सुनिश्चित और उच्च आदर्शों के अभाव में सत्ता हासिल करना ठीक उसी प्रकार है जैस घुड़दौड़ के घोड़े पागलों की तरह दौड़े, पसीने से लथपथ और हांफते हुए। लेकिन उनमें से एक भी न निश्चित दिशा की ओर दौड़ा हो और न लक्ष्य तक पहुंचा हो।" यही नहीं उनको यह भी स्पष्ट था कि वे राजनीति किसके लिए करते हैं और सत्ता किसके लिए चाहते हैं। वे कहा करते थे "दस प्रतिशत को छोड़कर शेष भारतीय अपने चेहरे पर मक्खियों की भिनभिनाहट के साथ जन्म लेते हैं और मक्खियों की तरह़ मरते हैं। मैं जानता हूं कि इसे बदलने के लिए वर्षों का आर्थिक पुनर्निमार्ण जरूरी है। लेकिन एक भारतीय के जीवन में मूल्य को दिमाग में स्थापित करने में एक दिन की भी देरी क्यों हो? यहां इस सवाल में नहीं जाना है कि प्राथमिक क्या है अस्तित्व या मानस। मुझ को इसमें जरा भी शक नहीं है कि भारतीय के जीवन का मूल्य आर्थिक व्यवहार में लाने से पहले मानस में प्रतिस्थापित करना जरूरी है।"

वैचारिक छुआछूत

पं० दीनदयाल उपाध्याय विविधापूर्ण भारतीय समाज जीवन में से उत्पन्न विभिन्न विरोधी दलों के साथ-साथ संघर्ष करने और समन्वय के पक्षधर तो थे किन्तु वे कोई भी नकारात्मक कार्य करने या योजना बनाने का निषेध करते थे। साथ-साथ कार्य करने, वैचारिक छुआछूत को न मानने पर बल देते हुए भी साथ चलने के लिए राष्ट्रभक्ति की प्राथमिकता उनकी पहली शर्त थी। हर महापुरूष की तरह देश का विपन्न ओर कंगाल नागरिक उनका भी आराध्य था। एकात्ममानव दर्शन का वह द्रष्टा

लिखता है कि, "आर्थिक योजनाओं और आथिक प्रगति का माप समाज में ऊपर की सीढ़ी पर पहुंचे हुए व्यक्ति नहीं बल्कि सबसे नीचे के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से होगा। आज देश में ऐसे करोड़ों मानव हैं जो मानव के किसी भी अधिकार का उपयोग नहीं कर पाते। शासन के नियम और व्यवस्थाएं, योजनाएं और नीतियाँ, प्रशासन का व्यवहार और भावना उनको अपनी परिधि में लेकर नहीं चलती, प्रत्युत उन्हें अपने मार्ग का रोड़ा ही समझा जाता है। हमारी भावना और सिद्धान्त है कि यह मैले–कुचैले, अनपढ़, मूर्ख लोग हमारे नारायण हैं। हमें इनकी पूजा करनी है। यह हमारा सामाजिक और मानव धर्म है। जिस दिन इनको पक्के, सुन्दर और सभ्य घर बना कर देंगे, जिस दिन हम इनके बच्चों और स्त्रियों को शिक्षा और जीवन दर्शन का ज्ञान देंगे, जिस दिन हम इनके हाथ और पांवों की बिवाइयों को भरेंगे और जिस दिन इनको उद्योगों और धंधों की शिक्षा देकर इनकी आय को ऊंचा उठा देंगे उसी दिन हमारा मातृभाव जागृत होगा। ग्रामों में जहां समय अचल खड़ा है, जहां माता-पिता अपने बच्चों के भविष्य को बनाने में असमर्थ हैं, वहां जब तक हम आशा और पुरूषार्थ का संदेश नहीं पहुंचा पायेंगे तब तक हम राष्ट्र के चैतन्य को जागृत नहीं कर सकेंगे। हमारी श्रद्धा का केन्द्र, अराध्य और उपास्य, हमारे पराक्रम और प्रयत्न का उपकरण तथा उपलब्धियों का मानदण्ड वह मानव होगा जो शब्दशः अनिकेत ओर अकिंचन है।"

दीनदयाल का आवाहन

डा० लोहिया की ही भांति कांग्रेस शासन को और अधिक समय देने के लिए पं० दीनदयाल जी भी तैयार नहीं थे। 1967 में ही उन्होंने यह आवाहन किया था कि "कांग्रेस को शासन चलाने और देश का स्वरूप अपनी कल्पना के अनुसार ढालने के लिए बीस वर्षों का एक लम्बा समय ओर पूर्णतः अनियंत्रित सत्ता दी जा चुकी है। वह पूर्णतः असफल रही हैं उसे अब और अधिक अवसर नहीं दिया सकता। भारत के नागरिकों को, जो अपने देश के स्वामी और भाग्य के नियन्ता हैं, अब उन चन्द व्यक्तियों के चंगुल से निकालना होगा जिनका कांग्रेस के शासन में निहित स्वार्थ है। इन्होंने देश को लूटा और तबाह किया है। आइए, देश के चतुर्थ आम चुनाव में हम एक प्रजातंत्रीय क्रांति का सृजन करें और देश के पुरूषार्थ को नई दिशा दें।"

प्रश्न केवल कांग्रेस को हटाने का नहीं, देश को नई दिशा देने का भी है। यह नई दिशा देने का सामर्थ्य कांग्रेसी संस्कृति में से जन्मी या उससे जुड़ी राजनीतिक संस्कृति में नहीं हो सकता। इस कार्य के लिए एक सर्वथा नई सकारात्मक और सैद्धान्तिक दृष्टि और स्पष्ट दिशा, विकल्प और एकता इसी दृष्टि और प्रक्रिया में से पैदा होगी।

विकल्प के नेता कांग्रेस को हटाने का प्रयास करें तो इसी के साथ–साथ

विश्वसनीय राजनीतिक चरित्र और वैकल्पिक दृष्टि का निर्माण भी करे कि समय आने पर देशवासी उन्हें या उनमे से किसी एक को विकल्प के रूप में स्वीकार करे लें। एकता के मृगजल की दुराशा उत्पन्न न करके विरोधीदलों के नेता देशवासियों को अनेक विकल्पों में से किसी एक विकल्प का चुनाव करने का अवसर क्यों नहीं देते? इस समय आवश्यकता 1979 की दुर्भावना से घिरी 1977 की दुर्भावना से घिरी 1977 की भावना जागने की नहीं 1967 अर्थात् साठ के दशक का कर्त्तव्य जागृत करने की है। राजनीति के स्वयंवर (चुनाव) में मन चाहा वर जनता को स्वयं चुनने दें। अनेकों में से एक ही अच्छा होगा, अनेकों का एक नहीं।

10 अप्रैल, 1988

देश के दुर्भाग्य को न्यौता

किसी राष्ट्र का उत्थान या पतन उसके शासकों के भाग्य परिवर्तन या युद्ध भूमि में उनकी जय-पराजय का परिणाम नहीं होता। राष्ट्र के भाग्य का निर्माण, उसका पालन-पोषण और उसकी रक्षा करने का कार्य उसके राष्ट्रजन करते हैं। वे ही राष्ट्र की प्राणशक्ति होते हैं वे ही राष्ट्र-जीवन को अविच्छिन्न रूप से संभाल कर रखते हैं। उनकी हिम्मत टूटती है, वे उदासीन हो जाते हैं, उनमें परजीविता बढ़ती है तो सर्वशक्तिमान राष्ट्र का भी पतन हो जाता है। अर्थात् राष्ट्र के उत्थान-पतन का मूल किसी शासक का भाग्य नहीं, राष्ट्रजन होते हैं।

उपेक्षित राष्ट्रजन

किन्तु आज के अपने भारत में यदि कोई सर्वाधिक उपेक्षित है तो व्रह है राष्ट्रजन-इस देश क़ा आम आदमी। सत्ता पक्ष और विपक्ष दोनों उसके साथ छल कर रहे हैं। उद्योगपति उसका शोषण कर रहे हैं। बुद्धिजीवी ओर विचारक उसे गुमराह कर रहे हैं। मजहबी कट्टरता उसके जीवन क़ा सुरताल बिगाड़ कर उसे असुर अर्थात् संवेदनहीन बना रही हैं। प्रत्येक स्तर पर जाने अनजाने यह प्रयास किया जा रहा है कि इस देश की प्राणशक्ति सदा सोई ही रहे। आम आदमी की राष्ट्रीय प्रेरणा जगने न पाये। वह सदैव परजीवी ही बना रहे। अपने खून को पसीना बनाकर देश के वैभव की फसल तो सींचे लेकिन उसमें उसकी हिस्सेदारी न हो। वह अपनी जाति, बिरादरी, मजहब, भाषा, क्षेत्रीय दुराभिमान और आपसी शत्रुता मे फंसा रहे। भूख से उबर न पाये। बीमारी से ग्रस्त रहे। बेरोजगार भटकता रहे कि समय आने पर उसे मनचाही दिशा में हांक कर ले जाया जा सके। वह सदैव किसी न किसी दुरभिसंधि के चंगुल में फंसा रहे। उसके मन में यह भाव स्थायी रूप से बना रहे कि उसे देश से क्या लेना-देना। देश की सोचने का काम उसका नहीं कुछ मुट्ठी भर लोगों का है। जब, जहां जाने, उठने, बैठने, बोलने और सुनने का आदेश या आवाह्न किया जाय, वह भेड़ों की तरह वहां जमा हो जाय। केवल जमा ही न हो तो आंख बंद कर उनके बताए अंधे कुंए में छलांग भी लगा दे। और उसे यह अहसास भी न होने पाये कि भारत उसकी मां है। वह अपनी मां भारत के लिए नहीं उस चतुर खिलाड़ी के लिए मरे जो उसके भाग्य का स्वयंभू नियन्ता है और जिसने राष्ट्र के भविष्य और भाग्य को अपने पास गिरवी रख छोड़ा है कि उसका अपना उत्थान-पतन ही राष्ट्र का

उत्थान-पतन है। इसी होड़ और दौड़ में लगे हैं आज कुछ लोग। इन कुछ लोगों में सत्तापक्ष और विपक्ष के राजनेता प्रमुख रूप से शामिल हैं। शेष लोग मात्र सहायक हैं!

नैतिक अधिकार–हीन सरकार

सत्तापक्ष द्वारा देश की जा रही सांसत से तो सभी अवगत हैं। किन्तु विरोधी दल भी देश और देशवासियों की कुछ कम सांसत नहीं कर रहे हैं। दोनों पक्षों ने देश ओर जनता को अपनी निजी जागीर समझ रखा है। सत्तापक्ष सत्ता में बने रहने और विपक्ष सत्ता में आने के लिए देश की जनता के साथ घटिया खेल खेल रहे हैं। सत्तापक्ष ओर विपक्ष के चरित्र में अब विशेष अन्तर नहीं रहा है। तरीके और पैंतरे दोनों के समान है।

शासक दल के चरित्र और नीयत का विश्लेषण बहुत हो चुका है। आज विपक्ष का विचार करें। और जब विपक्ष का विचार करते हैं तो दिखाई देता है कि पिछले कुछ महीनों से भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों की ओर से यह मांग बराबर उठ रही है कि वर्तमान राजीव सरकार को अपदस्थ किया जाना चाहिए; क्योंकि बोफोर्स एवं उस जैसे अन्य काण्डों की पृष्ठभूमि में उनकी भ्रष्ट सरकार के बने रहने का कोई औचित्य नहीं है। सभी प्रतिपक्षी दल मध्यावधि चुनावों की मांग भी करते आ रहे हैं और बार-बार यह बात कही जा रही है भले ही राजीव सरकार पांच वर्षों के लिए चुनी गयी होगी पर जिन मुद्दों पर उन्होंने जनादेश प्राप्त किया था वे उसके सर्वथा विपरीत आचरण कर रहे हैं। एक स्वच्छ प्रशासन प्रदान करने और देश की एकता एवं अखण्डता की रक्षा के लिए मिले प्रबल जन-समर्थन की आड़ में स्वतन्त्र भारत में सर्वाधिक भ्रष्ट सरकार स्थापित करनी तथा विघटनकारी तथ्यों के सामने आत्मसमर्पण कर देना उस जनादेश की अवहेलना ही नहीं अपितु उसके प्रति निर्लज्ज विश्वासघात भी है। अतएव राजीव सरकार शासन करने का नैतिक अधिकार खो चुकी है। इसलिए उसे पुनः जनादेश प्राप्त करना जरूरी है। आदि आदि।

अप्रभावी सच

यह विश्लेषण सच है। क़िन्तु अप्रभावी है। इसका कोई परिणाम निकलने की संभावना नहीं हैं यदि इस विश्लेषण को परिणामकारी बनाना है तो सरकार पर अंकुश रखने के लिए जनमत का दबाव बनाए रखना ही एकमात्र उपाय बचा रहता है। क्योंकि संसद में विपक्ष बहुत ही कमजोर है, इस कारण विपक्षी दल विभिन्न आयोजनों द्वारा ज्वलंत प्रश्नों पर जन-जागरण करते रहते हैं।

विभिन्न रैलियों में उपस्थिति तथा अन्य कार्यक्रमों में जनता की भागीदारी से निश्चित रूप से यह आभास होता है कि वर्तमान सरकार के विरूद्ध जनअसंतोष

काफी बढ़ चुका है और यदि उसे संगठित कर लिया जाय तो राजीव सरकार का हटना कोई मुश्किल बात नहीं है। इसी संभावना से प्रेरित विभिन्न प्रतिपक्षी दल अपनी-अपनी व्यूह रचना में संलग्न हैं। पर इन दलों का हाल क्या है? उनकी गतिविधियों पर दृष्टिपात करना अत्यन्त रोचक होगा।

भारतीय मानस का सच

पिछले दिनों राजीव सरकार का विकल्प बनाने के लिए अनेक सुझाव प्रस्तुत किए गए। एक सुझाव वामपंथी मोर्चा अर्थात् मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी और उसके सहयोगियों द्वारा किया गया है। इसके अनुसार वामपंथी दलों का एक मंच बने जो उन गैर वामपंथी दलों के साथ गठजोड़ करे जिन्हें कम्युनिस्ट सेक्युलर एवं जनतांत्रिक मानते हैं। कुल मिला कर इसका मतलब है वामपंथी मोर्चे के साथ भाजपा रहित शेष गैर कांग्रेसी राष्ट्रीय दलों की युति बैठाई जाय। दूसरे शब्दों में इसे भाजपा को अलग-अलग करने की दुरभिसंधि भी कहा जा सकता है। पर यह फार्मूला बहुत से लोगों को अव्यावहारिक लगता है। जार्ज फर्नांडीस, मधुलिमये, चौधरी देवी लाल और सुरेन्द्र मोहन आदि नेताओं का मानना है कि भाजपा को छोड़कर कोई सार्थक विकल्प नहीं बन सकता। इसका कारण यह सच्चाई भी है कि भारतीय मानस कम्युनिस्ट तौर-तरीकों को स्वीकार नहीं करेगा।

जनता पार्टी

दूसरा सुझाव चन्द्रशेखर का है कि 1977 की भावना पुनः जगाई जाय। राष्ट्रीय स्तर पर बनी पार्टियां, जिनसे मिलकर जनता पार्टी बनी थी, फिर से उसी में शामिल हो जाएं। इस दिशा में उन्होंने अजीत सिंह वाले लोकदल और मेनका गांधी के संजयमंच को अपने दल में मिला भी लिया। नतीजा यह हुआ कि लोकदल (ब), जो वास्तविक लोकदल है, इस विलीनीकरण से नाराज हो गया। इससे विपक्षी एकता के मार्ग में अवरोध तो उत्पन्न हुआ ही, स्वयं जनता पार्टी टूटने के कगार पर जा पहुंची।

तीसरा रास्ता

एक तीसरा रास्ता बताया जनमोर्चा के नेता राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह ने। उनका कहना है कि सर्वप्रथम राष्ट्रीय स्तर पर मध्यमार्गी पार्टियां मिल कर एक पार्टी बनाएं, फिर उसमें क्षेत्रीय पार्टियां विलीन हो जाएं तथा यह पार्टी फिर बाकी बची पार्टियों के साथ चुनावी समझौता कर ले अर्थात् जनता पार्टी, लोकदल, जनमोर्चा यह सब मिल कर एक पार्टी बना लें फिर उसमें तेलगुदेशम, असम गण परिषद्, अकाली दल जैसी पार्टियां भी आ मिलें और इस पार्टी का चुनावी समझौता एक तरफ भाजपा से और दूसरी तरफ वाम मोर्चे से हो। पता नहीं इसकी संभावनाएं क्या होंगी। कहते हैं कि सर्वश्री बहुगुणा, चन्द्रशेखर, विश्वनाथ प्रताप सिंह, चौधरी देवीलाल, सुब्रह्मण्यम स्वामी, शहाबुद्दीन, जार्ज फर्नाडीस, बीजू पटनायक और अजीत सिंह जो एकरूपता उजागर होगी वह व्यापक होगी और उसमे आंध्र के रामाराव और असम के प्रफुल्ल

महंत के शामिल होने से पार्टी का विस्तार भी बहुत दूर तक दिखाई देगा। एक तरह से यह भाजपा रहित पुरानी जनता पार्टी होगी। जिसमें कुछ नए किन्तु महत्वपूर्ण नेता शामिल होंगे। ध्यान दीजिए, इसमें एक-दो लागों को छोड़कर शेष सभी विभिन्न अवसरों पर कांग्रेस से बाहर आए हुए महारथी ही होंगे। विशेषकर नेतृत्व की दौड़ में जो नाम संभावित है या चर्चा में है वे सबके सब एक ही और समान राजनीतिक संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं।

ईमानदार मोर्चे का विचार

एक और स्थापना अभी कुछ दिन पहले अखबारों में छपी हैं वह है "देवीलाल थीसिस" इसमें बताया गया है कि, "हिन्दुस्तान में पार्टियां महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण हैं नेता।" इस सुझाव के अनुसार सर्वश्री चौधरी देवीलाल, राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह, रामकृष्ण हेगड़े, बीजू पटनायक और अटल बिहारी वाजपेयी भारत में ऐसे पांच नेता हैं जो अगर इकट्ठे होकर जनता के पास जायं तो उनके पीछे सारा देश इकट्ठा हो जायगा अर्थात जनता रूपी द्रोपदी का राजीव सरकार और इंका दल द्वारा चीरहरण किए जाने पर इन 'पांचों पतियों' को उनकी रक्षा के लिए तैयार देखकर देश में धर्मयुद्ध का बिगुल बज उठेगा। पर इस धर्मयुद्ध का श्रीकृष्ण कौन होगा, यह विवादास्पद है। इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया है कि चन्द्रशेखर प्रधानमंत्री पद के पुराने उम्मीदवार तो हैं पर अब वे रास्ता भटक गए हैं और इसलिए उनको इस नेतृत्व में शामिल नहीं किया जा सकता। एक और नया आयाम इस सुझाव में जोड़ा गया है कि चौधरी देवीलाल और राजा विश्वनाथ प्रताप सिंह स्वयं में एक चमत्कार हैं। यदि पाटियों का विलीनीकरण हुआ तो यह दोनों चमत्कार समाप्त हो जायेंगे। यह भी कहा गया है कि चन्द्रशेखर जनता पार्टी में सबको शामिल करके इस चमत्कार को खत्म करना चाहते हैं। यह स्थापना सभी पार्टियों को संदर्भहीन तो बनाती ही है भारतीय जनतंत्र की प्रकृति के बारे में भी बहुत कुछ कहती है। इसमे कोई शक नहीं कि चौधरी देवीलाल ने हरियाणा में तो अवश्य चमत्कार दिखाया पर उसका विश्लेषण यह कैसे हो गया कि अन्य पार्टियां निरर्थक हैं। भूलना नहीं चाहिए कि आंध्र में रामाराव ने भी चमत्कार दिखाया था और यह भी कि असम गण परिषद् की सफलता किसी व्यक्ति विशेष के चमत्कार पर आधारित नहीं थी। पार्टी के तौर पर भाजपा ने अपने अस्तित्व को किसी पार्टी में विलीन न करने का फैसला अभी तक बदला नहीं है। लालकृष्ण आडवाणी, अटल बिहारी वाजपेयी, हेमवती नन्दन बहुगुणा अभी तक बेईमान विलीनीकरण की अपेक्षा ईमानदार मोर्चा बनाए जाने के विचार को ही उचित और उपयोगी बता रहे हैं।

मतदाता या बंधुआ मजदूर

संक्षेप में यह है कहानी उस अभ्यासक्रम की जो पिछले दिनों विपक्षी एकता या

विकल्प की तलाश में किया गया। प्रश्न यह है कि इसका लाभ किसे पहुंच रहा है विपक्ष की दूरियां घटीं या बढ़ीं? इन दोनों प्रश्नों का विस्तृत उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है। यह जग जाहिर है कि इसमें कांग्रेस को बेहिसाब लाभ पहुंच रहा है। कांग्रेसी समझ रहे हैं कि विपक्ष में आपस में एक राय बननी मुश्किल है और यदि आम राय बन भी गयी तो उसका टिकना और भी मुश्किल है। इसलिए उन्हें कुछ नहीं, केवल विपक्षी दलों की एकता और तालमेल का सच्ची-झूठी कहानियां प्रसार माध्यमों द्वारा समय-समय पर प्रसारित करते रहना हैं। जनता स्वयं समझ जाएगी की विपक्ष में क्या-क्या गुल खिल रहे हैं।

शायद इस तथ्य की तरफ इन नेताओं क़ा ध्यान नहीं गया कि इसके कारण जनमानस पर एक गहरा विपरीत परिणाम यह हो रहा है कि आम नागरिक अब यह समझने लगा है कि देश के भविष्य-निर्माण में उसकी भूमिका कोई नहीं रही है। वह तो सिर्फ एक बंधुआ मजदूर है। कुछ गिने-चुने नेताओं की हर अदा पर अपनी जान कुर्बान करते रहना ही उसकी नियति हैं। जब कहा रैली में आ गए। जब कहा पार्टी के अधिवेशन में पहुंच गए। जब कहा तब किसी दूसरी पार्टी में मिल गए और जब कहा तब अलग हो गए। विकल्प के नेतागण समझते हैं कि वे जब और जहां, जैसा भी फार्मूला निकाल लेंगे जनता उसे आदतन मानने को मजबूर है। वह जाएगी कहां? उसके पास चारा ही क्या है सिवाय उनके आदेश आंख मूंद कर मानने के? कल तक उन्होंने जिन्हें आपत्काल के अपराधों के लिए जिम्मेदार माना था आज अगर उसने झण्डा बदल लिया तो जनता को भी वैसे ही अपना मन बना लेना चाहिए। वे समझते हैं कि अपनी अध्यक्षता बनाए रखने के लिए अपनी ही पार्टी के मुख्यमंत्री को जब चाहें तब हिला दें। उसके विरोधीगुट को शह दे दें तो जनता को भी एक दम यह मान लेना चाहिए कि यह सब प्रतिपक्षी एकता के हित में है। और अगर आज नेता जी भाजपा से उसके सेक्युलरिज्म का प्रमाण पत्र मांगे और कल वामपंथ को अपना स्वाभाविक मित्र कहें, परसो भाजपा की मदद से राज्यसभा में अपना आदमी चुनवा लें और तरसों फिर वामपंथ को गरीबों का मसीहा बता दें तो जनता का फर्ज है कि वह उनकी हर बात का समर्थन करे। क्योंकि जनता उनकी बन्धुआ मजदूर है जो उनकी हर बात पर ताली बजाएगी और 'जो हुकुम सरकार' कह कर उनके पीछे सिर झुकाएं चलती रहेगी। जनता इस बात को देख रही है कि क्या प्रधानमंत्री सिर्फ वही बन सकता है जो कांग्रेस कुल में है या कभी था। इस के अलावा और किसी को भी अवसर मिलने की गुजांइश है कि नहीं? क्या कांग्रेस के विकल्प का मतलब सिर्फ भूतपूर्व कांग्रेसी होना ही है या और भी कुछ हो सकता है?

दुर्भाग्य को न्यौता

प्रतिपक्षी नेताओं जनता की शुभकामनाएं आप के साथ हैं। देश राजीव गांधी को

हटाना चाहता है। आप नेकनीयती और शुद्ध बुद्धि से ईमानदार तालमेल से या अपने बल पर साहस दिखाओ तो चुटकी बजाते ही यह भ्रष्ट सरकार समाप्त हो सकती हैं लेकिन जनता को बंधुआ मजदूर (टेकन फार ग्रांटेड) समझने का भ्रम तो न पालें। जनता शासक दल पर ही नहीं विरोधी दलों के क्रियाकलापों पर भी बारीक नजर रखे हुये हैं। अगर विपक्ष का यह कहना है कि राजीव गांधी की पार्टी को इसलिए वोट न दिया जाय कि उसकी कथनी और करनी में बहुत अन्तर आ गया है तो विरोधी दलों की भी कथनी और करनी का अन्तर समाप्त होना चाहिए। महात्मा गांधी, डा० लोहिया, पं० दीनदयाल और जेपी को इसलिए जनसमर्थन मिला था कि उनकी कथनी और करनी में कोई फर्क नहीं था। कहीं ऐसा न हो जाय कि विकल्प के नेता सोचते हों कि उनके कहने मात्र से ही जनता उन्हें अवतारी और चमत्कारी पुरूष मान लेगी। जनता उनके हर फार्मूले को सिर झुकाकर स्वीकार कर लेंगी। यदि समय आने पर जनता ऐसा करने से इन्कार कर दे तो निश्चित ही यह देश का सबसे बड़ा दुर्देव होगा। कहीं इस नासमझी से जनता में प्रतिपक्ष की रही-सही साख भी न बिखर जाय।

देश की जनता को बंधुआ मजदूर समझने की भूल न करे। यह भी न भूलें कि जिन महानतम आशाओं के साथ हजारों वर्ष की दासता के बाद स्वाधीन भारत का पुनः उदय हुआ था वे आशाएं अभी मरी नहीं, जीवित हैं। गत चालीस वर्षों की स्वाधीनता ने न केवल यह सिद्ध किया है कि भारत इतना विस्तृत भू भाग वाला देश नहीं है कि उस पर शासन नहीं किया जा सकता अपितु यह भी प्रमाण दे दिया है इस देश की जनता इतनी स्वतंत्र प्रकृति की और स्वाभिमानी है कि उस पर मनमाने तरीके से बहुत दिनों तक दुःशासन नही किया जा सकता। इस देश की जनता को कुकुरमुत्ते की छाया में जल प्लावन से बचने का सही उपाय बताने की चालाकी न करें। अभी उसे अपने अतीत का स्मरण है। वह गोवर्धन का महाछत्र बना कर इन्द्र और वरूण के कोप का सामना कर चुकी है। वह अपना महानायक स्वयं बनाती है। महानायक का मुखौटा लगाकर उसे भरमाया नहीं जा सकता। उसका महानायक उसके मन में पलता है। जब व्यक्ति की भौतिक शक्ति असहाय हो जाती है तो जनचेतना कभी-कभी खम्भे मे से भी महानाद करते हुए महानायक को प्रकट करा देती है। यह न भूलें कि किसी देश का उत्थान या पतन केवल कुछ नेताओं के भाग्य से जुड़ा नहीं होता? क्या मतदाताओं को अपना बंधुआ मजदूर मान कर देश के दुर्भाग्य को न्यौता दे रहे हैं देश के विकल्प के ये नेता?

17 अप्रैल, 1988

अंधेरे का अभिवादन, झूठ का सम्मान

विभाजन स्वाधीन भारत की विकटतम त्रासदी है। कोई समाज अपने इतिहास की उपेक्षा नहीं कर सकता। जो लोग इतिहास को भूल जाते हैं। वे उसे दोहराने के लिए अभिशप्त हैं।

धारावाहिक तमस के ये ध्येय और बोध वाक्य हैं। चाहें तो इन्हें सुभाषित भी कह सकते हैं। इन छलिया वाक्यों और शासन की सोच की युति ने तमस फिल्म को राष्ट्रीय एकता के सर्वोत्तम पुरस्कार से गौरवान्वित किया है। पश्चिमी बंगाली कम्युनिस्ट सरकार भी तमस के लेखक और फिल्म निर्माता को सम्मानित कर चुकी है। पुरस्कार और सम्मान का यह सिलसिला किस दिशा की ओर संकेत करता है, यह विचारणीय है।

प्रश्न ईमानदारी का है

भीष्म साहनी का उपन्यास कैसा है, गोविन्द निलहानी का धारावाहिक कैसा रहा, यह बहुत अधिक महत्वपूर्ण मुद्‌दा नहीं है। महत्वपूर्ण मुद्‌दा है उसका हेतु। महत्वपूर्ण हैं ये प्रश्न कि क्या लेखक और फिल्मकार सचमुच देशवासियों को इतिहास-सत्य का साक्षात्कार कराना चाहते थे? क्या उनका इरादा राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने का था? क्या वे अपने घोष वाक्य के प्रति ईमानदार हैं?

पहले तमस धारावाहिक के घोष वाक्य को लें। विभाजन की विकटतम त्रासदी के संदर्भ में दिखाया गया है कि ''जो लोग इतिहास को भूल जाते हैं वे उसे दोहराने के लिए अभिशप्त हैं।' धारावाहिक का आरम्भ ही सत्य के साथ बलात्कार से होता है। जार्ज संतायन का सुभाषित तक जस का तस नहीं दिखाया गया, उन्होंने लिखा था ''जो लोग इतिहास से शिक्षा नहीं लेते, वे उसे दोहराने के लिए अभिशप्त होते हैं।'' राष्ट्रीय एकता का सर्वोत्तम सरकारी पुरस्कार प्राप्त करने वाला तमस यदि भूले हुए इतिहास का स्मरण दिलाने का प्रयास होता तो शायद इतनी चीख-पुकार न होती। यह प्रयास था उन तथ्यों पर परदा डालने का, जो भारत की राजनीतिक आजादी से जुड़े इतिहास की विकटतम त्रासदी है। जिसके कारण भारत का विभाजन हुआ। लाखों लोगों की हत्या की गई हजारों नारियां बलात्कार की शिकार हुईं। करोड़ों लोगों को घरबार छोड़कर भारत की ओर भागना पड़ा। पाकिस्तान से भाग कर भारत आने वाले

लोगों में तमस उपन्यास के लेखक भी हैं। यदि वे यह बताते हें कि किसके भय से भाग कर शेष बचे भारत में आये थे तो ईमानदारी होती। सत्य के साथ इतनी बेईमान छेड़छाड़? आश्चर्य!

किन्तु आश्चर्य क्यों? तमस विकृति और तोड़-मरोड़ का एक काला अध्याय मात्र है। तमस धारावाहिक का समय देखिए। पंजाब का आतंकवाद, दार्जिलिंग का आन्दोलन, श्रीलंका में तमिलों की समस्या, राजनीतिक स्वाधीनता की चालीसवीं वर्षगांठ और तमस धारावाहिक की युति? शासक दल ने आजादी की महान दौड़ का आयोजन किया तो लोगों के मन में यह सहज सवाल उठा कि क्या यह आयोजन स्वाधीन भारत की राष्ट्रीय एकता की रक्षा का ईमानदार प्रयास था कि देश का पुनः विभाजन न हो और राष्ट्र के रूप में उसका अस्तित्व बना रहे? इस सवाल को दिल्ली के स्टेट्समैन में श्रीराम झा ने और आगे बढ़ाया कि "क्या इससे यह दर्शित नहीं होता कि राष्ट्र निर्माण के प्रयास चुक जाने के कारण देशवासियों को इस प्रकार की पागल दौड़ों में लगाया जा रहा है। देश का संचालन न करके वे लोगों को देश के लिए दौड़ा रहे हैं? सत्तारूढ़ दल के सलाहकार शायद यह भूल गए कि अभी-अभी चालीस वर्ष पूर्व लोग अपनी जीवन रक्षा करने के लिए भाग रहे थे। उन्हें अपनी जन्म भूमि छोड़कर शेष बचे भारत में शरण लेनी पड़ी थी। क्या उन लोगों ने कभी यह कल्पना की होगी कि अपना जीवन बचाने के लिए उन्हें स्वाधीन भारत में निराश्रित के समान इधर-उधर भटकना होगा? क्या उन्होंने कभी यह सोचा होगा कि इतिहास के नाम पर उन्हें एक सर्वथा झूठा इतिहास पिलाया जाएगा। किन्तु जो कुछ उन्होंने सोचा नहीं था वही सच निकला। उन्होंने जिसकी कल्पना तक नहीं की थी वही साकार हुआ। बिना किसी प्रतिवाद के प्रतिदिन उन्हें एक सर्वथा झूठा इतिहास हजम करना पड़ रहा है। और जब वे झूठ का प्रतिवाद करते हैं अल्पसंख्यकों की सुरक्षा ओर साम्प्रदायिकता को कुचलने के नाम पर उनकी तौहीन की जाती है। धुआंधार प्रचार का शिकार बनाकर सहज ही धोखा खा जाने वाले अधकचरे दर्शकों को हांक कर दूरदर्शन के सामने बिठा दिया जाता है कि एक सरासर झूठ को सच मान कर देखो और उसे ही स्वीकार करो।" झूठ को सच बनाने का एक और चरण था तमस को राष्ट्रीय एकता की सर्वोत्तम फिल्म के पुरस्कार से सम्मानित करना कि जिसने उसे अब तक न देखा हो वह अब देख ले और इतिहास सत्य को नकार कर सर्वथा असत्य को पूर्णतः सत्य मान ले।

त्रासदी के गवाह

भारत राष्ट्र के जीवन की यह शोकान्तिका नई नहीं है। इसे इसकी जीवन यात्रा के आरंभ के साथ जानबूझ कर जोड़ा गया है। जिस मानसिकता ने भारतभूमि को आक्रमणकारियों का जमावड़ा और आवारों की सराय बताया उसी मानसिकता ने

धारावाहिक तमस का निर्माण, प्रसारण और स्वागत किया-कराया। जिस विकृत मानसिकता ने भारत राष्ट्र का विभाजन कराया उसी मानसिकता ने विभाजन की विकट त्रासदी और इतिहास पर 'तमस' का परदा भी डाला।

क्या है भारत विभाजन की त्रासदी? विभाजन की त्रासदी के हजारों भुक्तभोगी गवाह अभी जीवित हैं। उनके बेटे-बेटियां चालीस साल की युवा जरूर हो गए लेकिन उनकी सूनी आंखों में यदि कोई झांक कर देखे तो वह भारत विभाजन के इतिहास से साक्षात्कार कर सकता है। वे बता देंगे कि निलहानी और भीष्म साहनी जिन्हें रक्षक बता रहे हैं वे ही साम्प्रदायिकता की आग जलाने वाले और विभाजन के अपराधियों में अगुआ हैं। जब तक तमस केवल उपन्यास रहा तब तक किसी ने उसका विरोध करना तो दूर उस ओर ध्यान तक नहीं दिया। लेकिन जब उसे इतिहास बताया जाने लगा तो विवाद शुरू हुआ। जब इतिहास के साथ विश्वासघात किया जाने लगा तो शोर मचा। रविवार के श्री राजकिशोर भी यह लिखते हैं कि "तमस की वास्तविक आलोचना तब शुरू हुई जब बाद की किश्तों में कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास-विरुद्ध तथा राजनीति-प्रेरित गौरवान्वयन का अश्लील नजारा देखने को मिला। भारतीय स्वाधीनता संघर्ष के साथ कम्युनिस्टों का रिश्ता हमेशा विवादग्रस्त रहा है। इसमें संदेह नहीं कि भीष्म साहनी ने इतिहास के साथ विश्वासघात किया है।"

"यह मानना कि सिर्फ अंग्रेजों के कारण जिन्ना का अभ्युदय हुआ या भारत विभाजन हुआ, निर्बुद्धि, भोलापन है। यह कुछ वैसी ही बात हुई कि भारत में जो कुछ अच्छा है, वह हमारे कारण है और जो कुछ बुरा है, उसका एकमात्र कारण अंग्रेज या ब्रिटिश साम्राज्यवाद है। अंग्रेजों ने भारत में जो कुछ किया उसकी आलोचना अवश्य होनी चाहिए। लेकिन दबावों और स्थानों के बारे में भी भूलना नहीं चाहिए जो अंग्रेजों के बावजूद थे। 47 के पूर्व की मुस्लिम साम्प्रदायिकता ऐसी ही एक चीज है। वह तब तीव्र हुई जब भारत को आजादी मिलनी लगभग तय हो गयी थी। उसके पीछे शताब्दियों का विद्वेष तो काम कर ही रहा था, यह भी कार्यरत था कि स्वाधीन लोकतांत्रिक भारत में अल्पसंख्यक मुसलमानों का क्या होगा? यह विद्वेष और यह भय ही जिन्ना की मूल राजनीतिक पूंजी थी। दंगे भी इसीलिए आयोजित किए गए ताकि कांग्रेस पर दबाव डाला जा सके कि वह भारत विभाजन को मंजूर कर ले। बलवीर जी (संपादक, रांची एक्सप्रेस) का यह कहना शत-प्रतिशत सही है कि वास्तव में मार्च-अप्रैल 1947 मे रावलपिण्डी डिवीजन में जो दंगे हुए, वे दंगे नहीं थे, एक प्रकार का नरसंहार था जिसका नेतृत्व मुस्लिम लीग ने किया था।........ध्यान देने की बात है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता का गुस्सा हिन्दू नेता (यहां एक खास अर्थ में) पर ही फूटा मुसलमानों के खिलाफ नहीं। सच तो यह है कि हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठन उन दिनों बिल्कुल हाशिये पर थे। राजनीति में उनकी कोई जगह नहीं थी। उनकी राजनीतिक शाखा भारतीय जनसंघ की स्थापना 1952 में

हुई। विभाजन पूर्व भारत को 'तमस' की पृष्ठभूमि बनाते समय भीष्म साहनी को इन सब बारीकियों पर गहराई से विचार करना चाहिए था। तब शायद उनके उपन्यास का चेहरा ही बदल जाता।"

"भीष्म साहनी मार्क्सवादी है अतः उनका विश्वास है कि वामपंथी ताकतें ही साम्प्रदायिक (साम्प्रदायिक ही क्यों हर प्रकार की) चुनौती का मुकाबला कर सकती हैं। इसलिए वे विभाजन पूर्व भारत मे कम्युनिस्टों की भूमिका का अतिरंजित चित्रण करते हैं मानो उस वक्त सबका दिमाग खराब हो गया था, सिर्फ कम्युनिस्ट ही होशमंद थे।"

प्रसिद्ध क्रांतिकारी और लेखक श्री मन्मथनाथ गुप्त लिखते हैं—"कहीं भी 260 पृष्ठों की इस पुस्तक (तमस) में यह बात उभर कर तो क्या किसी भी रूप में सामने नहीं आई कि कम्युनिस्ट पार्टी (स्मरण रहे, उस समय तक एक पार्टी थी) पाकिस्तान का समर्थन कर रही थी। कम्युनिस्ट जातियों के आत्मनिर्णय मे विश्वास करते हैं पर उस समय के भारतीय कम्युनिस्टों ने शायद यह सोचकर कि इस तरह हम मुसलमानों को खुश करके अपनी तरफ खींच सकेंगे, जातियों का अर्थ एक धर्मावलम्बियों कर दिया।"

"रांची एक्सप्रेस के सुयोग्य संपादक ने यह लिखा है कि भीष्म जी को इस सिद्धान्त के अनुसार भाग कर भारत में नही आना चाहिए था। यह शायद संपादक जी भूल गए कि सज्जाद जहीर, डा० अशरफ (दोनों बाद के मेरे दोस्त) साम्यवाद का झण्डा लेकर पाकिस्तान गये थे पर सैनिक डिक्टेटरों की नादिरशाही से घबराकर पूंछ दबा भाग आए।"

भूलने का परिणाम

यह तो है उपन्यास और धारावाहिक का सत्य। अब इतिहास से शिक्षा न लेने और भूल जाने के परिणाम की परीक्षा करें। 1947 के पूर्व का इतिहास भूले, उससे शिक्षा नहीं ली तो पाकिस्तान बना। 1947 के भारत-विभाजन और आजादी की लड़ाई के इतिहास से सबक नहीं सीखा तो आजादी के बाद भारत की शेष बची अखण्डता, एकता और एकात्मकता के लिए खतरा पैदा हो गया। इतिहास को भुला देने का ही परिणाम है पंजाब का आतंकवाद और खालिस्तान की मांग। इतिहास न भूले होते तो हम अपने ही अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह न लगाते। अपने पूर्वजों को परायों, बाहरी और आक्रमणकारियों की कतार में खड़ा न करते। हमने इतिहास बनाया तो किन्तु उसे ठीक से बताया और लिखा नहीं। यदि हममें अभी केवल चालीस वर्ष पुराने ताजा इतिहास का सत्य स्वीकार करने और बताने का साहस नहीं है तो हजारों साल पुराने इतिहास सत्य का सामना भी नहीं कर सकते। यदि हम इस सत्य का पता लगा लें, तो इतिहास चाहे जितना पुराना हो सदा ताजा ही रहेगा, कि इस देश का वासी कौन है? कौन है वह समाज जो इस देश को बनाता और इसके लिए मर मिटता है? कौन है वे

लोग जो आपत्ति के समय अपनी देशमाता के आंचल की ओर ही दौड़ते हैं और कौन हैं वे लोग जो आपत्तियां उत्पन्न करके देश को काटने, उजाड़ने, करोड़ों लोगों की शाश्वत मां का आंचल फाड़ने और उसे अपमानित करने में गौरव का अनुभव करते हैं? कौन हैं जो उसे देवी मानते हैं, और कौन हैं वे जो उसे डायन कहकर उसका तिरस्कार करते हैं? कोई सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' का गीत गढ़ने वाला इकबाल पाकिस्तान क्यों भाग गया? भारत विभाजन और पाकिस्तान बनाने में वह सहायक क्यों बना? ये प्रश्न तेजाब की तरह तेज हैं किन्तु उनका जवाब उस जहर को शान्त कर सकता है जो देश को तोड़ता और राष्ट्र जन की जान लेता है। लेकिन तथाकथित सेकुलरिस्ट इन प्रश्नों का उत्तर देने से कतराते हैं।

सच-सच बताइए

भारत विभाजन की विकट त्रासदी आजादी के बाद जन्में लोगों को दिखाना और बताना ही था तो उसे सच-सच दिखाते कि वे अपने और अपने देश के भविष्य के प्रति सावधान हो जाते? यदि साम्प्रदायिक उन्माद का वीभत्स स्वरूप ही दिखाना था तो मुस्लिम लीग की सीधी कार्रवाई का दृश्य दिखाते। यदि विश्वासघात का नमूना ही पेश करना था तो कम्युनिस्टों की कुटिल कुचाल पर कैमरा घुमाते। यह भी तो इतिहास का सत्य है कि भारत में रह रहे मुसलमानों को यहां के हिन्दुओं ने नहीं भगाया। उन्हें पाकिस्तान के प्रति उनके प्रेम ने भड़काया कि 'पाकिस्तान चलो। आज हंस कर, तालियां बजाकर, बातचीत करके, धमकियां देकर, चाकू चलाकर पाकिस्तान लिया है तो कल लड़कर पूरा हिन्दुस्तान ले लेंगे। हम मुसलमानों को हिन्दुस्तान को पूरी तरह हथियाना है पाकिस्तान तो उसकी मात्र शुरूआत है।' यह जोश जिन लोगों ने जगाया, उनके चेहरे क्यों नहीं दिखाए गए? पाकिस्तानी इलाके और दिल्ली के उन दृश्यों को क्यों नहीं दिखाया गया कि जब सरकार असफल और असहाय हो गयी तो किस संस्था ने शरणार्थियों को रोटी-पानी दिया। भंगी कालोनी में जब गांधी जी असुरक्षित हो गए तो किसने उनकी पहरेदारी की? बीमार शरणार्थियों को दवा और निराश्रितों को ठौर-ठिकाना किसने दिया? विभाजन से पीड़ित लोगों को अपने जिगर का टुकड़ा मानकर किसने बिना किसी भेदभाव के सबकी सेवा की? मजहब के नाम पर देश का बंटवारा होने की त्रासदी का इतिहास-सत्य बताते तो साम्प्रदायिकता का शैतान सकते में आ जाता। देश की एक राष्ट्रीय धारा को दो धाराओं में बांटने की नादानियों का दृश्यांकन करते तो राष्ट्रभक्ति का भाव जागता। एकता-एकात्मता उपजती। यह इतिहास को भूलने का नतीजा है, यह इतिहास से कुछ न सीखने का परिणाम है कि जो जब चाहता है अपने लाभ के लिए उसे ही इतिहास बता देता है।

शैलेश मटियानी का यह कथन कि 'जिस दूरदर्शन पर रामायण के प्रसारण से हिन्दू साम्प्रदायिकता फैलाने का आरोप लगाया गया था, उसे ही तमस के प्रसारण से

साम्प्रदायिक एकता, साम्यवादी चेतना और अंधेरे में टटोलने की ईमानदार, व्यथापूर्ण और चेतना सम्पन्न कोशिशों में जुटा सिद्ध करने का भोलापन दिखाते हैं', सहज स्वीकार करने को मन करता है।

स्मरण रहे कि इतिहास कभी किसी के प्रति सदाशय नहीं होता। वह इतना क्रूर होता है कि किसी को कभी क्षमा नहीं करता। उसे अपना मखौल बर्दाश्त नहीं होता। रविवार के श्री राजकिशोर की यह स्थापना यथार्थ है कि कम्युनिस्ट अपनी तात्कालिक जरूरत के अनुरूप इतिहास को तोड़ते-मरोड़ते हैं। मैं यह शिकायत करना चाहता हूं कि काश! अपने इस तोड़ने-मरोड़ने के इतिहास से ही उन्होंने कुछ सीखा होता। जो इतिहास से नहीं सीखता, इतिहास भी उसे कुचल कर आगे बढ़ता है।

कांग्रेस और उसके नेताओं ने तब देश के अतीत के अनुभव और इतिहास से कुछ नहीं सीखा तो पाकिस्तान बना और यदि आज हम अपने वर्तमान से कोई बोध प्राप्त नहीं कर रहे हैं तो हमें दूसरे विभाजन की त्रासदी झेलने के लिए तैयार रहना होगा। इसी कारण देशवासियों को साम्प्रदायिक विद्वेष की आग में झोंकने वाला तमस जैसा धारावाहिक पुरस्कृत होकर गौरवान्वित हो रहा है। आज का उसका झूठ ही बीते कल के इतिहास का सत्य बनकर स्थापित हो रहा है। तबके हमारे मौन ने पाकिस्तान बनवाया तो अबकी हमारी चुप्पी भी उसी तरह का कोई खूनी और काला अध्याय अवश्य लिखायेगी। उसके लेखक और निर्माता पाकिस्तान और तमस के निर्माता लेखक की वंश परम्परा के लोग ही होंगे। और हम होंगे उस त्रासदी के शिकार और बाद में कुछ बोलेंगे तो अपमानित किये जायेंगे। इसलिए जरूरी है कि हम अपने अतीत और इतिहास को न भूलें, बहकावे में न आयें, छल का मर्म समझें। इतिहास से सीखें।

अपने इतिहास के मूल तक जायें। उसकी गहराई में उतरें। सतह पर ही न तैरते रहें। तमस फिल्म को राष्ट्रीय पुरस्कार दिया जाना अंधेरे का अभिवादन, झूठ का सम्मान, साजिश और छल को प्रतिष्ठा प्रदान करने के अलावा और कुछ नहीं।

1 मई, 1988

वर्तमान का संदर्भ बिन्दु

महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल् में लिखा है "सता हि संदेह पदेषु वस्तुषु प्रमाणं अन्तःकरण प्रवृत्तयः"। अर्थात् यदि संदेह उत्पन्न हो जाय तो अपने अन्तःकरण की आवाज को प्रमाण मानो।

क्यों लिखना पड़ा महाकवि कालिदास को यह सुभाषित? क्यों नही उन्होंने पूर्व प्रचलित सुभाषित 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' कह कर दुष्यन्त और शकुन्तला से जुड़ी समस्त गुत्थियों को सुलझाने का सूत्र दोहरा दिया?

इन प्रश्नों का संदर्भ कालिदास के अतीत के दुष्यन्त से ही नहीं हमारे वर्तमान से भी जुड़ा हुआ है। जब 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' अर्थहीन हो जाता है तो ही कालिदास को 'प्रमाणं अन्तःकरण प्रवृत्तयः' लिखना पड़ता है कि चारों ओर घना अन्धकार हो, प्रकाश की किरण दूर-दूर तक कहीं दिखाई देती न हो, सभी संदर्भ बिन्दु अप्रभावी और प्रेरणाहीन हो चुके हों तो अपने अन्तः के भगवान को पुकारो और फिर वहां से जो आवाज आये उसी से बोध प्राप्त करो—वही प्रमाण होगा।

हम भारत के लोग आज ठीक इसी बिन्दु पर खड़े हैं। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' का संदर्भ अब अर्थहीन हो चुका है।

इस संदर्भ में जुड़े प्रमाण या तो परमेश्वर की कृति बन चुके हैं या फिर तथाकथित आधुनिक महापुरूषों की कुकृति या कुकर्म। अब आम आदमी के पास स्वयं से पूछने के लिए उसके बहुत समीप तत्काल वह सार्थक, सक्षम और समाधानकारक संदर्भ नहीं है कि "यदि हमारे आगे-आगे चलने वाला नेता हमारी अमुक स्थिति में हो तो वह क्या करेगा?"

टूटते सन्दर्भ

यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को घूस दे रहा हो तो घूस लेने वाला व्यक्ति अपने संदर्भ बिन्दु प्रधानमंत्री राजीव से सवाल करे कि 'यदि इस स्थिति में राजीव होते तो क्या करते, तो उसे क्या उत्तर मिलेगा? यह अब अनुमान का विषय नहीं रहा। यदि कोई व्यक्ति अपने कुकृत्यों के जाल में फंसा हो और वह स्वयं से यह सवाल पूछे कि इसे छिपाऊं या बताऊं, इसे स्वीकार करके सजा भोगूं कि अस्वीकार करके किसी और अपराधी की तलाश करूं तो उसके सामने जवाब के रूप में सुरक्षा

मंत्रालय के भटनागर समिति की रपट के पन्ने फड़फड़ा उठेंगे कि अपराध स्वीकार मत करो, उस पर लीपापोती करके खुद को दूध का धुला बताकर शान के साथ सीना तान कर मर्यादा और चरित्र के लिए चुनौती बनकर रहो। आज जब कोई न्यायाधीश आज के शासक का न्याय करने बैठता है तो उसका संदर्भ बिन्दु न्याय से हटकर अनायास उसके स्थान्तरण के साथ क्यों जुड़ जाता है? शासकों का संदर्भ विक्रमादित्य और न्यायाधीशों का संदर्भ रामशास्त्री के साथ क्यों नहीं जुड़ता?

जब बड़े लोग छल और प्रपंच करने लगते हैं तो उनका प्रमाण सार्थक और शुभ प्रमाण नहीं रह जाता। जब प्रमाण अपनी प्रामाणिकता गंवा देता है तो भ्रष्टाचार को ही सदाचार मान लेने के अलावा आम आदमी के पास और कोई मार्ग नहीं रह जाता। वह अपनी यात्रा के एक ऐसे अंधे मोड़ पर पहुंच जाता है कि आगे बढ़ नहीं सकता, पीछे हट नहीं सकता। ऐसी स्थिति में महाकवि कालिदास का "प्रमाणं अन्तःकरण प्रवृत्तयः" श्लोक जन्मा था।

'महाराज का संदेश'

आज के "महाजनों" को प्रमाण मानेंगे तो दलाली, घूस, भ्रष्टाचार, असत्य, कदाचार, और चरित्र हीनता ही जीवन का सत्य और मर्म मालूम देगी। अतीत के सन्दर्भ से जुड़ेंगे। चरित्र, सदाचार, सत्य, मर्यादा और पवित्रता का संदर्भ ईश्वरीय कर्म मालूम देगा कि यह सब सामान्य मनुष्य के बूते की बात नहीं है। यह सब तो किसी राम, किसी कृष्ण, किसी सिद्धार्थ, किसी शंकराचार्य, किस कुमारिल भट्ट, किसी तुलसी, किसी हेडगेवार, किसी गांधी और किस जयप्रकाश जैसे लोगों के लिए है जो जीवन की सत्यता और शुद्धता को उसका अपना अर्थ दे सकते थे। यह तो ईश्वर और ईश्वरीय गुण सम्पदा से भरपूर महापुरूषों का गुण है। आम आदमी का इससे क्या वास्ता? जब भारत का आदमी यह देखता है कि सत्ता के दलालों से लड़ते-लड़ते उसका प्रधानमंत्री स्वयं दलाली के चक्कर में पड़ गया तो उसके लिए दलाली ही शुद्ध व्यवहार का पर्याय बन जाती है। जब मन्त्री जी घूस लेते हैं तो अफसर अपनी जेब और बड़ी बना लेता है कि 'महाराज' का यह संदेश है कि लूटो-खाओ, जेब भरो। और यदि जेब भरनी है तो उसे और अधिक गहरी बनाओ। जब शांति के लिए समझौतों और सुरक्षा के लिए शस्त्रों की खरीद तक में सौदेबाजी की जाती है तो देशवासी लेन-देन की बात क्यों न करें? विश्वनाथ प्रताप सिंह की नजर में जो कुछ पाप होता है वही कृष्ण चंद्र पन्त की नजर में जब पुण्य बन जाता है तो सीमा पर तैनात जवान तस्करों और घुसपैठियों के साथ कैसा व्यवहार करें? आज के 'महापुरुषों' को इन प्रश्नों के उत्तर का संदर्भ मानेंगे तो वे जो कुछ व्यवहार कर रहे हैं उसे ही सृष्टि का सत्य मानना होगा। स्मरण रहे आज के 'महापुरूषों' में केवल सत्तापक्ष और विपक्ष के राजनीतिज्ञ ही नहीं, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, शिक्षा,

कृषि और मजदूर आदि क्षेत्र के अगुआ भी शामिल हैं।

हम ध्यान से देखें कि हमें किधर ले जा रहे हैं हमारे आज के ये बड़े लोग? यह प्रश्न अपने आप से करेंगे तो आपके अन्तःकरण से प्रमाण की जो आवाज आयेगी वह नीर-.क्षीर विवेक का हंस-मर्म बता देगी। यह प्रमाण आपका अपना और अप्रदूषित प्रमाण होगा। उसमें निजी हानि-लाभ का गणित नहीं प्रभु की पवित्र प्रेरणा होगी।

हमने कभी समस्त विश्व को अपने चरित्र से चरित्र की शिक्षा देने का बीड़ा उठाया था। 'स्वं-स्वं चरित्र' शिक्षेरत पृथिव्यां सर्व मानवः, की घोषणा की थी। किन्तु कालचक्र अब किसी और दिशा में घूम रहा है। अब हमें केवल भौतिक समृद्धि की ही नहीं, ज्ञान और चरित्र की भी तलाश है और इन तीनों के लिए हम उन देशों के मोहताज है जिन्होंने अभी हमारे सामने अपनी आंख खोली थी। हमसे चलना सीखा था। जिन्हें हमने जिन्दगी की परिभाषा बताई थी।

संदर्भ विन्दु कैसा हो?

अमरीका, इंग्लैण्ड, जापान आदि कोई भी देश ले लें। वहां का व्यक्ति अपने नायक के विषय में बहुत ही कठोर होता हैं यद्यपि निजी चरित्र की दृष्टि से उन्हें बहुत ही हीन दृष्टि से देखा जाता है। इन देशों में स्वच्छन्द यौनाचार की बात की जाती है। कुंआरी माताओं को भाग्यवान माना जाता है। किन्तु इन सब की अनुमति वहां का आम आदमी अपने शिखर और सत्तापुरूष को नहीं देंता। समाज सामान्य मनुष्य को यह सब करने की छूट देता है, लेकिन जो शिखर पर होगा उसे असंदिग्ध चरित्र वाला होना ही चाहिए। जिसके हाथ में राष्ट्र की भाग्य डोर होगी वह भ्रष्ट नहीं हो सकता! भ्रष्टाचार नहीं कर सकता। जिसे समाज के सामान्य व्यक्ति के आगे-आगे चलना है वह अपराध कर्मी नहीं हो सकता। जिसके कंधे पर राष्ट्रीय सुरक्षा और हाथ में न्याय का दण्ड होता है उसे न्याय और दलाली की अनुमति नहीं दी जाती। इतना ही नहीं ये देश युद्ध और शांति, संघर्ष और सृजन काल का अपना नेता अलग-अलग चुनते हैं। यहां के लोग अपने राष्ट्र को किसी व्यक्ति या परिवार के पराक्रम और प्रतिभा की गिरवी नहीं रखते। वे यह जानते हैं कि शिखर पर बैठे व्यक्ति का हर काम राष्ट्र और समाज की जिन्दगी का पहला कदम सरीखा होता है और यदि वह पहला कदम ही टेढ़ा रखा गया तो देश और समाज की जिन्दगी कभी सीधे रास्ते नहीं चलेगी। यदि वह किसी कारण कदम दो कदम सीधी चलती दिखी भी तो आगे चलकर वह बहुत टेढ़ी हो जायेगी।

इसी कारण अमरीका के निक्सन को सजा दी जाती हैं इसी कारण अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति केनेडी के अनुज कैनेडी, रिचर्ड क्लेस्टे और गैरी हार्ट योग्यता और प्रतिभा होते हुए भी अमरीकी राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार तक नहीं बन पाते। इसी

कारण जापान के तनाका को प्रधानमंत्री पद से हटा कर जेल में डाल दिया जाता है। इसी कारण इंग्लैंड की श्रीमती थैचर को अपने मंत्रियों को हटा देना पड़ता है। यौनाचार, भ्रष्टाचार या दलाली में सत्ता पुरुष और देश के नेता का शामिल होना सहन नहीं करते वहां के लोग। देश की अगुवाई कर रहे या अगुआई करने के लिए उत्सुक व्यक्ति का किसी महिला से अवैध सम्बन्ध होना अमरीका और इंग्लैण्ड में अयोग्यता सूचक माना जाता है। वहां के आम आदमी का बोध पाठ है "हमें सुधारना है तो तुम्हें शुद्ध रहना ही होगा।"

यह इतिहास भी अभी बहुत ही ताजा है कि जिस चर्चिल ने इंग्लैण्ड को महायुद्ध में विजय दिलाई थी, उसे अगले चुनाव में पराजित करके मतदाताओं ने यह स्पष्ट कर दिया था कि यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति युद्ध कला में पारंगत हो वह निर्माण और सृजन के कार्य में भी कुशल हो। इटली में गेरीबाल्दी ने तो इतना भी अवसर नहीं दिया था। इटली को आजाद कराने के बाद गेरीबाल्दी ने स्वयं कहा था "मेरा कार्य पूर्ण हुआ। मैं युद्ध कला विशारद हूं किन्तु अब राष्ट्र निर्माण वह करे जो निर्माण की कला जानता हो।" और फिर वह वीर अपने गांव की कुटिया में अज्ञात जीवन व्यतीत करने चला गया था। कुछ यही कथा फ्रांस के दिगाल की भी है। द्वितीय विश्वयुद्ध से दिगाल के पराक्रम से फ्रांसवासी अभिभूत थे। किन्तु दिगाल ने उसे अपने पक्ष में भुनाया नहीं। वे यह कहते हुए अपने कृषि फार्म पर चले गये थे कि "मेरे देश! जब तुम्हें जरूरत पड़े तो मुझे फिर बुला लेना। मैं आ जाऊंगा। और जब-जब देश को जरूरत पड़ी दिगाल आये भी। युद्ध की अंशाति से लेकर राजनीतिक अस्थिरता तक के समाधान होने तक वे सदा देशवासियों के सामने खड़े पाए गये।"

ये हैं उन देशों के संदर्भ बिन्दु जिन्हें हम पतित और भ्रष्ट ही नहीं, स्वच्छ भी मानते हैं। ये हैं उनके 'महाजन' और उनके 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' का प्रमाण। ऐसा लगता है कि अपने ये संदर्भ बिन्दु वहां की जनता ने महाकवि कालिदास के प्रमाणं अन्तःकरण प्रवृत्तयः" सुभाषित के प्रकाश में बनाये होंगे। उनके पास अपने अन्तःकरण का प्रमाण है इसीलिए आज वे सबके आगे-आगे चल रहे हैं। हमने हमारे अन्तःकरण में अंधेरा भर रखा है इसीलिए हम ठोकरे खा रहें हैं। केवल अनुगामी हैं, अग्रसर नही।

हमारा संदर्भ बिन्दु

प्रश्न यह है कि क्या सचमुच हम अपने राष्ट्र का चरित्र गढ़ना चाहते हैं? यदि हां, तो हमें अब अपना संदर्भ बिन्दु किसी और में नहीं, अपने अन्तःकरण में खोजना होगा।

आज के महाभारत के समर में मोहग्रस्त और भयभीत अर्जुनों का भय और मोह नाश करने वाला कोई कृष्ण नहीं है। अब तो उसे अपने आप से ही पूछना होगा

कि 'प्राप्त परिस्थिति में हम क्या करें, क्या न करें। यदि हमारे सामने खड़े संदर्भों से सवाल करेंगे तो दलाली भ्रष्टाचार, छल, प्रपंच और कदाचार को ही जीवन का सत्य और आज के तथाकथित नेताओं को ही महापुरूष मानने के लिए मजबूर हो जायेंगे, न चरित्र की पहचान कर पाएंगे, न सदाचार की। यदि इनके पीछे चले तो देश की जिन्दगी का यह एक टेढ़ा कदम होगा और टेढ़ा कदम सीधी राह नहीं बना सकता। गौतम बुद्ध का बोध शाकुन्तल् के स्वर में आज हमारा आवाहन कर रहा है कि 'हे महान देश के महान निवासियों! अब 'महापुरूषों' का संदर्भ त्याग कर 'अप्प दीपो भव।' अपना संदर्भ अपने आप बनो। यही समय है अपने अन्तःकरण का दीप जला कर अन्धकार पर आक्रमण करने का। अपने महापुरूष स्वयं गढ़ने का। अपने महानायक का चुनाव करने का। शिखर पर ऐसे व्यक्ति को बिठाने का जो स्वयं तो शुद्ध हो ही और तुम्हें सुधार सकें।"

8 मई, 1988

सनातन के द्वार पर पाञ्चजन्य

बहुत दिन बाद महर्षि अरविन्द का सावित्री महाकाव्य पुनः पढ़ा। सत्यवान की पत्नी वही सावित्री जो मुत्यु पर जीवन की जय की साक्षी है। सावित्री के पिता राजर्षि अश्वपति आनन्दलोक की खोज में निकले थे। उनकी यात्रा प्रसंग के साथ-साथ मैं भी चलने-सा लगा। चलते-चलते हम ऐसे भूखण्ड में आए जो दारूण दुःख और यातनाओं की भट्टी में जल रहा था। वहां दुःख सहज, सुख असहज था, सत्य असत्य का दास था, न्याय नाम की कोई वस्तु थी ही नही। अश्वपति जो कुछ देखते जा रहे थे उसे मैं भी दूरदर्शन की सीधे प्रसारण की तरह मानो प्रत्यक्ष देख रहा था। मन महर्षि अरविन्द की दूरदर्शी कल्पना के प्रति आदर से भर उठा कि उन्होंने जो कुछ तब सावित्री महाकाव्य की रचना में अश्वपति की यात्रा के बहाने बताया और दिखाया था वही सब आज हम देख और भोग रहे हैं।

सर्वत्र अनाचार

सावित्री के पिता राजर्षि अश्वपति एक ऐसे प्रदेश में पहुंचे थे जहां सब के आसपास घेरा डाला गया था पर किसी को भी इसे घेरे का भान नहीं था। किसी को भी अपना पतन लाने वाला दिखाई नहीं देता था। दारूण दैत्य बल वहां जीवन के दुर्भाग्य की हंसी उड़ाते थे। कब, कहां से और किस प्रकार वे अचानक हमला करेंगे उसकी खबर न पड़ती। मन की धारणा को पूरा करने को धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, ज्ञान-अज्ञान, शास्त्र-अशास्त्र, सभी कुछ उनके हथियार बन जाते। ठगने के लिए ज्ञान को काम में लाया जाता। मारने के लिए पुण्य का प्रयोग होता। अनिष्ट और आपत्ति लाने के लिए नीति और सदाचार की ओट ली जाती, अचिन्तित आक्रमण होते और असावधान रहने वालों को भोग मिल जाता। दफना देने के लिए शैतान उज्जवल स्वरूप लेकर आते। अनिद्रा और निःशस्त्रता वहां नाशकारक थी। सत्य वहाँ से निर्वासित था। ज्ञान वहां निषिद्ध था। केवल अंधाधुंधी ही वहां फैली हुई थी।

पाप की पूजा

अश्वपति ने कदम आगे बढ़ाया। ऐसा लगा कि अब कुछ बदल दिखाई देगा। बदल दिखा भी। किन्तु दृश्य बदलने पर भी उसके अन्दर की भयानकता तो वैसी की

वैसी ही थी। वह बिना राज्य की राजधानी और अज्ञान का नगर था। अंधकार वहां असत्य की शक्ति के साथ मयूरासन पर विराजमान था। स्वर्ग जैसे सत्य और प्रभु के प्रति मुड़ता है वैसे ही वहां का आदमी अहंकार और असत्य के प्रति मुड़ता था और जबरदस्ती से अन्याय को वहां न्याय ठहराया जाता था। बड़ी-बड़ी घोषणाएं करती हुई स्वच्छन्दता वहां रौब गांठती थी। सच्ची स्वतंत्रता का वहां शिकार होता था। सुमेल और सहिष्णुता वहां कहीं भी देखने में आते न थे। क्रूर लोलुपता दुर्बलों का दमन कर के उन्हें विदीर्ण करती थी। छिपे पाप का प्रचार होता था। भिन्न मान्यताओं पर घोर अत्याचार होता। धर्म रक्त भीनी गद्‌दी पर बैठा हुआ था। काले कपट और जोर जुल्म से वहां सबको एक बनाया जाता था। वहां असत्य सत्य और सत्य असत्य माना जाता था। बल, स्वार्थ, लोभ और लालसा वहां निर्लज्ज बन कर बहक रहे थे। प्रभु के स्थान पर वहां पाप की पूजा होती थी।

राजर्षि अश्वपति अविराम बढ़ते जा रहे थे। शायद अभी और भी देखना था उन्हें। जगत सत्य का साक्षात्कार किए बिना आनन्द लोक के दर्शन कहां? दृश्य पुनः बदला — वहां अब अधिक गाढ़ा अंधकार और अधिक क्रूर राज्य उनकी राह जोहते देखने में आये। परम सत्य और दैवी ज्योति मानो वहां कभी थे ही नहीं या वहां उनकी कुछ चलती नहीं थी। यह अत्यन्त ही घोर अंधकारमय प्रदेश था। वहां थे आसुरी बलों के बड़े-बड़े महल। इन महलों के आसपास थे अमानुषी पैशाचिकता की गंदगी से भरे कंगाल झोपड़े। कुरूप और कुत्सित नीच लालसाओं की घृणाजनक करतूतें वहां निर्लज्ज बनकर बेहद फैली हुई थीं। अस्वाभाविकता, अनिष्ट और विपरीत रीतियां वहां मुक्त भोज उड़ाती थीं। मलिनता, दुर्गंध, पाशवी आवेश वहां उछालें मारते थे। वशीकरण करती आंखे वहां अंधकार में उघड़ती दिखाई देती थीं। रात्रि के हृदय में नरक का खुला नग्नस्वरूप वहां प्रकट होता था। उच्छृंखल और उद्धत पशुता का प्रमोद वहां अट्टहास करता था। वहां सभी कुछ विकृत और कुरूप, घृणाजनक और घना था। जो कुछ भी दिव्यता के विपरीत है उसकी वहां आराधना होती थी। विलासिता और भोग में रची-पची लालसाओं में नंगे नरक का दर्शन होता था।

सत्य का दमन

राजर्षि को कदम-कदम पर अंधकार घेरता जा रहा था। आंखें केवल अंधेरा देख पाती थीं। अंधेरे में यदि कुछ दिख्ता था तो वह थी अंधेरगर्दी। वहां के निवासियों में दैत्य भाव बहुत प्रबलता से प्रगट होता था। उन दैत्यों में जरा-सी भी दया और प्रेम नहीं था। मधुरता उनके लिए केवल उधार था। उनके प्रेरक बल थे — लोभ, लालसा और द्वेष। उनके सामने कोई चूं-चां करने जाए तो घातक घाव उसके सिर पर पड़ता था। दुःख में वहां कोई किसी की सहायता नहीं कर सकता था। इस राज्य में झूठ का

राज्य चलता था। आसुरी मत और मान्यताएं जीवित मृत्यु को प्रयुक्त करते थे। असत्य की वेदी पर आत्मा का बलिदान किया जाता था। वहां की दम घोटने वाली हवा में सत्य जीवित नहीं रह सकता था। उच्च आत्मावस्थाओं का वहां, उपहास होता था। वहां की उद्धतता सूर्य का तिरस्कार करती थी। गर्तों में गरक रह कर वे अपनी हीनता में ही गौरव का अनुभव करते थे। अपनी काली और कठोर स्वच्छन्दता से चिपटे रहते थे। वहां की निर्लज्ज अविनीत चीखें कान के परदे पर प्रहार करती थीं। वहां सत्य को सुनने का साहस करने वाले का दारूण दमन होता था।

त्रिशूलधारी शक्ति

दारूण दशा का पूर्ण दर्शन करना अभी भी शेष था। चले थे राजर्षि आनन्द लोक की खोज में। आ फँसे दारूण नरक की कुटिल झंखाड़ में। देखा तो आंखें फटी रह गई। वहां प्रभु के परम सुख को क्रास पर चढ़ाया गया था। विचारशक्ति विकृति की पुजारिन बन गई थी। जीवन का दैवी स्वरूप जादूगर के जोर से विरूप और विपरीत बन गया था। दुख था वहां रोज की खुराक। उत्पीड़न था सुख का सूत्र। प्रभु के बाग का दगाबाज माली बना हुआ शुभ विषवृक्ष को पोषने के लिए पानी देता था। वहां के स्वाभाविक अनिष्ट के ऊपर पुण्य के बनावटी पुष्प आरोपित होते थे। देवों को वहां दानव रूप दिया गया था। स्वर्ग नरक का मुख छद्म बन गया था। जगत में जन्मे हुए सबको निगल जाने वाली मृत्यु पर सवार हुई एक अत्यन्त घोर स्वरूपधारी शक्ति वहां साकार विराजमान थी। इस के छायामय हस्त में त्रासजनक त्रिशूल था और इस त्रिशूल से वह एक समान घाव से सब को बींध डाल रही थी।

फिर यह साफ-साथ दिखाई दिया कि वहां झूठ, मृत्यु और दुःख शासन चला रहे हैं। मनुष्य को पशुता के पीछे धकेल दया गया है। मानव के ढांचे में परमात्मा पोषण पा रहा है और इसकी वृद्धि होते ही हमारी शैतानी सत्ता जाती रहेगी इस ख्याल से डर कर कालमुखी आसुरी शक्ति दिव्यता को दबा देने के लिए रौब में आकर वहां विध्वंस मचा रही है।

परस्पर स्पर्धा

लेकिन राजा अश्वपति पर इस सबका जैसे कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी यात्रा थमी-ठिठकती नहीं। उनका प्रत्येक पग मानो पाप को ललकारता हुआ आगे बढ़ रहा थ। उस घोर अंधकार में उन्होंने आगे का खुलासा देखा तो वहां सब कुछ विपरीत था। वहां के जन्मान्ध जीव पाप को पुण्य मानते थे। यातनाए ं वहां सामान्य नियम बन गई थीं। संताप वहां रोज का प्रीतिभोज था। हास्य और प्रमोद को वहां बड़ा पाप मानकर उनकी मनाही की गई थी। वहां के जीव दुःख के दण्ड में मौन मनाते थे। वे दूसरों को भी दुःख-दण्ड भोगने के लिए विवश करते थे। वहां के जीवन का अर्थ था बढ़ती जाती लम्बी सजा। परपीड़ा वहां परमानन्द देती थी। शांति वहां

अशांत बना देती थी। वहां के जीवों को विषम वैर का खूंखार जनून चढ़ा ही रहता था। निर्दय, विकराल, क्रूर शक्ति की वहां आराधना होती थी। द्वेष को दावत जैसा मानते थे। दुःखोपभोग वहां के जीवन में रंग लाता था।

व्यथा की व्याकुलता में डालना, जलाना और दम निकाल देना वहां खेल-खेल की बातें थीं। एकाध बम फेंककर सभी कुछ मटियामेट कर देना, एक या दूसरी रीति से सामना करने वाले को खत्म कर देना वहां गौरव माना जाता था। अपने बड़प्पन का डंका बजाने में महत्वाकांक्षा के महारथी वहां परस्पर स्पर्धा करते थे।

और आगे बढ़े तो अंधकार में विनाश की दिशा की ओर जाते भूतों की भणकार सुनी। दानवों की मोहिनी मायाओं को प्रत्यक्ष देखा। रक्त के प्यासे भेड़िये को बाट जोहते देखा। मानवी हृदय को फाड़कर खा जाने वाले शिकारी कुत्ते का भौंकना सुना। सबके ऊपर नरक का हमला होते देखा। परन्तु अश्वपति रूके नहीं विष के घूंट निगलते-निगलते अग्नि परीक्षाओं में से पार होते-होते आशा और आनन्द जहां आने में असमर्थ हैं उस दारूण जगत में वे चलते ही रहे और मैं. . . . . ?

मैं सावित्री महाकाव्य पढ़ना छोड़ कर चुपचाप बैठ गया। और फिर मन ही मन बहुत जोर से चीखा, "अश्वपति् मुझसे यह दारूण दृश्य अब नहीं देखा जाता। कैसा है वह आनन्द लोक जो इस प्रकार के पतन की खाइयों से घिरा हुआ है। नरक की दुर्गन्ध से भरे और यातना की भट्टी में जल रहे स्वर्ग और सुख की इस लालसा का क्या अर्थ है?

हमारा भारत

अश्वपति रूके नहीं, मुड़े नहीं। बिना रूके और मुड़े ही उन्होंने पूछा था—"क्या तुम यह बता सकते हो कि यह कौन सा भूखण्ड था।" जी हां! मैं सहसा बोला था, बता सकता हूं। यह है आज का हमारा भारत भूखण्ड। कभी शायद इसी को आनन्द लोक कहा जाता रहा होगा किन्तु आज तो यह रौवरव नरक कुण्ड जैसा है।"

राजर्षि ने उलाहना दिया था — "तो फिर घबड़ाते क्यों हो? यह नरक कुण्ड बन गया भूखण्ड तुम्हारा अपना ही तो है न। और यदि इसे आनन्द लोक बनाना है तो इन समस्त यातनाओं को आनन्दपूर्वक बिना किसी प्रकार का हीलाहवाला क़िए सहन करना और झेलना ही पड़ेगा। यदि यह तुम्हारा अपना देश और अपना ही भूखण्ड है तो यहां रह रहे अपनों को नरक कुण्ड में पड़ा रहने देना क्या अपनों का कर्तव्य-धर्म होता है? शायद तुम नहीं जानते होंगे और शायद जानते भी होंगे कि प्रभु जब मनुष्य को जगत की सहायता करने और मानव को उच्चतर लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए भेजता है तो जिस जुए को उतारने के लिए वह आया होता है उसी जुए में उसे स्वयं जुतना पड़ता है। जिस दुःख को मिटाने का उसका ध्येय होता है उसी दुःख को उसे स्वयं सहन करना पड़ता है। केवल इसलिए कि जिन अनिष्टों का अनुभव उसने स्वयं

नहीं किया होगा उसे किस तरह वह दूर कर सकेगा। सेवक, सुधारक, उद्धारक, और भक्त का कार्य बहुत कठिन होता है। जिसका उद्धार करने के लिए वह आया होता है वही उसे जहरीली नजर से देखता है। जिसको वह बचाता है वही उसका दुश्मन बन जाता है। वह अपनों के लिए आनन्द, सुख और समृद्धि का मुकुट लेकर आता है किन्तु उसके बदले उसे मृत्यु की सूली पर चढ़ना, उपेक्षा और अपमान की आग में जलना पड़ता है।

घबड़ा कर छटक जाने वालों के हाथों जगत के जीवन का उद्धार नहीं होता। पलायन करने वाला दैवी साम्राज्य की स्थापना नहीं कर सकता। 'दुख देवों का धन है।' दुःख मनुष्य के हृदय की पाषाणी जड़ता को तोड़ता है। आत्मचेतना जगाता है। पृथ्वी अभी प्रसव पीड़ा में है। शतकों बीत गए परन्तु अभी भी देवात्मा का जन्म नहीं हुआ। देखो न तुम्हारी यह माता फिर भी सब कुछ सहर्ष सहन करती आ रही है। उसकी आशा फिर भी मरी नहीं है। वह पूर्ण जीवन्त है। प्रकृति के हाथ मनुष्य को महिमावान बनाने में लगे हुए है। मनुष्य अपने पूर्व जन्म का दुर्विपाक भोगता ही है। मनुष्य स्वयं ही अपना बुरे से बुरा दुश्मन होता है। मनुष्य को काल का कर और दैव का दावा चुकाना ही पड़ता है। वही आज वह चुका रहा है। उसे चुकाए बिना यह त्रास चुकेगा नहीं।

किन्तु निराशा का कोई कारण नहीं है। रात्रि का अंधकार घोर घना होने से सूर्य केवल स्वप्न मात्र नहीं हो जाता। सूर्य प्रकाश का सत्य लिए प्रति-दिन प्रगट होता ही है। हिम्मत हारने से, रोने-पीटने से पाप नहीं कटता। पाप कटता है सुकर्म से। सुकर्म करने वालों की अबाध यात्रा उन्हें उनकी इस मनोरम मंजिल तक अवश्य पहुंचाएगी जहां आत्मा आबद्ध होगी। अहंभाव का अस्तित्व नहीं होगा। शिवमंगल का बल काल को अकाल से जोड़ता होगा। प्रत्येक आत्मा एकात्मा से जुड़ी होगी। कोई किसी से अलग नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति में समष्टि समाया होगा। भेद वहां एकता की हंसती हुई लीला होगी।"

काश ऐसा ही हो

सावित्री महाकाव्य का परायण पूर्ण हुआ तो मेरे मन ने कहा — 'हे मेरे भारत देश! हे भगवती स्वरूपा मातृभूमि! काश! ऐसा ही हो कि तू आज के इस नरक कुण्ड से आनन्दलोक में बदल जाए।'

जो कुछ महर्षि अरविन्द ने राजर्षि अश्वपति की आंखों से दिखाया है यदि वह पुराण कथा नहीं, वर्तमान का सत्य है तो काश! वह भी सत्य सिद्ध हो जाता जो कुछ अश्वपति से चलते-चलते महर्षि अरविन्द ने कहलवाया है। अपनी यात्रा और तपस्या के अन्त में राजा अश्वपति को मृत्युंजयी पुत्री सावित्री मिली थी। सावित्री को उसका सत्यवान मिला था। सत्यवान सहित सावित्री मृत्युलोक से भू लोक पर सशरीर आई

थी। सत्यवान के वृद्ध पिता द्युमत्सेन को अपनी अंधी आंखों की ज्योति और खोया हुआ राज्य वापस मिला था। अगर यह सब असंभव तब संभव हो सकता था तो नरककुण्ड बना आज का भारत कल आनन्दलोक भी बन सकता है। अगर यह सब तब सम्भव हुआ था तो आज भी भारत भूमि के स्वरूप को भी बदल कर उसे स्वर्ग के समान बनाया जा सकता है या फिर स्वयं स्वर्ग को इस धरती पर उतारा जा सकता है। सुख-दुःख तो आनी-जानी है। यह हमारा भाग्य और भवितव्य नहीं है। हमारा संकल्प मंगल होगा तभी यह सृष्टि सुन्दर बनेगी। तभी भाग्य आत्मबल के अनुरूप ढलेगा? तभी सनातन के द्वार पर पाञ्चजन्य बजेगा। स्मरण रहे जो परिवर्तन करता है वह महान होता है और जो अत्यन्त महान होता है उसे इस लोक में अकेला ही रहना पड़ता है। अपने पुरूषार्थ और प्रारब्ध पर भरोसा रखेंगे तो भविष्य उज्जवल ही होगा। भाग्य प्रभु की कमान से छोड़ा गया मनुष्य के पुरूषार्थ का अमोध बाण है। विश्वास कीजिए, वह बाण एक न एक दिन छूटेगा और अपना लक्ष्य बेध भी अवश्य करेगा।

5 जून, 1988

आज का अनुमान, कल का यथार्थ?

पंजाब तो शायद बच जाए, किन्तु पश्चिम बंगाल नहीं बचेगा। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट शासन और बंगला देशी घुसपैठियों की मिलीभगत पश्चिमी बंगाल को पुनः विभाजित कर दे तो कोई आश्चर्य नहीं।

पश्चिम बंगाल के नौ जिले – उत्तर चौबीस परगना, दक्षिण चौबीस परगना, नदिया, मुर्शिदाबाद, मालदा, जलपाईगुड़ी, पश्चिम दिनाजपुर, दार्जिलिंग और कूच बिहार-पूरी तरह से मुस्लिम बहुल बन गए हैं। यहां बंगलादेशी घुसपैठियों का बहुमत है। मतदाता सूचियों में उनके नाम दर्ज है। अधिकांश को भारतीय नागरिकता भी प्राप्त हो चुकी हैं। पचास लाख से अधिक बंगलादेशी घुसपैठियों की जानकारी केन्द्र और राज्य सरकार को है। घुसपैठियों का आना एक स्थायी और सतत् प्रक्रिया है। उनके वापस जाने, उन्हें वापस भेजने और पहचाने जाने की कोई व्यवस्था नहीं है। स्थानीय मुस्लिमों ने उन्हें शरण ही नहीं दी है तो पूरी तरह अपना भी लिया है। इन नौ जिलों की आबादी 1971 से 1981 के बीच उन्तीस से तीस प्रतिशत तक बढ़ी है, जबकि शेष पश्चिमी बंगाल की जनसंख्या में उसी अवधि में औसतन तेईस प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

गम्भीर संकेत

उधर ढाका से मिलने वाले संकेत ओर समाचार बहुत ही गंभीर हैं। भारत के पश्चिम बंगाल में बंगलादेशी घुसपैठ रोजी-रोटी या किसी यातना के कारण नहीं हो रही है। बंगला देश में एक वृहत्तर बंगाल बनाने की मुहिम चल रही है। उस वृहत्तर बंगाल में पश्चिमी बंगाल के ये नौ जिले भी आते हैं। असम और पूर्वांचल के अन्य क्षेत्र भी इसमें शामिल हैं। इस योजना के संदर्भ में बंगला देशी घुसपैठियों की संख्या और समस्या की ओर देखेंगे तो स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। इसका सर्वाधिक गंभीर पक्ष है स्थानीय मुसलमानों का व्यवहार। घुसपैठियों को अपने में पचा और बसा लेने की तत्परता। अतिशीघ्र इस क्षेत्र में मुस्लिम बहुल स्वायत्त राज्य की मांग उठेगी। पश्चिम में पाकिस्तान खालिस्तानी आन्दोलन को हवा दे रहा है, पूर्व में बंगलादेश वृहत्तर बंगाल बनाने के लिए मुस्लिम बहुल राज्य निर्माण करने में जनसंख्या की मदद लेकर दबाव डालेगा। उन्हें भारत के दस करोड़ मुसलमानों की सहायता का पूरा विश्वास है।

देश के विभिन्न भागों मे लगभग एक करोड़ बंगलादेशी घुसपैठियों का बस जाना अब रहस्य नहीं, यथार्थ है। राजधानी दिल्ली तक में उनकी बस्तियां बस गई हैं।

रणनीति

बंगलादेशी घुसपैठिए किस-किस क्षेत्र में आए हैं इसका प्रमाण देते हैं उस क्षेत्र के पुलिस थाने के रोजनामचे। पश्चिम बंगाल के सीमावर्ती पुलिस थानों के प्रभारी बताते हैं कि जब किसी क्षेत्र में गाय चोरी, हिन्दू बालिकाओं का अपहरण और चोरी-डकैती बढ़ने लगती है तो वे यह समझ जाते हैं कि उनके इलाके में बंगलादेशी घुसपैठियों की खेप आ गई। किन्तु वे कुछ कर नहीं पाते। कारण, कारण है पश्चिम बंगाल की कम्युनिस्ट सरकार।

पश्चिम बंगाल में सरकार और कानून नाम की कोई चीज नहीं है। वहां केवल पार्टी है और पार्टी के कार्यकर्ता हैं। पुलिस अधिकारी और सुरक्षाबल कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के अधीन है। उनकी मर्जी के विपरीत उन्हें कुछ भी करने का अधिकार नहीं है। मजिस्ट्रेट और अन्य दण्डाधिकारी वस्तुतः कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं के संकेत पर उठते-बैठते बताये जाते हैं। यह भी बताते हैं कि निष्पक्ष न्याय प्रदान करने की उन्हें छूट नहीं है। पुलिस थानों में कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की हिंसा और लूट की रपट नहीं लिखी जाती। योजनाबद्ध तरीके से हिंसा, हत्या, लूट और आंतक के कार्य शहर से दूर देहातों में किये जा रहे हैं। यह अनुभव पर आधारित कम्युनिस्ट रणनीति है। शहरों में हिंसा, हत्या और आतंक का प्रचार होता है। दूर देहात के समाचार शहरी समाचार पत्रों में आ नहीं पाते। आते भी हैं तो तब तक पुराने हो चुके होते हैं, जबकि हिंसा, हत्या और आतंक पश्चिम बंगाल में पूर्वी पंजाब से कम नहीं है। कम्युनिस्ट कामरेड दूसरे दलों के कार्यकर्ताओं को गांवों में घुसने नहीं देते। यदि वे घुसने का प्रयास करते हैं तो उन पर हमला किया जाता है। आतंक फैलाकर गांव वालों को डराया जाता है कि यदि दूसरे दल वालों से बात की तो उसके दुष्परिणाम भुगतने पड़ेंगे।

कम्युनिस्टों को प्राथमिकता

पूर्णकालिक कामरेड बनाने का एक विशेष तरीका अपनाया गया है। गांवों में प्राथमिक पाठशालाओं में अध्यापकों की नियुक्ति कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की ही की जाती है। अध्यापकों को सरकारी कोष से वेतन मिलता हैं। देहातों में अध्यापक तो हैं किन्तु स्कूल नहीं। विद्यालय विहीन अध्यापकों की संख्या साठ प्रतिशत से अधिक है। शेष चालीस प्रतिशत अध्यापकों के लिए विद्यालय हैं लेकिन प्राथमिकता पढ़ाई की नहीं पार्टी के काम की होती हैं पंचायत से लेकर तहसील और विकास खण्ड तक सरकारी कोष से सरकारी काम के लिए वेतन पाने वाले पूर्णकालिक कामरेड पार्टी का काम करते हैं। वे सरकार के प्रति नहीं सरकारी प्रशासन उनके प्रति उत्तरदायी होता

है। यह जरूरी नहीं कि वे किसी वरिष्ठ पद पर हों। पार्टी का कामरेड होना ही उनकी वरिष्ठता होती है।

बंगलादेशी घुसपैठियों और कम्युनिस्ट आंतक ने पश्चिमी बंगाल को संकट में डाल दिया है। मुस्लिम बहुल सीमावर्ती जिलों में हिन्दुओं पर दबाव डाला जा रहा है कि वे अपना घर छोड़ कर कहीं और चले जाए। उन्हें अपने उत्सव और त्यौहार मनाने की आजादी नहीं हैं उनके समारोहों पर हिंसक हमले किए जाते हैं। कम्युनिस्ट कार्यकर्ता, विधायक, सांसद और पुलिस बल दंगाइयों का पक्ष लेते हैं। पूछने पर कहते हैं कि हमें सरकार में रहना है और आगे भी सरकार बनानी है। यदि हिन्दुओं का साथ देंगे तो चुनाव कैसे जीतेंगे। हिन्दु वहां अल्पमत में है। अतएव मुसलमान वोटों का मूल्य बढ़ गया है। इसी 26 मई, 1988 की घटना है। वर्दमान जिले की कोटवा तहसील के कैथुन ग्राम के वैष्णवो ने संकीर्तन निकाला। मस्जिद से उस पर हमला किया गया। कई संकीर्तनी घायल हो गए। घायलों में एक अस्सी वर्षीय वृद्ध भी था। जिस-जिस ने मुस्लिमों की गुण्डागर्दी पर आपत्ति की, उसका घर लूट कर जला दिया गया। पुलिस ने दंगाइयों को नहीं, घायलों को गिरफ्तार किया। शिकायत करने पर पुलिस अधीक्षक और दूसरे अफसरों ने साफ मना कर दिया कि वे कुछ नहीं कर सकते। यहां उनकी नहीं, स्थानीय विधायक और कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की चलती है। उन्होंने जिसे कहा, हमने उसे गिरफ्तार कर लिया। कैथुन में साठ प्रतिशत आबादी मुसलमानों की हैं वहां केवल नमाज हो सकती है, पूजा और संकीर्तन नहीं। उच्च न्यायालय के निर्णय के बावजूद वहां का हिन्दू शोभायात्रा नहीं निकाल सकता। मार्क्सवाद सरकार उच्च न्यायालय के निर्णय को लागू ही नहीं कराती।

मार्क्सवादी कामरेडों की गुण्डागर्दी से केवल दूसरे दलों के लोग ही परेशान नहीं है। पश्चिम बंगाल वाममोर्चे के सभी घटक परेशान हैं। मार्क्सवादी कामरेड धीरे-धीरे उन्हें निगलते जा रहे हैं। खड़गपुर से कम्युनिस्ट पार्टी के सांसद नारायण चौबे की पत्नी का उदाहरण अभी एकदम ताजा है। मार्क्सवादियों की गुण्डागर्दी से परेशान होकर वे कांग्रेस की यूनियन में शामिल की गई। ज्योति बसु और नम्बूदरीपाद के ब्रिगेड से उनके जीवन को खतरा उत्पन्न हो गया हैं। वे कहती हैं कि मार्क्सवादी झूठे आरोप लगा कर किसी का भी सिर कलम कर देते हैं। उनके पुत्र गौतम चौबेजी परेशान हैं। मुख्यमंत्री ज्योतिबसु से शिकायत करने का कोई अर्थ नहीं रह गया है। वे चुपचाप तब तक शिकायत सुनते रहते हैं जब तक शिकायत करने वाला थककर चुप न हो जाय। शिकायत करने वाला उठकर चला जाता है, वे मधुर-मधुर मुस्करा देते हैं।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता और कम्युनिस्ट आतंकवाद के पाटे के बीच पिस रहा है पश्चिम बंगाल। मुस्लिम साम्प्रदायिकता पश्चिम बंगाल को बांटने की ताक में है तो कम्युनिस्ट आतंक उसके साथ अपना तालमेल बिठाकर अपनी सत्ता बनाये रखने की

फिराक में। कम्युनिस्ट शासन और पार्टी पश्चिम बंगाल की राजनीतिक व्यवस्था और लोकतांत्रिक प्रक्रिया को अन्दर से खोखला बना रहे हैं। मार्क्सवादी कामरेडों ने लोकतंत्र को बंधक बना रखा है तो स्थानीय मुसलमानों की सहायता से बंगलादेशी घुसपैठिए पश्चिमी बंगाल के एक और विभाजन की जमीन जोत रहे हैं। वहां बंगलादेशी हिन्दू शरणार्थियों को आने की मनाही है आते भी है तो पूरी तरह अनारक्षित होते हैं – समाज और शासन कोई भी उन्हें शरण नहीं देता, किन्तु मुस्लिम घुसपैठिये पूरी तरह सुरक्षित ही नहीं हैं, अच्छी तरह फल-फूल भी रहे हैं। मुस्लिम घुसपैठियों की पहचान करने की कोई प्रक्रिया नहीं है हिन्दू शरणार्थी साफ साफ़ दिखाई देते हैं। जिन्हें शरण चाहिए उन्हें मार कर भगाया जाता है। जिन्हें भगाना चाहिए उन्हें शरण दी जाती है।

पश्चिम बंगाल दिल्ली से दूर है। पंजाब की तरह पास होता तो इस संकट का अहसास आसानी से होता। पूरा पूर्वांचल मुस्लिम साम्प्रदायिकता की आग में जलने को है। पश्चिम बंगाल फिर बंटने के बिन्दु तक पहुंच गया हैं। राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर उस ओर तत्काल ध्यान देने की जरूरत हैं। यह न भूलें कि पश्चिम बंगाल में विभाजन की आंग धधकेगी तो वह कोई अलग-अलग प्रक्रिया नहीं होगी। उसे देश के दस करोड़ के एक समुदाय विशेष का ही नहीं, अरब राष्ट्रों और कई दूसरे मुस्लिम देशों का भी समर्थन प्राप्त होगा। मस्जिदों में आ रहा पैट्रोडालर भी अपना करिश्मा दिखाएगा। मजहब पहले, देश बाद में मानने वालों की बन आएगी। 1947 में मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में आत्मनिर्णय की वकालत करने वाले कम्युनिस्ट अपनी ही दलाली के बन्दी होंगे। या तो केरल के मल्लापुरम की तरह पश्चिम बंगाल में भी नौ मुस्लिम बहुल जिले घोषित करने पड़ेंगे या फिर पूर्वांचल के मुस्लिम बहुल जिलों को मिला कर अलग मुस्लिम राज्य बनेगा। यह विश्लेषण और अनुमान आज अपरिपक्व लग सकता है किन्तु कल का यथार्थ यही है, यदि समय रहते इस ओर ध्यान न दिया तो?

26 जून, 1988

उपचुनावों का संदेश

1989 में संभावित आमचुनाव के पूर्व आठ राज्यों में उपचुनाव सम्पन्न हो गए। चुनाव परिणाम अप्रत्याशित और आश्चर्यजनक नहीं रहे। जो कुछ हुआ है यदि वह सब न होता तो आश्चर्य अवश्य होता। इन्दिरा कांग्रेस और विरोधी दल दोनों इस समय पराजय झेल पाने की स्थिति में नहीं है। दोनों ने जी-जान लगाकर चुनाव लड़ा था। जो कुछ हुआ, उसमें निहित संदेश और संकेत तलाशा जाना स्वाभाविक है। लोग संदेश की तलाश कर भी रहे हैं। कुछ बुद्धिजीवी कहते हैं कि स्थिति साफ नही हुई, धुंधली हैं अस्पष्ट है, भ्रमपूर्ण है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं हैं इन उप-चुनावों ने समाचार पत्रों के मोटे और चटक शीर्षक की तरह अपना संदेश देश के पटल पर पूरी स्पष्टता के साथ अंकित कर दिया है।

स्पष्ट संदेश

उपचुनावों का संदेश बहुत ही स्पष्ट है (1) देशवासी सत्तारूढ़ दल से असंतुष्ट ही नहीं क्रुद्ध भी हैं। (2) वे परिवर्तन चाहते हैं। (3) मतदाताओं की रूचि विरोधी दलों के विलय-विसर्जन और एक दल बनने में नहीं है। (4) वे मैत्रीपूर्ण तालमेल में से विकल्प प्राप्त करने के लिए तैयार हैं। (5) यह आवश्यक नहीं है कि वे अपने शब्द और व्यवहार से विरोध न करें। किसी प्रकार का भ्रम न पैदा करें। बस इतना ही आवश्यक है कि मतदाता को स्पष्ट हो कि अमुक उम्मीदवार सबका साझा और सर्वसम्मत उम्मीदवार है। (6) मतदाता उम्मीदवारों की भीड़ में जीतने वाला उम्मीदवार स्वयं तलाश लेता है। (7) राष्ट्रीय मुद्दे गंभीरता पूर्वक प्रस्तुत किए जाते हैं तो साम्प्रदायिक, जातिवादी और भाषाई अभिनिवेश अप्रभावी हो कर पार्श्व भूमि में चले जाते हैं। राष्ट्र के भविष्य, उसके चरित्र और अस्तित्व के संकट का आयाम प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया जाय तो मतदाता अपने संकुचित और निहित स्वार्थों के घरौंदे मिटा कर राष्ट्रीय क्षितिज पर एकजुट हो जाते हैं। (8) देश की नई पीढ़ी मजहबी कट्टरता और जातिवाद से ऊबकर उससे उबर रही हैं। वह अब मजहबी और जातीय दादाओं की बंधुआ नहीं रही। (9) बोट बैंक की अवधारणा को नई पीढ़ी ने नया आयाम दिया है कि उन्माद उत्पन्न करके उसे उसके राष्ट्रीय कर्त्तव्यों से विरत और विमुख नहीं किया जा सकता। उसका राष्ट्रीय कर्त्तव्य बोध जगा है।

(10) हरिजन, ईसाई, मुसलमान तथा दूसरे सम्प्रदायों के ठेकेदारों की ठेकेदारी टूटी है। (11) जनता जाग जाती है, आम आदमी सहभागी बन जाता है तो सत्ता शक्ति, गुण्डा शक्ति और धनशक्ति उसे दबा और गुमराह नहीं कर पाती। (12) भारत देश में मुस्लिम लीग आदि साम्प्रदायिक दलों से भी बड़ा अंतर्राष्ट्रीय और साम्प्रदायिक दल इंदिरा कांग्रेस है। (13) राष्ट्रीय एकजुटता उसे रास नहीं आती, साम्प्रदायिक तनाव, क्षेत्रीय विवाद, जातीय विद्वेष और भाषाई संघर्ष में ही उसका प्राण बसा है। हिन्दू-मुसलमान और देश के अन्य समुदायों का एक मंच पर आने को इन्दिरा कांग्रेस अपने लिए घातक मानती है। राष्ट्र की एकता पर खतरा बनाए रखकर 'बांटों और राज करो' की नीति ही उसका मूलाधार है। (14) गरीबी, बीमारी, और बेरोजगारी बनाये रखने में इन्दिरा कांग्रेस का निहित स्वार्थ है।

बंधुआ कांग्रेस

संदेश और संकेत और भी हैं। उनका विशद विवेचन और सामान्यीकरण करने की आवश्यकता नहीं हैं। राजीव की इन्दिरा कांग्रेस आज जिस स्थिति में है वह देश को सम्हाल नही सकती। उसमें सुधार होने की कोई संभावना नहीं हैं। यह पार्टी एक परिवार विशेष की बन्दी है। उसका आत्मविश्वास राजीव के आगे जाने को तैयार नहीं है। राजीव कैसे हैं इस पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। बहुत बार, बहुत लोग उन पर टिप्पणी कर चुके हैं और फिर स्वयं राजीव के कार्य और शब्द नित्य नई-नई सटीक टिप्पणी करते ही रहते हैं। विरोधी दल जिस स्थिति मे हैं यदि वे अपने दलीय स्वार्थ को राष्ट्रीय हित के साथ जोड़ दें तो कोई नया रास्ता अवश्य बन सकता है। गठबंधन और विलय शायद अब उतना विश्वसनीय न हो जितना आमसहमति में से उभरा तालमेल। धरती की वास्तविकता के आधार पर तालमेल में से विकल्प उभर सकता हैं किन्तु इसके लिए आपसी कलह, ईर्ष्या और नेतृत्व की लालसा का त्याग जरूरी होगा। अपन-अपने दल का व्याप बढ़ाते जाने और राष्ट्र के हित में एकजुट होकर आम सहमति वाले कार्यक्रमों का ईमानदारी के साथ क्रियान्वयन करे जाने से एकजुटता बनी रह सकती है केवल इरादा साफ, मुद्दे स्पष्ट और व्यवहार में प्रामाणिकता चाहिए। भीतरघात और दगाबाजी की मानसिकता और आदत छोड़नी चाहिए।

उपेक्षित पितामह

इंदिरा कांग्रेस राजनीतिक लड़ाई वस्तुतः हार चुकी हैं। उसके पितामह तिरस्कृत और मजबूर हैं तो कांग्रेस की नई पीढ़ी सतही और छिछोरी है। उसके सत्तापुरूष अंधे और अनुभवहीन हैं। वे अपने अनुभवों से शिक्षा नहीं लेते। कांग्रेसी कुनबा महाभारतकालीन कुरूवंश की स्थिति में है। दुर्योधन ने धृतराष्ट्र को धमकी देकर

पितामह भीष्म की उपस्थिति में युवराज युधिष्ठिर सहित पाण्डवों को वरणावत भेज दिया और वहां उनके जल मरने की खबर फैली तो श्रीकृष्ण शोक प्रकट करने द्वारका से हस्तिनापुर आए। राजमाता सत्यवती, पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र और विदुर आदि सबसे मिले। पाण्डवों के जल मरने पर धृतराष्ट्र की अंधी आंखे ऐसी रोईं कि मानो सबसे अधिक दुखी वे ही हों। जबकि स्थिति अन्यथा थी। कृष्ण ने भीष्म से पूछा था – "पितामह! आप जैसे परमप्रतापी और धर्मात्मा के रहते यह सब कैसे हो गया।' यह सुनकर जीवन में पहली बार भीष्म की आंखें भर आई थीं। बोले थे "वासुदेव! आप आए अच्छा हुआ। किससे कहूं मैं अपनी व्यथा-कथा, इसी की तलाश में था। यह सच है कि जब धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को वरणावत चले जाने को कहा तो उस समय मैं उपस्थित था। मौन भाव से मैंने सब कुछ स्वीकार किया। केवल इसलिए कि वरणावत उत्सव के बाद पाण्डवों को कहीं और बसा देंगे।" इस पर कृष्ण बोले थे – "पितामह! जो युवराज पद और सत्ता सिंहासन का स्वयं सिद्ध अधिकारी था उसे आपने कहीं और बसा देने का विचार क्यों किया?" असहाय भीष्म का उत्तर था, "इसलिए कि यहां दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण उन्हें मार डालते।"

"आश्चर्य है'', कृष्ण का प्रश्न था – "आप जैसे महाप्रतापी के रहते दुर्योधन पाण्डवों को मरवा देता।"

"हां, वासुदेव स्थिति ऐसी ही थी। रही मेरे महाप्रतापी होने की बात तो मेरी स्थिति ऐसी है कि आवश्यकता पड़ने पर मृत पूर्वजों के समान मेरा आवाहन किया जाता है। सुभीते के लिए मुझे बुला लिया जाता है।" बहुत ही भावुक हो उठे थे भीष्म। लेकिन उस भावुकता का क्या अर्थ जो धर्म को वनवास होते देखता रहा, उस प्रताप को क्या कहा जाय जो प्रत्येक प्रतारणा को सहता गया।

बात यही नहीं ठहरी। धृतराष्ट्र के युवराज दुर्योधन ने कृष्ण को फंसाने के लिए निकृष्टतम कर्म किए। अपनी पत्नी भानुमती को मदिरा पिलाकर दुर्गापूजा के बहाने वासुदेव कृष्ण को अपनी वासना का शिकार बनाने के लिए भेजा। स्वयं मदिरापान करके साक्षी रूप में वहां उपस्थित भी रहा। नग्न भानुमती को महारानी गांधारी के शयन कक्ष में पहुंचाकर कृष्ण ने कुरूवंश की लाज अपने उत्तरीय से ढक दी थी। यह धर्म और न्याय की विडम्बना नहीं तो और क्या थी कि एक ओर धर्म व्यवस्था और कर्मकाण्ड की निर्लज्जतापूर्वक अवहेलना हो रही थी तो दूसरी ओर निःसंग प्रतापी पितामह भीष्म अपने चरित्रबल से प्राचीन कुरूओं की परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाए रखने के अपने प्रण पर प्राण दे रहे थे। बहुत ही दुःखी मन से वासुदेव ने विदुर से कहा था, "पितामह भीष्म समझते हैं कि कुरूओं को शक्तिशाली बनाने के लिए उनका जीवन बंधक है। इससे तो कुरूवंश मिटेगा ही, धर्म का भी विनाश होगा। एक बार अधर्म और अन्याय से समझौता कर लिया तो उससे कभी उद्धार नहीं हो सकता। उसके विशम चक्र में संपूर्ण व्यवस्था फंस जाती है। झूठ में धारणाशक्ति नहीं होती,

यद्यपि सत्य को स्थापित करने में समय लगता है।"

कांग्रेसी कुरूवंश

कांगेसी कुरूवंश का भी यही हाल है। आवश्यकता पड़ती है तो कमलापति त्रिपाठी जैसे कांग्रेसी पितामहों का मृतपूर्वजों की भांति अपने सुभीते के लिए आवाहन किया जाता है। लोकतंत्र के कृष्ण को सुरा, सुन्दरी और स्वर्ण की वासना का शिकार बनाने की साजिशें की जाती हैं। सत्य जानते हुए भी कुरूवंश की सत्यवती की तरह कांग्रेसी चुप रहते हैं। नीति के ज्ञाता विदुर विद्रोह नहीं करते। धर्म के अधिष्ठाता व्यास की वाणी मौन हो जाती है। धृतराष्ट्र की अंधी आंखें न्याय के पक्ष में मगरमच्छी आंसू बहाती है। कांग्रेसी, दुर्योधन का दुःशासन राष्ट्रहित, राष्ट्रीय अस्मिता, परम्परा और चरित्र का शीलहरण करता है तो कांग्रेसी कुरूवंश के बड़े-बड़े प्रतापी बगलें झांकने लगते हैं। संपूर्ण साम्राज्य, उसकी सत्ता और वंश शक्ति एक ओर लोकतंत्र और वनवासी विरोधी दल दूसरी ओर। अगर तब कुरूवंश के अधर्म पक्ष का विनाश हो सकता था तो आज कांग्रेस के दुःशासन का नाश क्यों नहीं हो सकता?

लोकमानस ओर लोकतंत्र

कांग्रेसी कुनबा लोकतंत्र को अपने परिवार से भगा सकता है, लेकिन लोकमानस ऐसा नहीं कर सकता। लोकमानस पूरी तरह सचेत हैं व्यर्थ के विवाद में पड़ने और फंसने का अब उसके पास समय नहीं है। वह परिवर्तन चाहता है। अपने प्रिय राष्ट्र को एक स्वस्थ और सबल राष्ट्र के रूप में देखना चाहता है। वह राष्ट्र की मूल राष्ट्रीय धारा को निर्मल बनाने के लिए लालायित है। कांग्रेसी दुर्योधनों, दुःशासनों और शकुनियों की तिकड़में देखते-देखते वह अब ऊब चुका है। वह अब अपना वह शाश्वत और वास्तविक राष्ट्र बनाना चाहता है जिसमें सम्प्रदाय तो होंगे किन्तु साम्प्रदायिकता नहीं होगी। जातियां होंगी किन्तु जातीय विद्वेष नहीं होगा। जहां सभी भाषाएं समवेत स्वर में राष्ट्रमाता की आराधना के गीत अपने-अपने शब्दों और लिपि में गा रही होंगी। जहां केरल के सिर में दर्द होगा तो कश्मीर अमृतांजन लगाने के लिए दौड़ पड़ेगा। द्वारका और कामाख्या के बीच एक ही भावरस व्याप्त होगा।

कांग्रेसी रीति-नीति

इस राष्ट्रीय भावरस को कांग्रेसी कुनबा प्रदूषित करता है। वैचारिक और राष्ट्रीय प्रदूषण पैदा करते रहना कांगेस का सुविचारित, स्वार्थपूर्ण और योजनाबद्ध कार्य है। देश बचेगा तो दल, पंथ, जाति और भाषाएं भी बची रहेंगी। अतएव अपनी-अपनी प्रतिभा और अपने-अपने पराक्रम का प्रयोग देशवासी उस कांग्रेसी कूड़े को मिटाने में करना चाहे जहां अलगाव और ईर्ष्या—द्वेष की कीड़े पलते हैं। कांग्रेस का मंच कभी आजादी का वाहक बना जरूर था लेकिन यह न भूलें कि वह अंग्रेजों की मानस

संतान हैं। उसने देशवासियों को मूल राष्ट्रीयधारा और अस्मिता से कभी जुड़ने ही नहीं दिया। इसी कारण कांग्रेस ने तिलक, अरविन्द, सुभाष और सावरकर जैसों की ओजस्विता पर परदा डाला। गांधी के सनातन पक्ष का भी निषेध किया। हर जगह से कायरता बटोरी। प्रत्येक स्थान से राष्ट्रीय प्रतिभा को भगाया। 'स्व' का निषेध किया। परायी प्रतिभा प्राप्त करने के लिए अपना सब कुछ दांव पर लगा दिया। परिणाम यह हुआ कि 'स्व-राज्य' होते हुए भी 'स्व-तंत्र' नहीं आ पाया और स्वराज्य अब राष्ट्रद्रोह करने पर आमादा है। स्वराज्य जब राष्ट्रद्रोही बन जाता है तो राष्ट्रजन को स्वराज्य के प्रति विद्रोह करना ही पड़ता है। राष्ट्रीय सुरक्षा से लेकर राजनीतिक और सामाजिक जीवन स्तर तक भ्रष्टाचार की व्याप्ति और चरित्र का संकट पैदा कर देना, योजनाबद्ध तरीके से देश के मन मे आत्मविश्वास की जगह अस्तित्वनाश का आंतक भर देना राष्ट्रद्रोह नहीं तो और क्या है? स्वराज्य संचालकों का इरादा भांप कर देशवासियों ने उप-चुनावों के माध्यम से अपने विद्रोह की घोषणा कर दी है। उसे ठीक और स्वस्थ दिशा देना सुधीजनों का कार्य है। विद्रोह निश्चित है। विरोधी दल और बुद्धिजीवी अपना कर्त्तव्य बोध जागृत करें। उप-चुनावों का यही संदेश और संकेत है।

3 जुलाई, 1988

दल और देश का थोथा समीकरण

कहते हैं कि पहले देश है, इसलिए पहले देश की सोचो। अपनी बात बाद में करो।

'देश पहले और सब कुछ बाद में' की बात से किसी को कोई मतभेद नहीं है। लोकिन कोई व्यक्ति देश की सोचे कैसे ? भूख, बीमारी, अकाल, अभाव, महंगाई, बेरोजगारी, हिंसा, आतंक और इस सबसे अधिक राजीव और उनकी इंदिरा कांग्रेस की मार और दंद फंद से बचे, समय मिले तो देश की सोचें। देश की सोचना सारे संकटों से उबरकर काशीवास करने जैसी बात है। देश एक ऐसी दर्शनी हुण्डी के समान हो गया है जिसे दिखाकर, जिसकी ओट में राजनीतिक व्यापार किया जा रहा है।

कांग्रेसी समीकरण

कांग्रेसियों ने देश का समीकरण बनाया है—देश अर्थात कांग्रेस, कांग्रेस अर्थात नेता, नेता अर्थात परिवार, परिवार अर्थात सत्ता राजनीति का व्यवसाय। जब तक सत्ता राजनीति का व्यवसाय सुचारू रूप से चलता रहता है, देश में सब कुछ ठीक ठाक चल रहा माना जाता है। सत्ता राजनीति का समीकरण बदलता या बिगड़ता दिखाई देता है तो देश के बिगड़ने और टूटते जाने का प्रचार किया जाने लगता है। किन्तु कांग्रेसी अपने इस समीकरण के प्रति भी ईमानदार नहीं हैं। एक हैं पंडित कमलापति त्रिपाठी। सत्ता राजनीति से जुड़े वृद्धतम इंदिरा कांग्रेसियों में उमाशंकर दीक्षित के बाद उनका ही नाम है। विद्वान भी हैं और कांग्रेस के प्रति समर्पित भी। कर्मकांडी भी हैं और सेकुलर भी। निरपेक्ष भी हैं और सापेक्ष भी। अकेले में मिलते हैं तो देश दशा पर बहुत दुखी हो जाते हैं। फुसफुसाकर धीरे से कहते हैं अब राजीव को इस्तीफा दे देना चाहिएं सार्वजनिक रूप से इसलिए यह बात नहीं कहते कि इससे कांग्रेस की हानि होगी। कांग्रेस उनके लिए मां है। वे मातृघात नहीं करना चाहते। एक स्वागतयोग्य अनुकरणीय और अद्भुत समर्पण का आश्चर्यजनक उदाहरण है यह।

किन्तु इसं अद्भुत समर्पण का सत्य कुछ और है । अपनी आस्था के प्रति श्री त्रिपाठी जैसे इंदिरा कांग्रेसी कितने प्रतिबद्ध हैं इसका जायजा लेंगे तो कुछ और ही सामने आयेगा। यदि उनका यह वचन सच मान लिया जाये कि कांग्रेस बचेगी तो देश बचेगा कांग्रेस टूटेगी तो देश टूट जायेगा। कांग्रेस अर्थात देश तो क्या इन्दिरा कांग्रेसी अपनी कांग्रेस को बचाने का कोई ईमानदार प्रयास कर रहे हैं ? इस सवाल

का जवाब कोई कांग्रेसी नहीं देता। वे अपनी सत्ता और सरकार को बचाते तो दिखाई देते हैं लेकिन कांग्रेस और देश बचाने का उनके पास कोई कार्यक्रम नहीं है। यदि कोई कार्यक्रम होता तो कांग्रेस के चुनाव कराये जाते। चुने हुए प्रतिनिधि और पदाधिकारी कांग्रेस का कार्य करते होते। उसके आधार पर विधायक और सांसद बनते। सांसद और विधायक प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री का चुनाव करते। दल में आन्तरिक लोकतंत्र होता। आन्तरिक लोकतंत्र होता तो कांग्रेस लोकजीवन का प्रतिनिधित्व करती। कहां है यह सब कांग्रेस में ? कांग्रेस दल नाम की कोई चीज अब रही ही नहीं। अब है केवल सरकार और सरकार को अपनी मर्जी से चलाने वाला एक व्यक्ति, शेष सभी उसके गुमाश्ते अर्थात राजनीतिक बंधुआ मजदूर हैं। एक अद्भुत आश्चर्यजनक किन्तु सत्य बात यह भी है तथाकथित कांग्रेस की कांग्रेसी सरकार का नेतृत्व गैर कांग्रेसी के हाथ में है और उसके सामने सभी कांग्रेसी भिखारी की सी भक्ति भावना से हाथ जोड़ खड़े रहते हैं। कौन कांग्रेसी दावे के साथ कह सकता है कि दल, देश और स्वयं कांग्रेसियों के भाग्य का फैसला करने वाले राजीव कांग्रेसी हैं। कि कांग्रेस की दलीय प्रक्रिया में मंज संवर कर वे प्रधानमंत्री की कुर्सी तक पहुंचे हैं। राजीव दल के महासचिव पहले बने, नेता बाद में कहलाए। प्रधानमंत्री पहले बने नेता बाद में चुने गए। किसी कांग्रेसी के कुल में जन्म लेने का अर्थ यदि कांग्रेसी बन जाना होता है तो राजीव कांग्रेसी हो सकते हैं। राजनीति में कालबाह्य जातीय और वंश व्यवस्था को कांग्रेसियों ने उपजाया है। ब्राह्मण का बेटा-बेटी ब्राह्मण, प्रधानमंत्री का बेटा बेटी प्रधानमंत्री। यही है देश को कांग्रेस की देन। इसी कांग्रेसी राजनीति ने देश को दुर्दशा की भट्टी में झोंक रखा है।

कहां गई देशभक्ति

वस्तुतः कांग्रेसियों की देश भक्ति अब कमजोर ही नहीं, गौण भी हो गई है। यदि वे ईमानदारी से यह मानते होते कि देश के लिए कांग्रेस का रहना अपरिहार्य है तो कांग्रेस को सक्षम और जीवन्त संगठन बनाने का ईमानदार प्रयास करते। सत्ता का दलाल होने की गाली खाकर संतुष्टि की डकार न लेते। यदि कांग्रेस सक्षम और जीवन्त संगठन होता तो कांग्रेसी अपना विनाश मौन भाव से न देखते रहते, दोषी निर्दोषों को सजा न देता, अपनी प्रिय पार्टी को पुश्तैनी व्यापार की तरह चलाए जाते सहन न करते, आजादी के इस मंच पर बचकानी हरकतों का नाटक न चलता होता।

अभी कल ही की घटना है। स्थानीय निकायों और उप चुनावों में राजीव की इंदिरा कांग्रेस हारी तो हार की खुराक कौन बने ? वे मुख्यमंत्री जिन्हें राजीव ने अपने सामंती तरीके से राज्यों का मुख्यमंत्री नियुक्त किया था। कांग्रेस पार्टी ने अपनी पराजय का जायजा नहीं लिया। दिल्ली दरबार से राजीव का फरमान जारी हो गया कि हार के लिए मुख्यमंत्री जिम्मेदार हैं। क्या यह सच है ? क्या किसी कांग्रेसी ने

राजीव से पूछा कि पराजयों के कारणों का पूरी तरह पता किए बिना यह कार्रवाई क्यों की गई ? चुनाव में मुख्यमंत्री, मंत्री, सरकारी अफसर, और सरकार तो दिखाई दी थी किन्तु कांग्रेस पार्टी कहीं नहीं थी। कांग्रेस के अध्यक्ष, सचिव और अन्य पदाधिकारी दूर दूर तक कहीं किसी हाशिए पर भी नहीं दिखाई दिये थे। गुण्डों की भरमार थी किन्तु कांग्रेसियों का अकाल था। प्रधानमंत्री के हरकारे चुनाव का संचालन कर रहे थे। लड़ा कोई, हारा कोई। हार के लिए हत्या किसी और की की गई। यदि कांग्रेस जीवंत संगठन होता, कांग्रेसियों में दमखम होता, वे परजीवी और अपने तथाकथित नेता की कृपा के गुलाम न होते, उन्हें देश और दल से लगाव होता तो पहले पार्टी का महासम्मेलन बुलाते, उसमें अपनी कमियों की तलाश करते और फिर नेता को कोई कार्रवाई करने का आदेश देते। जिस दल का नेता दल से बड़ा हो, वह दल देश की क्या सोचेगा। उसके सदस्यों की सीमाएं नेता के पास पहुंच कर चुक जाती हैं।

करे कोई, भरे कोई

इंदिरा कांग्रेस की पराजय के लिए कौन जिम्मेदार हैं ? इंदिरा कांग्रेसी ? मुख्यमंत्री ? सरकारी अफसर ? इंदिरा कांग्रेसी की छवि किसने बिगाड़ी ? मुख्यमंत्रियों ने ? इंकाइयों ने ? अफसरों ने ? कांग्रेस पार्टी, कांग्रेस सरकार और उसके नेता भ्रष्ट हैं, घूसखोर हैं, दलाल हैं, कमीशन खोर हैं, अक्षम और अनुभवहीन हैं, देश की एकता, अखंडता और सुरक्षा के साथ वे आर्थिक और राजनीतिक सौदेबाजी करते हैं, दलालों और घूसखोरों को संरक्षण देते हैं, गरीबी, भूख, बीमारी, आतंक और अशिक्षा में इंकाइयों का निहित स्वार्थ है—कांग्रेस की यह छवि किसकी कथनी और करनी ने बनाई है ? मुख्यमंत्रियों और तथाकथित कांग्रेस भक्त इंदिरा कांग्रेसियों ने या प्रधानमंत्री राजीव ने ? बोफोर्स, पनडुब्बी सौदा, फेयरफैक्स, पंजाब, असम, दार्जिलिंग, मिजोरम, श्रीलंका दिवालियेपन की कगार पर खड़ी अर्थव्यवस्था, पड़ोसियों से बिगड़ते संबंध, विदेशनीति की असफलता और नेतृत्व की कायरता के लिए कौन जिम्मेदार है ? विश्वनाथ प्रताप सिंह और उससे जुड़ा अभियान किसकी देन है ? यदि इंदिरा कांग्रेसियों में तनिक भी स्वाभिमान और सामर्थ्य हाता तो वे अपने नेता को बदलने और हटाने का विचार करते जिसके कारण दल और देश दोनों की दुर्दशा हो रही है और जो मात्र इतने से संतुष्ट और प्रसन्न हैं कि बोफोर्स के कागज पत्रों में दलाली करने और कमीशन खाने वालों में उनका और उनके परिवार के किसी व्यक्ति का नाम नहीं लिखा है। कांग्रेसी सांसद अपने संसदीय दल की बैठक में राजीव से जवाब तलब क्यों नहीं करते ? संसद और देशवासियों के साथ किए जा रहे छल ओर बोले जा रहे झूठ का हिसाब क्यों नहीं मांगते ? संयुक्त संसदीय समिति द्वारा बोफोर्स के मामले मे तथ्यों पर परदा डालकर की गई लीपापोती के पाप **की सजा संबंधित**

व्यक्तियों को क्यों नहीं देते ? यदि कांग्रेस जीवंत पार्टी होती तो वह राजीव की छुट्टी करके अपना नया नेता चुनती, पुराने पापों का प्रक्षालन करके नए सुकर्मों द्वारा अपनी साख जमाती, विश्वसनीयता अर्जित करती ? हटना चाहिए था राजीव को, हटा दिये गए निरीह मुख्यमंत्री ?

योग्य मंत्री नहीं मिलते

साढ़े तीन साल में चौबीस बार केन्द्रीय मंत्रिमंडल में फेरबदल किया राजीव ने। अभी तक उन्हें सक्षम और सूझ बूझ वाले मुख्यमंत्री नहीं मिले। पांच सौ से अधिक इंकाई सांसदों में उन्हें मंत्री बनने की योग्यता वाले सांसद नहीं मिलते। राज्यों के नाकारा मुख्यमंत्रियों को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में लेते हैं, और केन्द्र के सांसदों को राज्यों में मुख्यमंत्री बनाते हैं। राजीव का भयादोहन (ब्लैकमेल) करके चापलूस कांग्रेसी मंत्री पद प्राप्त कर लेते हें, मुख्यमंत्री के बदले में केन्द्रीय मंत्री बन जाते हैं। केन्द्र के कूड़ेदान का कूड़ा राज्य में और राज्य के कूड़ेदान का कूड़ा केन्द्र में जमा करते रहते हैं राजीव। यह मंत्रिमंडल है कि पुलिस या प्रशासनिक विभाग कि जिस अफसर को जब चाहा दिल्ली बुला लिया और जिसे जब चाहा दिल्ली से लखनऊ, पटना और भोपाल भेज दिया।

प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में भय क्यों

यदि इंदिरा कांग्रेस को सचमुच देश और अपने दल से कोई लगाव है तो अपने जिस अहसास की अभिव्यक्ति वे अकेले में करते हैं उसकी अभिव्यक्ति देशहित में प्रत्यक्ष क्यों नहीं करते ? यदि कांग्रेस और कांग्रेस के द्वारा देश का बचाया जाना सचमुच आज की राजनीति और राष्ट्र का सत्य, समय की आवश्यकता है तो कांग्रेसी इस सत्य की प्रतिष्ठा क्यों नहीं करते ? एक सौ चार वर्ष पुरानी परंपरा वाली कांग्रेस को एक जन्मना कांग्रेसी—जो वस्तुतः कांग्रेसी नहीं है—अस्तित्वहीनता की ओर और देश को विनाश के गड्ढे में ले जा रहा है और देशभक्ति, आजादी और लोकतंत्र के झंडावाहक कांग्रेसी पिटे हुए मोहरों की तरह यह सब कुछ टुकर टुकर देख रहे हैं। वाह री कांग्रेसी देशभक्ति ! आत्मप्रवंचना, असहायता और आत्मनाश को आमंत्रण देने वालों की सही सही पहचान है इंदिरा कांग्रेसी। दलहित से जुड़ी इंदिरा कांग्रेसियों की देशभक्ति पर भरोसा करेंगे तो देशवासी देश का नाश करने के पाप का फल भी चखेंगे। क्या यह विचारणीय नहीं है कि जो इंकाई अपना दल नहीं बचा पा रहे हैं वे देश को क्या बचायेंगे ?

कांग्रेस अब अपनी आयु के अंतिम दौर में है। हो सकता है अन्त समय उसकी अंत्येष्टि करने वाला कोई असली कांग्रेसी भी न मिले। ये समय देश की राजनीति और व्यवस्था को स्वच्छ और स्वस्थ बनाने के लिए एक नया अनुष्ठान आरंभ करने का भी है अन्यथा कांग्रेस का प्रेत देश को अपना आहार बनाकर ही शांत होगा।

10 जुलाई 1988

विश्वनाथ प्रताप सिंह पर प्रश्नों की प्रेतछाया

इलाहाबाद उपचुनाव में विरोधी दलों के साझा उम्मीदवार विश्वनाथ प्रताप सिंह की विजय की सुख भ्रांति के बादल छंटने लगे हैं। देश के आम आदमियों और बुद्धिजीवियों की भी सहज चेतना वापस आने लगी है। विश्वनाथ प्रताप सिंह की विजय और इंदिरा कांग्रेस की पराजय के सत्यासत्य की खोज और विश्लेषण प्रारम्भ हो गया है। राजीव की इंदिरा कांग्रेस और विश्वनाथ प्रताप सिंह की राजनीतिक शैली का अन्तर तलाशा जा रहा हैं। व्यक्ति, नीति, सिद्धान्त और व्यवहार की व्याख्या की जा रही है कि कौन कितने पानी में है ? विश्वनाथ प्रताप सिंह के जनमोर्चा तक में खलबली है। खोया पाया का हिसाब किया जा रहा है। विजय की कीमत आंकी जा रही है। विश्वनाथ प्रताप सिंह को विजयी बनाकर देशवासियों ने अब उन्हें कथनी और करनी की खराद पर चढ़ा दिया है। चरित्र की निहाई पर विश्वास के हथौड़े से उनकी पिटाई शुरू हो गई है। यह अप्रत्याशित और अनावश्यक नहीं है। मिट्टी की हंडिया भी लोग बार बार ठोक बजाकर देखने के बाद ही खरीदते हैं फिर यह तो देश के भाग्य और भविष्य से जुड़ा हुआ प्रश्न है।

विजय तात्कालिक रूप से बहुत से दोषों और कमियों को दबा देती है। विजय के नायक की ओर देखने की दृष्टि बदल देती है। किन्तु बाद में सत्य का सामना होता है। तो उसके संबंध में कल्पना के कुछ विपरीत पाकर मन सन्नाटे से भर उठता है। रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पछतावा, पश्चात्ताप और ग्लानि कचोटने लगती है कि क्या सोचा था, क्या किया, क्या हो गया ?

मूल्यों को तिलांजलि

भारतीय राजनीति में देशवासी विश्वनाथ प्रताप सिंह को भ्रष्टाचार पर निर्णायक प्रहार करने वाले उस महानायक के रूप में देखते हैं जो सिद्धान्तों, मूल्यों और नीतियों का ध्वज वाहक है, जो वर्तमान व्यवस्था को बदलकर एक स्वच्छ, समर्थ और स्वावलम्बी समाज और राष्ट्र का निर्माण करने का दावा करता है, जो वर्तमान प्रधानमंत्री राजीव और उनकी सरकार के अनिर्णय, संकल्पहीनता, कायरता, अकर्मण्यता और अनैतिकता का अन्त करने का वज्र संकल्प लेकर राजनीति की समर भूमि में अमोघ सरसंधान करते हुए डटा हुआ है। गत डेढ़ वर्ष से अपने इस महानायक की

महिमा से अभिभूत देशवासी इस समय एक ऐसी सच्चाई के सामने खड़े हैं कि उन्हें सब कुछ घालमेल सा हुआ दिखाई देता है। वही सत्ता के दलालों का जमघट, वही चुनावी राजनीति की तिकड़म, वही अवसरवादी समझौते,वही विजय और पराजय के दबाव में आकर करणीय अकरणीय के विवेक की बलि, वही साम्प्रदायिक तत्वों और अलगाववादी तत्वों के साथ सौदेबाजी वही जीवनमूल्यों और सिद्धान्तों को तात्कालिक हिताहित की सूली पर टांग दिया जाना—कुछ भी तो नहीं बदला।

राजीव की राह पर

कांग्रेसी संस्कृति और विराधियों के साझा उम्मीदवार की कार्यशैली में कोई खास अन्तर नहीं दिखाई दिया। व्यक्ति के स्तर पर भले ही कुछ थोड़ा बहुत परहेज रहा हो, समर्थकों और चुनाव योजकों के स्तर पर कांग्रेस की राजनीतिक संस्कृति का ही वर्चस्व रहा। विश्वनाथ प्रताप सिंह यह कह सकते हैं कि उन्होंने चुनाव में पांच पैसा भी खर्च नहीं किया जो कुछ किया वह उनके समर्थकों ने किया, उसकी न उनको जानकारी है और न उसके लिए जिम्मेदार हैं। किन्तु वे यह आशा न करें कि चरित्र, मूल्य और सिद्धान्तवादी राजनीति की बेचैन तलाश में लगे देशवासी इसे इसी रूप में स्वीकर कर लेंगे। यह सोचना बहुत ही खतरनाक प्रवृत्ति है। अपने भाग्यविधाता किसी महानायक के आगमन क़े लिए आशावान लोगों के सामने क्या यह सवाल खड़ा नहीं होगा कि जो व्यक्ति अपने समर्थकों सहयोगियों के कार्यों और चरित्र के प्रति अनजान रहता है वह इतने बड़े देश की गतिविधियों पर नजर कैसे रख सकेगा ? यही कमी तो राजीव में भी है। इसी कमी में से ही बोफोर्स, पनडुब्बी सौदा और फेयरफैक्स पैदा हुए हैं। इसी कमी ने ही राजीव से भरी संसद में यह कहलवाया है कि 'मैंने और मेरे परिवार के किसी सदस्य ने दलाली नहीं ली है या उससे निजी और पारिवारिक स्तर पर उनका कोई संबंध नहीं है।' अपने साथियों और समर्थकों के कर्म और चरित्र के प्रति राजीव भी अनजान हैं तो विश्वनाथ प्रताप सिंह भी। फिर क्या अन्तर रहा इन दोनों में ? क्यों देशवासी विश्वनाथ प्रताप सिंह को अपना महानायक मानें ?

साझा सवाल

यह प्रश्न मेरे अकेले का नहीं, सबका साझा सवाल है। उन बुद्धिजीवियों और पत्रकारों का भी जो इलाहाबाद में हुए राजनीतिकरण के समय विश्वनाथ प्रताप सिंह की रणनीति और पराक्रम के प्रत्यक्षदर्शी थे। नमूने के तौर पर राजधानी के तीन समाचार पत्रों की राय की साक्षी दूंगा। ये समाचार पत्र ऐसे हैं जो विश्वनाथ प्रताप सिंह के पक्षधर माने जाते हैं। जो राजीव को हटाये जाने के समर्थक हैं, भले ही इंदिरा कांग्रेस का बचाव करते हों। ये कांग्रेस बचाओ, राजीव हटाओ, की सलाह कई बार कांग्रेसियों को दे चुके हैं। राजधानी के एक समाचार पत्र को अपने एक जुलाई

के अंक में 'मूल्यों की राजनीति ऐसे नहीं होती' सम्पादकीय में लिखना पड़ा—'आरिफ मोहम्मद खां का नाराज होना उचित है। यदि जनमोर्चे के लोग सत्ता के लिये नहीं, बल्कि मूल्यों की राजनीति के लिए कांग्रेस से अलग हुए हैं तो इलाहाबाद का चुनाव जीतने के लिए विश्वनाथ प्रताप सिंह को इमाम बुखारी, सैयद शहाबुद्दीन और हाजी मस्तान का समर्थन नहीं लेना चाहिए। और आरिफ खां को इस डर से दूर नहीं रखना चाहिए था कि मुस्लिम महिला अधिनियम का विरोध करने वाला नेता यदि मंच पर साथ साथ नजर आया तो मुसलमान वोट कट जाएंगे—भगवान राम ने कांग्रेस के सुनील शास्त्री की कोई मदद नहीं की और हाजी मस्तान या सैयद शहाबुद्दीन ने विश्वनाथ प्रताप सिंह को अतिरिक्त मुस्लिम वोट नहीं दिलवाए।.....उनके मन में यह आशंका घर कर गई कि इस बार यदि हार गए तो चुनावी राजनीति से वर्षों के लिए दूर हो जाएंगे। अतः इस बार तो जैसे तैस जीतना ही है। बस यही वह रपट है जिस पर फिसलना शुरू करके लौटना मुश्किल हो जाता है। दरअसल जो नेता मूल्यों की राजनीति करना चाहता है उसे मूल्यों की सार्वभौमता के सामने अपने निजी भविष्य की नगण्यता को भी स्वीकारना होगा।

........इस तरह कैसे काम चलेगा ? दरअसल ठीक यही शिकायत तो राजीव गांधी के खिलाफ भी है कि किसी ठोस यकीन से कठोरतापूर्वक चिपके रहने का संकल्प उनमें नहीं है क्योंकि उनके पास या तो यकीन नहीं है या कठोर संकल्प नहीं है। गनीमत है कि कुर्सी का यकीन राजीव गांधी ने पिछले सवा साल से भरपूर दर्शाया है। जब कोई किसी से चिपक नहीं पा रहा है तब कुर्सी से चिपके रहना कांग्रेस का एक रचनात्मक सदगुण माना जाना चहिए। .....लेकिन जो लोग भारत में परेस्त्रोइका का अरमान लेकर निकले हैं उनको कुर्सी अथवा इस उपचुनाव के बारे में ज्यादा नहीं सोचना चाहिए। ऐसा ही अरमान 1984 में राजीव गांधी ने भी जताया था और हम जानते हैं कि उसका क्या हुआ ?

सवाल दर सवाल

राजधानी के ही दूसरे समाचार पत्र के जो राजीव विरोधी माना जाता है, तीस जून के अंक में 'आरिफ करते भी क्या ?' सम्पादकीय के कुछ अंश इस प्रकार हैं—'चुनाद जीतने के लिए अल्पसंख्यक वर्ग के साम्प्रदायिक नेताओं का सहारा लेना अब हमारी राजनीति की एक सर्वस्वीकृत शैली बन गई है। अंग्रेजों की इस समरनीति का सबसे पहले कांग्रेस ने इस्तेमाल करना शुरू किया था। अल्पसंख्यकों को गिरोहबंद करके उनके वोट बटोरने का काम इतना आसान और फायदेमंद साबित हुआ कि कांग्रेस की देखा देखी सभी राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दल अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता का इस्तेमाल करने लगें......ऐसे राजनीतिक माहौल में विश्वनाथ प्रताप सिंह को सिद्धान्तवादी होने की सनक कैसे सवार हो सकती है ?.......

इसका खामियाजा पूरे समाज को तो भुगतना पड़ रहा है। अल्पसंख्यक वर्ग में से निकले उन नेताओं का तो राजनीतिक अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है जो साम्प्रदायिक राजनीति के खतरों को पहचानते हैं और अपने असाम्प्रदायिक संस्कारों पर टिके रहना चाहते हैं। करीम भाई छागला से लगातार आरिफ मोहम्मद खान तक ऐसे अनेक नेताओं का हवाला दिया जा सकता है जो वोट बटोरने के लिए की जा रही अल्पसंख्यक समुदाय की गिरोहबन्दी और जकड़बन्दी के खिलाफ आवाज उठाते रहे हैं। लेकिन इस आवाज उठाने के कारण ही वे अकेले पड़ते रहे हैं, क्योंकि देश के राजनीतिक दलों को अपने तात्कालिक स्वार्थ साधने के लिए उनका कोई उपयोग दिखाई नहीं देता।'

तीसरी बानगी

और यह रही तीसरी बानगी कि 'सिद्धान्तों के साथ सहज समझौता करने के लिए विश्वनाथ प्रताप सिंह को अपने समर्थकों को जवाब देना होगा। उन्होंने यह कार्य भारतीय राजनीति में मूल्यों और सिद्धान्तों की पुर्नस्थापना की घोषणा करने के बावजूद किया है। वे शिखर पर पल रहे भ्रष्टाचार पर सतत आक्रमण करते आ रहे हैं। वे स्वयं और दूसरों को भी यह विश्वास दिलाने में सफल रहे हैं कि इलाहाबाद उप चुनाव में उनकी जीत स्वच्छ राजनीति के पक्ष में एक स्पष्ट जनादेश है।..... अनेक पत्रकारों ने जो चुनाव के समय इलाहाबाद में उपस्थित थे प्रत्यक्ष देखा कि श्री सिंह के शिविर में कुछ अभाव भले रहा हो किन्तु बाहु और धन बल का अभाव कदापि नहीं था। उनके समर्थकों का तर्क था कि यह सब चुनाव राजनीति की बाध्यता है।.....भारतीय राजनीति की बाध्यताओं को देखते हुए कुछ सीमा तक इसक अनदेखा किया जा सकता है किन्तु मुसलमान मतदाताओं को आकृष्ट करने के लिए साम्प्रदायिक तत्वों के उपयोग को कदापि माफ नहीं किया जा सकता। सैयद शहाबुद्दीन और दिल्ली के इमाम ने विश्वनाथ प्रताप सिंह को कुछ मुस्लिम वोट दिलाए होंगे किन्तु सेकुलर राजनीति को सूली पर टांग कर।.........इन्दिरा कांग्रेस के तौर तरीकों को धन्यवाद कि उसने विश्वनाथ प्रताप की धूमिल होती छवि को फिर से चमक दमक प्रदान कर दी। सत्तारूढ़ दल से अलग होने के बाद उनके 15 महीने की गतिविधियों को देखते हुए लोगों के सामने यह सवाल है कि वे उन्हें किस कार्यक्रम और मूल्य के साथ संबद्ध करें ?'

बेदाग नहीं

निष्कर्ष यह है कि इलाहाबाद में विजय प्राप्त करने के बाद उपजे प्रश्नों की प्रेत छाया विश्वनाथ प्रताप सिंह पर घनीभूत होती जा रही है। तब लगा था कि भारतीय राजनीति पिघलनी शुरू हुई है। वह कोई नया रूपाकार लेगी। अब ऐसा लगने लगा है

कि वह पिघली जरूर लेकिन उसका द्रव फिर उसी कांग्रेसी संस्कृति के ढांचे में जमकर जड़ हो गया जिसे तोड़ने का दावा करके चुनाव लड़ा गया था।

पराजय का भय

वैसे विजय और पराजय के विश्लेषण अलग अलग होते हैं। जो बुद्धिजीवी और विश्लेषक इस समय विश्वनाथ प्रताप सिंह को उपदेश दे रहे हैं उनसे भी पूछा जाना चाहिए कि अगर विश्वनाथ प्रताप सिंह चुनाव हार गये होते तो उनका विश्लेषण क्या होता ? तब मूल्यों की बात न करके शायद राजीव के भ्रष्टाचार को जन अस्वीकार की बात की जाती। तब मूल्यों को सूली पर टांग कर कहा जाता, देश की जनता राजीव के साथ है। विश्वनाथ प्रताप सिंह की पराजय राजीव के पक्ष में जनादेश है कि विरोधी दल निराधार बकवास करते हैं। इस ओर खाई और उस ओर कुआं। विश्वनाथ प्रताप सिंह में इतना साहस नहीं था कि वे इन दोनों के बीच में दृढ़ता के साथ खड़े रहते। जबकि माहौल ऐसा था कि मूल्यों और सिद्धान्तों के साथ समझौता किए बिना भी इलाहाबाद की जनता उन्हें जिता देती। उसने अपना मन बना लिया था। लेकिन पराजय के भय ने विश्वनाथ प्रताप सिंह को डिगा ही नहीं दिया, डरा भी दिया और वे महानायक की दृढ़ता का गुण गंवा बैठे। इलाहाबाद की जनता को एक ऐतिहासिक अवसर से वंचित कर दिया कि वह अपने आत्मबल, चरित्र और निष्ठा का प्रमाण देती। अवसरवाद ने उसकी आस्था और विश्वास की चमक को धुंधला कर दिया। यदि बिना किसी प्रकार के सैद्धान्तिक समझौते के विश्वनाथ प्रताप सिंह चुनाव में वीरगति को प्राप्त हो जाते तो भ्रष्टाचार समर्थक और साम्प्रदायिक होने का आरोप मतदाताओं पर लगता। इन्दिरा कांग्रेस के राजीव और विरोधी दलों के विश्वनाथ प्रताप सिंह समान धरातल पर खड़े हैं। राजीव की तरह विश्वनाथ प्रताप सिंह भी सिद्धान्त और मूल्य की अदालत में सिर झुकाए खड़े हैं। उनके उत्तर इतने तथ्यपूर्ण और संतोष जनक नहीं हैं कि उन्हें विश्वास के साथ ससम्मान और बेदाग रिहा कर दिया जाए।

वैकल्पिक राजनीति की जरूरत

किन्तु क्या करते बेचारे विश्वनाथ ? जिस राजनीतिक कुल में उनका राजनीतिक जन्म हुआ और जिसे छोड़ कर वे सत्ता वनवास भोग रहे हैं उसका चरित्र ही ऐसा है। वहां दोहरी बात और दोहरा व्यक्तित्व सद्‌गुण माना जाता है। पाखण्ड उस राजनीतिक कुल का संस्कार और धर्म है। इसी अनुभव के आधार पर ही शायद दादा आचार्य कृपलानी ने यह कहा होगा कि 'We the Indians are the greatest by hypocrites in the World. अर्थात हम भारतीय दुनियां में सबसे बड़े पाखण्डी हैं। दादा कृपलानी के इस कथन में आत्मग्लानि और आत्मनिन्दा का अंश हो सकता है किन्तु

इसमें निहित सत्य को नकारा नहीं जा सकता। इस पाखण्ड से मुक्ति मिलेगी तो ही भारत देश का पाप कटेगा ? जिसमें इस तलवार की धार पर चलने की क्षमता और संकल्प होगा वही भारत देश का भावी महानायक बनेगा। चुनाव में हार जीत तो होती रहती है। यदि पापमय राजनीतिक संस्कृति को समाप्त करना है तो उसके समानान्तर एक सशक्त ओर वैकल्पिक राजनीतिक संस्कृति का निर्माण करना होगा। इस कार्य में दोगलापन नहीं चलेगा। दोमुंही बातों में कोई कांग्रेसी ही विश्वास करता है। विश्वनाथ प्रताप सिंह को यह प्रमाणित करना होगा कि अब वे कांग्रेसी नहीं हैं और अब वे कांग्रेस संस्कृति से भी पूरी तरह मुक्त हैं। पुनश्च हरि ओम् करिए राजा माण्डा। यही प्रश्न प्रेतों का एकमात्र उत्तर होगा।

17 जुलाई 1988

विकल्प ब्रह्म की साधना

भारतीय राजनीति में विकल्प की तलाश चल रही है। विरोधी दल इंदिरा कांग्रेस और राजीव का विकल्प खोज रहे हैं तो कांग्रेसी अपने कांग्रेस कुल में राजीव का विकल्प। विरोधी दल, दल और व्यक्ति का तो कांग्रेसी केवल व्यक्ति का पर्याय प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर प्रयत्नशील हैं।

कांग्रेसी विकल्प की संभावना

एक हो गए महात्मा कबीर। स्वभाव से फक्कड़, चिन्तन में गंभीर। ना काहू से दोस्ती,न काहू से बैर। अपने समय की समाज दशा, पुजारियों और मौलवियों का मायाजाल देखा तो दया से भर कर बोले थे—'अरे ! इन दोउन राह न पाई।' अगर आज वे जीवित होते तो भारतीय राजनीति पर इसी प्रकार की कोई टिप्पणी अवश्य करते। सत्तापक्ष और विरोधी दल अपने अपने विकल्प ब्रह्म की तलाश में भटक रहे हैं लेकिन दोनों में वैकल्पिक विचार ओर बुद्धि का अभाव है। दोनों साधना, संयम और साहस के संकट से पीड़ित हैं। सुविधाजनक समझौता, आरामतलब, अवसरवादी और केवल सत्ता का समीकरण सिद्ध करने की लालसा दोनों में समान रूप से व्याप्त है।

विकल्प ब्रह्म का साक्षात्कार करने की वर्तमान प्रक्रिया में एक बहुत बड़ा खतरा है कि विरोधी दलों के विकल्प के बुद्धिविलास में इस बार भी कांग्रेस विकल्प ही उभरेगा। यही 1967 और 1977 में हुआ था यही 1989 में भी होने की पूरी-पूरी संभावना है। यदि विरोधी दलों का प्रयास सुफल हो गया तो इसका लाभ केवल असंतुष्ट और सत्ता वंचित कांग्रेसियों को ही होगा। इस समय वे राजीव की इंदिरा कांग्रेस की सत्ता का सुख भोग रहे हैं। बाद में विरोधी दलों की सफलता, यदि मिल गई तो उस का फायदा उठाएंगे। केवल मंच बदलेगा, राजनीति का चरित्र और राजनेताओं की चाल यथावत रहेगी। यह प्रक्रिया शासन भले बदल दे, व्यवस्था नहीं बदल सकती।

पुराने कांग्रेसी पूर्व केन्द्रीय मंत्री अनुभवी राजनयज्ञ श्री इन्द्र कुमार गुजराल उन कुछ लोगों में से हैं जिन्हें विरोधी दलों की एकता का झण्डावाहक के रूप में जाना जाता है। विकल्प प्राप्त करने की वर्तमान प्रक्रिया में निहित खतरे का उन्होंने बहुत ही बारीकी के साथ विश्लेषण किया है। कांग्रेस में मची खलबली और कांग्रेसियों की

भावी रणनीति के विषय में वे लिखते हैं, 'यह जानने के लिए किसी अनुसंधान की आवश्यकता नहीं है कि राजीव गांधी के आसपास पार्टी के अग्रणी नेता चुपचाप इस बात का निर्धारण कर रहे हैं कि विश्वनाथ प्रताप सिंह का आगे निर्वाचन संबंधी भविष्य क्या है। कांग्रेस जनों का विश्वनाथ प्रताप सिंह की ओर दो प्रमुख कारणों से ध्यान जाता है। प्रथम यह कि वे उनके इस प्रश्न का सटीक उत्तर हैं कि राजीव नहीं तो फिर कौन ? द्वितीय यह कि निचले स्तर के कांग्रेस जन अपनी राजनीतिक संस्कृति अर्थात कांग्रेस संस्कृति पर चलना चाहते हैं और विश्वनाथ प्रताप सिंह में उन्हे वही संस्कृति नजर आती है।' अर्थात जब इन्दिरा कांग्रेस की पराजय की संभावनाएं सबल होंगी राजीव का नेतृत्व चुनाव जिता पाने में पूरी तरह असमर्थ दिखाई देगा, कांग्रेसियों की भगदड़ होगी और वे विकल्प यज्ञ के होता के रूप में विरोधी दलों के खेमें में अपनी राजनीतिक संस्कृति की रक्षा करने के अनुष्ठान की सफलता का फल भोगेंगे और विकल्प की संभावना कम से कम एक दशक के लिए फिर दब जाएगी। सत्तावंचित होना कांग्रेसी सहन नहीं कर सकते। सत्ता संतुलन को नीतियों और सिद्धान्तों की तुला पर अपनी ओर झुका लेना विरोधी दलों के बूते क बात नहीं है। व्यक्तियों और वोटों के समीकरण से चुनावी हार जीत में विकल्प के बीज नहीं हैं। इन्दिरा कांग्रेस हराओ और राजीव हटाओ की सफलता को यदि कोई विकल्प मान ले तो और बात है।

जिस व्यक्ति विश्वनाथ प्रताप सिंह और उसके जनमोर्चे को केन्द्रबिन्दु मानकर विरोधी दल विकल्प ब्रह्म का दर्शन करना चाहते हैं उसके व्यक्तित्व और विचारों का भी विश्लेषण आवश्यक है। विश्वनाथ प्रताप सिंह अब सामान्य व्यक्ति नहीं हैं कि उनके अतीत, वर्तमान और भविष्य की कोई परवाह न की जाए। वर्तमान माहौल में आंख मूंदकर मन मार कर देश के भविष्य का विचार केवल चुनाव के संदर्भ में करना योग्य नहीं होगा।

श्री महादेव विट्ठल (एम० वी०) कामथ निर्भीक टिप्पणीकार दल और व्यक्ति निरपेक्ष, राष्ट्र सापेक्ष अनुभवी पत्रकार हैं। उनका कहना है कि विश्वनाथ प्रताप सिंह को नेता बनाने से पूर्व विरोधी दल पहले उनके अतीत में झांक कर अवश्य देख लें। राष्ट्रीय और व्यक्तिगत आकांक्षाओं से जुड़ी उनकी प्राथमिकताओं को परख लें। यह विचार कि क्या उन्हें सचमुच राष्ट्र की चिन्ता है ? वे लिखते हैं विश्वनाथ प्रताप सिंह का जनमोर्चा व्यक्ति, नीति, सिद्धान्त और आचरण से केवल कांग्रेस है और कुछ नहीं। इलाहाबाद चुनाव में कांग्रेस हारी लेकिन कांग्रेस संस्कृति की जीत हुई है। वे बम्बई आए थे तो उनसे पूछा गया था कि पहले उन्होंने राजीव और इंदिरा कांग्रेस को अच्छे चरित्र का प्रमाण पत्र क्यों दिया था ? विश्वनाथ प्रताप सिंह द्वारा दिया गया इस प्रश्न का उत्तर सतत विश्लेषण मांगता है। उन्होंने कहा था कि 'उस समय वे

कांग्रेस पार्टी के सदस्य होने के नाते उसके अनुशासन और वफादारी से बंधे थे। स्पष्ट है, कांग्रेस पार्टी और सरकार से निकाल दिये जाने के बाद ही उसके विरुद्ध उनकी आवाज फूटी। क्या इसका यह अर्थ नहीं होता कि यदि राजीव गांधी विश्वनाथ प्रताप सिंह को सहन करते रहते तो वे वफादारी और अनुशासन के नाम पर अपने नेता राजीव और उनकी भ्रष्ट सरकार का समर्थन करते रहते ? क्या इससे यह आश्चर्यजनक रहस्योद्घाटन नहीं होता कि अपनी सिद्धान्तप्रियता के कारण नहीं अपितु उनके व्यक्तिगत स्वाभिमान को आघात लगने के कारण वे अपने नेता के विरुद्ध हो गए। क्या राजीव गांधी का विकल्प बनाने के लिए विरोधी दलों को ऐसे ही व्यक्ति की जरूरत है ? भ्रष्टाचार के विरुद्ध श्री सिंह का युद्ध सचमुच सराहनीय होता यदि उन्होंने अपना यह संघर्ष पार्टी से निकाले जाने से पूर्व प्रारम्भ किया होता। बम्बई में कामगारों की सभा में वे बोले कि गत चालीस वर्षों में कांग्रेस ने कामगारों के लिए कुछ भी नहीं किया। यह विवाद और बहस का विषय हो सकता है। किन्तु इसी के साथ साथ यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि कांग्रेस में रहते हुए श्री सिंह ने कामगारों के लिए क्या किया ? बम्बई के बुद्धिजीवियों को सम्बोधित करते हुए श्री सिंह ने पंजाब और असम समझौतों को पाखण्ड, प्रवंचना, छल, कपट, धोखा, और ढोंग बताकर रद्द कर दिया था। यदि पंजाब और असम समझौता छल, कपट और पाखण्ड था तो राजीव गांधी के मंत्रिमंडल के एक वरिष्ठ सदस्य के नाते उन्होंने क्या किया था ? वे तब चुप क्यों रहे थे ? श्री सिंह की वाणी ने तब उसका विरोध करने से मना क्यों कर दिया था ? इस समय क्या हम एक ऐसे व्यक्ति को अपनाने नहीं जा रहे हैं जिसने 1975 में जयप्रकाश नारायण के विरुद्ध प्रदर्शन किया था ? नग्न सत्य यह है कि श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह हमारे संकट के साथी नहीं हो सकते। इलाहाबाद में अपने समर्थकों को बन्दी बनकर उन्होंने आरिफ मोहम्मद खान को फटकने नहीं दिया। यदि अपने मित्रों के छोटे छोटे दबावों के आगे वे झुक सकते हैं तो हम कैसे विश्वास करें कि समय आने पर वे महाशक्तियों के दबाव को झेलकर उन्हें रौंदते हुए आगे बढ़ जाएंगे। श्री सिंह द्वारा राजनीतिक शुचिता का केवल प्रदर्शन किया जाना ही पर्याप्त नहीं है। डाकुओं पर नियंत्रण न कर पाने पर उन्होंने त्याग पत्र दे दिया था। परिणामों का सामना करने की शूरता के अभाव में वे अपने पद से हट गए थे। रक्षा मंत्री के पद से भी उन्होंने त्यागपत्र केवल इसलिए दिया था कि वे राजीव गांधी का सामना नहीं कर सके थे। संकट के क्षणों में साहस और संकल्प प्रदर्शित करने का कोई ज्वलंत उदाहरण उनके जीवन में नहीं है। क्या ऐसे व्यक्ति को हम प्रधानमंत्री बनाना चाहेंगे ? देश के जनमानस में यह बात भरी जा रही है कि वह नैतिक मूल्यों की केवल बात करने वाले एक कमजोर व्यक्ति को स्वीकार कर लें। ऐसे राजनीतिज्ञों की भी कमी नहीं है जिनका अपने नेताओं के प्रति मोहभंग हो चुका और श्री सिंह को आवश्यक नैतिक समर्थन प्रदान कर रहे हैं।'

राजनीति की आवश्यकता

एक अनुभवी कांग्रेसी है तो दूसरा वरिष्ठ पत्रकार। दोनों देश दशा के प्रति चिन्तित हैं। दोनों का निष्कर्ष कहता है कि विकल्प चुनाव की राजनीतिक बाध्यता नहीं राष्ट्र की राजनीति की आवश्यकता है। दोनों विश्वनाथ प्रताप सिंह को चाहते हैं। दोनों श्री सिंह विरोधी दलों और देशवासियों को आगाह कर रहे हैं कि यदि कांग्रेसी और कांग्रेस संस्कृति के कीड़े विरोधी दलों में अवसर देखकर घुसते रहेंगे या उन्हें विरोधी दलों के खेमें में घुसने दिया जाएगा तो राजनीतिक विकल्प नहीं बनेगा। विकल्प के लिए चाहिए संकल्प, सिद्धान्त और एक ऐसा साहसी व्यक्ति जो उच्च जीवन के मूल्यों की केवल बात न करे, मूल्यों की रक्षा और राजनीतिक मर्यादाओं कर निर्माण भी करे। अवसरवादी दबावों को झेल भी सके।

यह निश्चित है कि आज नहीं तो कल कांग्रेसी इंदिरा कांग्रेस छोड़ेंगे। इंदिरा कांग्रेस को राजीव अब विजयी नहीं बना सकते। इंदिरा कांग्रेस में राजीव का कोई विकल्प भी नहीं है। इसलिए वे अपने राजनीतिक भविष्य के लिए किसी दूसरे व्यक्ति और विकल्प की तलाश करेंगे। वैकल्पिक व्यक्तियों और दलों को वे अपने राजनीतिक संस्कारों और हानि लाभ की कसौटी पर कसेंगे। जो व्यक्ति और दल उनके संस्कारों के समीप दिखाई देगा उसके पास भाग कर जाएंगे। इंदिरा कांग्रेस से भाग कर आए ये कांग्रेसी विपक्षी खेमें को प्रदूषित करेंगे। विपक्ष की तरफ से ज्यादातर ये अवसरवादी कांग्रेसी ही चुनाव लड़ेंगे। क्योंकि वे लोकतंत्र और नैतिकता के पक्ष में भ्रष्टाचार और खानादानी तंत्र के विरुद्ध जगजीवन राम ओर बुहुगणा की तरह बगावत करके आए होंगे। तब विरोधी दल राजनीतिक पन्ने के हाशिए पर होंगे और कांग्रेस मौसमी चिड़ियों का चरित्र भारतीय राजनीति का मुख्य आलेख होगा। फिर वही टूटने और जुड़ने की प्रक्रिया शुरू हो जायेगी। जो 1967 और 1977 से 1980 तक चली थी। जो आज कर्नाटक में चल रही है। जो इसके पहले आंध्र मं चल चुकी है। घूम फिर कर इस देश की राष्ट्रीय राजनीति का संचालन कांग्रेसी और कांग्रेस संस्कृति ही करेगी। दल बदल सकता है लेकिन राजनीतिक संस्कृति यथावत रहेगी। आज के राजीव समर्थक कांग्रेसी कल कोई और बिल्ला लगाकर सत्तासुख की चासनी चखेंगे और विकल्प का प्रश्न सदा की भांति फिर अनुत्तरित रह जाएगा।

तो फिर करें क्या ? करना केवल विरोधी दलों को है। पहले वे अपने अस्तित्वहीन हो जाने के मानसिक संकट से उबरें, फिर विकल्प बनने या बनाने की सोचें। मुख्य मुद्दा राजीव या इन्दिरा कांग्रेस का विकल्प प्राप्त करने का नहीं है। मुख्य प्रश्न है वैकल्पिक राजनीति, राजनीतिक आचरण और चरित्र का। माना कि केन्द्रीय सरकार को हटाना वर्तमान की सर्वाधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय आवश्यकता है। लेकिन इस आवश्यकता की पूर्ति किसी नकारात्मक प्रयास से करना क्या इसका उचित और स्थाई हल होगा ? शून्य का विकल्प शून्य को बनाएंगे तो उसमें से

महाशून्य के अतिरिक्त क्या और कुछ हाथ लगेगा ? देश में राजनीतिक महामारी के कीटाणुओं को क्या उन्हीं की जाति बिरादरी मिटा पाएगी ? इंदिरा कांग्रेस को हराना और राजीव को हटाना कठिन कार्य नहीं है। यह कार्य तो तालमेल और एक पर एक की रणनीति से भी हो सकता है। विरोधी दलों की जीत के बाद ऐसे व्यक्ति भी मिल जायेंगे जो सरकार बनाएं प्रधानमंत्री मुख्यमंत्री बनें। किन्तु वह प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री और सरकारें मोरारजी देसाई, चौधरी चरण सिंह, गोविन्द नारायण सिंह, भागवत दयाल शर्मा, राव वीरेन्द्र सिंह, महामाया प्रसाद, अजय मुखर्जी, बाबूभाई पटेल, रामकृष्ण हेगड़े और उनकी सरकारों से भिन्न कैसे होंगी ? जब तक नेतृत्व भिन्न नहीं होगा सिद्धान्त और नीतियां भिन्न नहीं होंगी समर्थक और साथी भिन्न नहीं होंगे तब तक राजनीति का चरित्र नहीं बदलेगा। व्यवस्था नहीं बदलेगी। विकल्प नहीं बदलेगा तब तक केवल सरकार बदलेगी समाज नहीं बदलेगा। केवल नेता और दल बदलेंगे, नीतियां और आचरण यथावत रहेंगे।

देश का राजनीतिक भविष्य राजीव और उनकी इन्दिरा कांग्रेस के लिए उतना भयावह नहीं है जितना खतरनाक विरोधी दलों के लिए है। आने वाले दिनों में एक बार फिर कांग्रेसी थोक में विरोधी खेमे में घुसपैठ करेंगे ओर विरोधी दलों को संदर्भहीन बनाकर सत्ता हथिया लेंगे।

विरोधी दल इस संभावित संकट के प्रति असावधान हैं। किन्तु इंदिरा कांग्रेस के टूटने की सम्भावना से इंकार वे भी नहीं करते। यह निश्चित है इंदिरा कांग्रेस छोड़कर कांग्रेसी अपने पूर्व चरित्र और गुण वाले व्यक्तियों के पास ही जाएंगे। उनका प्रयास होगा कि वे ही विपक्ष की मुख्य राजनीतिक धारा बनें। विरोधी दलों की अब तक की जैसी परम्परा रही है। वे उनके पीछे लग लेंगे। क्योंकि अधिकांश विरोधी दलों के विकल्प का अर्थ केवल हार जीत के गणित का जवाब और सत्ता संतुलन का इस या उस ओर झुक जाना मात्र है। व्यक्तिगत पसंद, नापसंद, पद, सम्मान और सुविधा की कांग्रेसी राजनीतिक सोच गत चालीस वर्षों से विरोधी दलों का निर्माण और शोषण करती आ रही है। विरोधी दल कांग्रेस संस्कृति का काला पहाड़ लांघने की तैयारी करके कूदें कि इसके पूर्व ही कांग्रेसी उन्हें पंगु बना देते हैं। विकल्प बनने के स्थान पर विरोधी दल राजनीतिक विकलांग बन कर रह जाते हैं। जब तक वे अपनी मानसिक सांगठनिक और सैद्धान्तिक विकलांगता से मुक्त नहीं होंगे तब तक विकल्प की आशा हताशा को न्यौता देती रहेगी। सचमुच यदि आज महात्मा कबीर होते तो आज की राजनीतिक उठापटक पर निश्चित ही यह टिप्पणी करते कि 'अरे इन दोउन राह न पाई।' इतना ही नहीं शायद वे देशवासियों को भी आगाह करते कि 'कबीरा तेरी झोंपड़ी गलकटियन के पास।' इन गलकटियन को अपने रास्ते से हटाए बिना विकल्प की साधना को सिद्ध कर पाना क्या संभव है ?

24 जुलाई 1988

भारतीय पत्रकारिता की कमजोर धुरी

जगन्नाथपुरी के शंकराचार्य निरंजनदेव तीर्थ और आर्यसमाजी संन्यासी अग्निवेश के बीच समाज और शास्त्र विधान के प्रश्न पर युगलबन्दी चल रही है। दोनों के अपने अपने समर्थक हैं। दोनों का अपना अपना वैचारिक धरातल है। दोनों शब्द और भावना के शिकार हैं। दोनों सामाजिक समरसता और समता के पक्षधर हैं। और दोनों के व्यवहार और विचारों ने सामाजिक समरसता और समता को सूली पर टांग रखा है। दोनों अपनी वाणी और व्यवहार से सामाजिक शांति भंग करके उसका संताप बढ़ा रहे हैं।

कुछ लोगों को यह आपत्ति हो सकती है कि शंकराचार्य और अग्निवेश को समान रूप से दोषी ठहराना अनुचित और अन्यायपूर्ण है। इस आपत्ति पर बहस और शास्त्रार्थ किया जा सकता है। किन्तु इन दोनों के बीच चल रहे विवाद का कारण भी तलाशा जाना चाहिए। किसी भी समस्या की ओर देखने की दृष्टि और उसे सुलझाने के तरीके भिन्न हो सकते हैं। यह व्यक्ति व्यक्ति के चिन्तन और चरित्र पर निर्भर करता है। परन्तु यह तो नहीं होना चाहिए कि आग बुझाने के लिए आग को हवा दी जाय। अपनी छवि बनाने के लिए किसी की छटा को क्षय करने का प्रयास किया जाए। सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए यह भी विचार किया जाना चाहिए कि हिन्दू समाज के ये दो पक्ष आपस में क्यों भिड़े हुए हैं ? अतएव दोनों संन्यासियों की स्थापनाओं के गुण-दोष का विवेचन न करके पहले हम इस विडम्बनायुक्त मोर्चे बन्दी के कारण की तलाश करें।

कारण अनेक हो सकते हैं। किन्तु उन कारणों में से जो प्रमुख कारण है वह आधुनिक भारतीय पत्रकारिता का चरित्र और पत्रकार। भारतीय संदर्भ, साहित्य, परम्परा और पार्श्वभूमि से कटी भारतीय पत्रकारिता पश्चिमी जीवन दर्शन, साहित्य और संस्कार से प्रेरणा प्राप्त करती है। भारतीय पत्रकार जब तक भारतीय संदर्भ में पश्चिमी पाखण्ड का छौंक नहीं लगाता तब तक उसे अपने लेखन में स्वाद नहीं आता। उसे व्यास, वाल्मीकि, कालीदास समझ में नहीं आते। उसके लिए राम की सीता के असंदिग्ध पावित्र्य का उतना महत्व नहीं है जितना सीजर की पत्नी के संदेहों से परे होना। उसे भारत का भीम नहीं दिखता, पश्चिम का हरकुलिस दिखाई देता है। और इसलिए जब कोई भारतीय व्यक्ति भारत के साहित्य, दर्शन और चिन्तन से जुड़ी

बात आधुनिक संदर्भ में कहता है तो आज की पीढ़ी का पत्रकार अविश्वास से भर उठता है कि 'क्या ऐसा है, क्या ऐसा भी हो सकता है ?' बात इतनी सी ही होती तो भी बात न बिगड़ती। उस सन्दर्भ का सत्य समझने का उसमें न धैर्य है और न उत्सुकता। जल्दी इतनी है कि पूरी बात सुने और जाने बिना ही वह लिखना शुरू कर देता है।

आज का पत्रकार

अपनी इस बात को मैं एक उदाहरण से बल देना चाहूंगा। दिल्ली के कुछ वरिष्ठ सम्पादक गत दिनों राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री बाला साहब देवरस से मिलने आये थे। उनके नागपुर के भाषण और जयपुर की पत्रकार वार्ता को लेकर उस समय विवाद चल रहा था। वही कांग्रेस का विकल्प होने न होने का विवाद। सम्पादकगण कुछ पूछते, बात शुरू होती, कि उसके पूर्व ही श्री देवरस ने पूछा—'आजकल के पत्रकारों, सम्वाददाताओं और सम्पादकों में ऐसे कितने लोग हैं जिन्हें संस्कृत आती है। जिन्हें भारतीय वाड.मय की जानकारी है। जो संस्कृत साहित्य ओर उसके सुभाषितों का संदर्भ और अर्थ जानते और समझते हैं। उपस्थित धुरीण सम्पादकों और पत्रकारों को श्री देवरस के इस प्रश्न ने ध्वस्त कर दिया। कोई कुछ नहीं बोला। मौन का सन्नाटा श्री देवरस ने ही तोड़ा कि 'ऐसी स्थिति में मेरे जैसे लोगों के सामने यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि अपनी बात आप सबसे किस प्रकार कहें। प्रचलित प्रश्न का उत्तर के अतिरिक्त यदि किसी ने कुछ कहा तो संवाददाता उठ कर चले जाते हैं। राजनीति के अतिरिक्त और किसी विषय में उनकी रुचि कम होती जा रही है। एक सम्पादक ने श्री देवरस से सीधा प्रश्न किया कि क्या आपने यह पता किया कि मेरे नागपुर भाषण में पूरे समय आपका सम्वाददाता उपस्थित था कि नहीं। कि आधी अधूरी बात सुनकर वह उठकर चला गया था और बाद में किसी से पूछकर के समाचार भेजा था ? उस सम्पादक द्वारा श्री देवरस को दिया गया उत्तर बहुत ही निराशाजनक था। लगभग सभी सम्पादकों ने उनकी व्यथा को स्वीकार किया। किन्तु उपाय किसी के पास नहीं था।

स्वस्थ पत्रकारिता की शर्त

पत्रकारिता की मुख्य धुरी है सम्वाददाता। सम्वाददाता जितना गंभीर और दायित्व बोध से परिपूर्ण होगा पत्रकारिता उतनी ही स्वस्थ और सार्थक होगी। सम्पादक से यह अपेक्षा नहीं है और यह संभव भी नहीं है, कि वह प्रत्येक घटना का प्रत्यक्षदर्शी हो। यह कार्य सम्वाददाता का है। सम्वाददाता ही सम्पादक की आंख कान होते हैं। उनके प्रति विश्वास के आधार पर ही सम्पादक अपनी टिप्पणी लिखता है। संवाददाता प्रश्न पैदा करता है, सम्पादक समाधान देने का प्रयास करता है। संपादक और संवाददाता

की यह स्वस्थ युति स्वस्थ पत्रकारिता के लिए आवश्यक है। यह युति भंग होती है तो ही अप्रिय विवाद और प्रसंग पैदा होते हैं।

सती प्रथा

शंकराचार्य निरंजनदेव तीर्थ ने जो कुछ कहा था यदि उसे उसी रूप में प्रकाशित किया जाता तो स्वस्थ बहस तो चलती लेकिन शत्रुतापूर्ण परिस्थिति न पैदा होती। जो कुछ उन्होंने कहा था उसका सार संक्षेप यह है कि सती होना कोई खेल तमाशा नहीं है। सती धर्म और सती प्रथा में अन्तर है। यदि कोई स्त्री गर्भवती हो, अपने पति के शव के साथ सती होने जाते समय यदि वह अपने घर, परिवार, पुत्र और संबंधियों की ओर मुंह मोड़ कर मोह और ममता भरी दृष्टि से देख ले, या चिता के समीप पहुंचकर भयभीत हो जाय तो उसके संबंधियों और समाज का प्रथम कर्तव्य है कि वह उसे सती होने से बलपूर्वक रोक ले। गर्भवती, मोहग्रस्त और भयभीत स्त्री को सती होने की अनुमति न शास्त्र देता है और न ही समाज। यह प्रथा नहीं किसी स्त्री के मन की विशिष्ट अवस्थां है। यह उनकी आत्मशक्ति पर निर्भर है कि वह क्या करे? दबाव डालकर बलपूर्वक चिता पर चढ़ा देना अपराध है।

हरिजनों के मंदिर प्रवेश के प्रश्न का उनका उत्तर था कि यदि पंडित और पुजारी हरिजनों को मंदिर में नहीं जाने देते तो वे मन्दिर में स्वयं न जाएं। क्या आवश्यकता है उन्हें मंदिर में जाने की ? जो पुण्य मंदिर के पंडितों और पुजारियों को गर्भग्रह में प्रत्यक्ष पूजा करके भी प्राप्त नहीं हो सकता वह पुण्य हरिजन मंदिर का कलश और पताका का दर्शन करके ही प्राप्त कर सकते हैं।

संतों और शास्त्रों की साक्षी

एक प्रश्न यह भी है कि पुरी के निरंजनदेव तीर्थ ही क्यों ? कांची के जयेन्द्र सरस्वती क्यों नहीं ? केरल के भूमानन्द, पेजावर के विश्वेशतीर्थ क्यों नहीं ? वे भी तो शंकराचार्य और धर्माचार्य हैं। मंदिर में हरिजन प्रवेश के प्रश्न पर अग्निवेश और निरंजनदेव के बीच छिड़े अप्रिय विवाद पर परदा डालकर जयेन्द्र सरस्वती के सामाजिक सुधार महाअभियान और रचनात्मक कार्यों का संदेश क्यों नहीं बनता ? यदि जयेन्द्र सरस्वती आगे आयेंगे तो निरंजनदेव तीर्थ स्वतः पार्श्व में चले जायेंगे—फिर अग्निवेश की सस्ती लोकप्रियता बटोरने का सतही अभियान निरर्थक होगा, यह सार्थक कार्य ही हिन्दू समाज में चल रहे अमानुषिक अन्यायों का सही प्रतिकार है। किन्तु कितने ऐसे संवाददाता हैं जो जयेन्द्र सरस्वती जैसों की रचनात्मक सोच और कर्म का साधार लेखन करते हैं। बहुत कम। न के बराबर। मरुस्थल में नखलिस्तान की तरह। भारतीय संतों और शास्त्रों की साक्षी है कि वर्ण वर्ग और ऊंच नीच के आधार पर भेदभाव करने का हिन्दुत्व निषेध करता है। यह मानवता और

ईश्वर के प्रति अपराध है। कोई शंकराचार्य या समाज व्यवस्था ही नहीं यदि प्रत्यक्ष परमेश्वर भी उस कलंक का पक्षधर हो तो वह भी अमान्य और त्याज्य है।

कहा कुछ छपा कुछ

यदि यह विषय बहस और विचार के लिए उसकी समग्रता में प्रस्तुत किया जाए तो बहस का मुद्दा कुछ और प्रकार का होता। किन्तु ऐसा न करके आंशिक और सतही समाचार लेखन किया गया। समूचे संदर्भ में कटे सुविधावादी संवादलेखन का परिणाम है यह सामाजिक तनाव और टकराव। किसी संवाददाता की चूक, असावधानी और जन्दबाजी में संपादकों, टिप्पणीकारों विश्लेषकों और विचारकों के चूक जाने की सबल संभावनाएं निहित होती हैं। इन सबके चूक जाने का ही कुफल है इन दोनों संन्यासियों की यह शत्रुतापूर्ण युगल बंदी।

हम यह भूल जाते हैं कि भारत के विविधतापूर्ण हिन्दू समाज की एकात्मकता का सूत्र निराकार है। अनुभूति और आत्मीयता ही उसका बीज है। किसी निष्कर्ष पर पहुंचने से पूर्व उसके विधि निषेधों को तत्कालीन और तात्कालिक दोनों धरातलों पर परखना जरूरी होता है। जो काल बाह्य है उसको अस्वीकार और जो शाश्वत सार्थक है उसे स्वीकार करके नयी परंपरा और नया प्रवाह बनने का विरोध हिन्दू समाज के मूल मन के विपरीत है। परिवर्तन और सुधार हिन्दू समाज में चलने वाली एक सतत प्रक्रिया है। यथास्थिति को वह अमान्य करता है। पत्रकार, बुद्धिजीवी और समाज सुधारक यह समझ लें कि वर्तमान संकट हिन्दुत्व का संकट नहीं, हिन्दू समाज का संकट है। सामजिक जकड़न और कर्मकाण्ड हिदुत्व का गुण धर्म नहीं, हिन्दुओं की अपनी काल सापेक्ष व्यवस्था का परिणाम है। मानवीय पावित्र्य की प्रतिष्ठा और ब्रह्म सत्य के साक्षात्कार के अनेक विधि उपायों को मानने वालों के चरित्र और चिन्तन को ही हिन्दुत्व की संज्ञा मिली है। हिन्दुत्व भावना है, हिन्दू समाज शब्द। शब्द हिन्दू, भावना हिन्दुत्व को प्रदूषित न करने पाये यह सतर्कता रखना संतों, साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों और पत्रकारों का दायित्व है। इस दायित्व का निर्वाह करने के लिए अपना चरित्र, अपन चिन्तन, अपनी दृष्टि अपनी वाणी और अपना कर्म चाहिए।

यही वह बिन्दु है जहां पहुंचने से पूर्व हम भटक जाते हैं। हमारी अपनी पार्श्वभूमि के अभाव में पश्चिमी जगत यह कहता है कि एक व्यक्ति कालीदास के लिए इतने अधिक नाटक लिखना संभव हो ही नहीं सकता तो हम उससे यह प्रति प्रश्न नहीं करते कि क्या एक व्यक्ति शेक्सपियर के लिए इतने नाटक लिखनों संभव था ? और यदि शेक्सपियर के लिए संभव था तो कालीदास के लिए संभव क्यों नहीं हो सकता था ? वह कहता है कि भारत का हिन्दू समाज जातियों, सम्प्रदायों के झगड़ों और छुआछूत से ग्रस्त है तो हम अपराध बोध से भर उठते हैं। लेकिन उससे ईसाई सम्प्रदाय के संघर्ष का इतिहास नहीं पूछते। उनके यहां काले गोरे के बीच घृणा

का हिसाब उनसे नहीं मांगते। उन्होंने कहा कि भारत में नारी स्वातंत्र्य नहीं है तो हमने सिर झुकाकर स्वीकार कर लिया। उनसे यह नहीं पूछा कि बीसवीं सदी के दूसरे दशक के अन्त तक जो देश नारी को मताधिकार तक नहीं देते थे वे भारत में नारी की तथाकथित गुलामी से दुःखी क्यों हैं ? मैत्रेयी और गार्गी से लेकर इंदिरा गांधी तक का इतिहास क्या इस आरोप का उत्तर नहीं है ? आज की कुरीतियों को भारतीय समाज का स्थायी चरित्र मान लेने का रिवाज चल पड़ा है।

संवाददाता यह भूल जाते हैं कि शब्द ब्रह्म होता है। शब्दों के माध्यम से निराकार भावना की अभिव्यक्ति होती है। पत्रकार और लेखक शब्द के शिल्पी होते हैं। उनका शिल्प साहित्य के नाम से जाना जाता है। और साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। हम ऐसा दर्पण न बनायें कि हिन्दुत्व और हिन्दू समाज का असली और सुन्दर चेहरा बिगड़ा हुआ दिखाई दे। ऐसा लेखन न करें कि समाज का वातावरण बिगड़े। समरसता और समता का सूत्र छिन्न हो। हमारी अपनी विश्वसनीयता का क्षय हो। हम ऐसा कुछ लिखें ही क्यों कि कोई देवरस हमें नासमझ कहे और हमें अज्ञानता के कटघरे में खड़ा होना पड़े कि हम अपनी राष्ट्रीय पार्श्व भूमि नहीं समझते। यदि नहीं समझते समझ लें। समझ कर बार बार पूछकर सुनिश्चित करके लिखें तो किसी वाजपेयी को बार बार इन्कार नहीं करना पड़ेगा कि उन्होंने इन्दिरा गांधी को दुर्गा का अवतार कहा है। किसी राजीव को यह कहकर पत्रकारों को दोषी ठहराने का साहस नहीं होगा कि उसने भिण्डरवाले को संत नहीं कहा। फिर कोई कैलाशपति मिश्र श्री सच्चिदानन्द सहाय जैसे किसी वरिष्ठ पत्रकार से भरी सभा में यह प्रश्न नहीं पूछेंगे कि आज के समाचार पत्रों में बलात्कार, भ्रष्टाचार, लूट, भद्दे और नकारात्मक समाचार ही प्रमुखता से बाक्स बनाकर क्यों छापे जाते हैं। अच्छे, स्वस्थ और रचनात्मक समाचारों को प्रमुखता क्यों नहीं दी जाती ? और फिर किसी सच्चिदानन्द सहाय को असहाय होकर यह कहने को मजबूर नहीं होना पड़ेगा कि 'हमने प्रयास तो किया था किन्तु क्या करें हमारे संवाददाताओं ने सहयोग नहीं दिया।' फिर किसी चन्द्रशेखर को यह शिकायत करने का मौका नहीं मिलेगा कि वे जो कुछ कहते हैं संवाददाता उसके विपरीत लिखकर विवाद पैदा करते हैं। फिर देश के विभिन्न भागों में एक ही व्यक्ति से एक ही विषय पर बार बार एक प्रश्न नहीं पूछा जाएगा। बार बार एक ही बात नहीं लिखी जाएगी। बार बार एक ही बात नहीं छपेगी। बार बार खण्डन और स्पष्टीकरण की नौबत नहीं आयेगी। हर बार नए प्रश्न, हर बार नए उत्तर, नए खण्डन, नए स्पष्टीकरण जो कहा गया, जो देखा गया, जो लिखा गया, वही छपा और वही समझा गया। न कोई संदेह, न कोई गलतफहमी। समाज को संदेह और संशयमुक्त करना ही तो समाचार पत्रों के जन्म की आधार भूमि है। देश और समाज में अमानवीय कृत्यों के अतिरिक्त भी कुछ होता है कि नहीं? तो फिर समाचार केवल शून्यकाल के बाद भी कुछ बोला जाता है कि नहीं ?

तो फिर समाचार केवल शून्यकाल ही क्यों बनता है ? देश में केवल बोफोर्स संस्कृति ही है कि कहीं कोई पोषक रचनाधर्मी कार्य भी किया जा रहा है ? खोज क्या केवल दुर्गन्ध की ही की जाएगी ? क्या किसी यज्ञ कर्म की सुगन्ध को महत्व देना पत्रकारीय विधा में नहीं आता ? यह विधा कहीं कहीं अपवादस्वरूप ही क्यों है ?

कोई पतित नहीं

हमारी समस्याएं हमारी अपनी समस्याएं हैं। उनका अपना परिवेश है। उस परिवेश को परिभाषित करते समय उसकी हजारों वर्षों पुरानी पार्श्वभूमि और शास्त्रीय दृष्टि की जानकारी चाहिए। प्रहार कुरीति के मूल पर करें। टहनियां तोड़ने से काम नहीं चलेगा। समरस, समतापूर्ण और ममतामय समाज बनाने के लिए विभिन्न भारतीय विचारप्रवाहों का संगम होना जरूरी है। आदिशंकराचार्य और दयानंद सरस्वती की मूल प्रेरणाओं में कोई अन्तर नहीं है। गौतम और नानक एक ही जमीन पर खड़े थे। देश के सहस्रों धर्माचार्य समवेत स्वर में अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का कलंक घोषित करके उसके मिटाने का आवाहन कर चुके हैं। धर्माचार्यों ने सर्वसम्मति से कहा है कि हिन्दू समाज के सभी जन सहोदर हैं। कोई पतित नहीं है। यदि सहोदर बलवान होगा तो ही छुआछूत का क्षय होगा। अग्निवेश इस अभियान के अंग क्यों नहीं बनते ? यदि किसी पूजा स्थान या मंदिर में किसी आस्थावान व्यक्ति को जाति और वर्ण के आधार पर पूजा से वंचित किया जाता है तो सामाजिक चेतना का तकाजा यह है कि वह उस मन्दिर का ही बहिष्कार कर दे। जिस मंदिर में इस प्रकार का पाप पलता हो, वहां के देवता में पुण्य प्रताप हो ही नहीं सकता। अभियान उस मंदिर में जबरन प्रवेश करने का नहीं, उसके संपूर्ण बहिष्कार का चलाया जाना चाहिए।

शंकराचार्य शास्त्रों का भाष्य सरल शब्दों और आधुनिक संदर्भ में करें, अग्निवेश सामाजिक सुधार अभियान सतही स्तर पर न चला कर और व्यापक धरातल पर गंभीरतापूर्वक सबके साथ चलाएं। राजनेता बोलने से पहले पूरा विचार कर लें, पत्रकार संपूर्ण संदर्भ को समझ कर उससे जुड़ा हुआ समाचार लिखें, सम्पादक तथ्यों की पुष्टि करके टिप्पणी करें तो न तो इस प्रकार की बेताल सामाजिक राजनीतिक युगलबंदियां चलेंगी और न उसके कारण सामाजिक और एकात्मता का स्वर भंग होगा। समाचार पत्रों के माध्यम से यह स्वर ताल बनाए रखने का प्रथम दायित्व संवाददाताओं का है। सम्पादकों, समीक्षकों, लेखकों और अन्य लोगों की प्रतिक्रियाएं उसी धुरी के आसपास घूमती हैं।

31 जुलाई 1988

अपनी-अपनी समस्या, अपना-अपना कारण

प्रधानमंत्री चुनाव प्रक्रिया की घटती विश्वसनीयता की चुनौती से परेशान हैं।

विरोधी दल दल बदल विरोधी अधिनियम के कारण दुखी हैं।

गरीब और पिछड़ी बस्तियों के लोग आम नागरिक सुविधाओं के अभाव के कारण जन्म ले रही बीमारियों और मौत से आतंकित हैं।

मध्यमवर्ग को महंगाई मार रही है। तो बेरोजगारी अपराधकर्मी पैदा कर रही है।

अर्थनीति देश को आर्थिक गुलामी की ओर ले जा रही है तो कूटनीति देशवासियों और प्रवासी भारतीयों के प्रति क्रूर मजाक कर रही है।

बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा के लिए विद्यालयों की इमारतों पर छत, कक्षा में टाट पट्टी श्यामपट्ट और खरिया मिट्टी नहीं है किन्तु नवोदय विद्यालयों में कम्प्यूटर लगाये जा रहे हैं।

अस्पृश्यता, सती तथा दहेज प्रथा विरोधी कानून तो हैं किन्तु कुमारियां आत्महत्या कर रही हैं, बहुदहन चल रहा है। पुरी के शंकराचार्य घुमाफिरा कर सती का पक्ष लेते हैं। छुआछूत को शास्त्र सम्मत सिद्ध करने के लिए शास्त्रार्थ की चुनौती देते हैं, कानून काम नहीं करता।

मिलावट के विरुद्ध कानूनी अभियान चलाया जाता है तो मिलावट के कारण सैंकड़ों लोग पक्षाघात का शिकार हो जाते हैं। सैकड़ों मर भी जाते हैं।

नशाबन्दी विरोधी प्रचार के साथ साथ शराब के उत्पादन और ठेकों की संख्या में प्रत्येक वर्ष वृद्धि होती रहती है।

देश विज्ञान, उद्योग और उत्पादन के क्षेत्र में तरक्की कर रहा है तो व्यक्ति और समाज अपने पतन से परेशान हैं।

पंथ निरपेक्ष भारत मजहबी कट्टरता और कर्मकाण्ड से पीड़ित है।

देश आगे बढ़ रहा है किन्तु मंजिल पूरी तरह अपरिभाष्य है।

नेता हैं, नेतृत्व नहीं करते। पुलिस व्यवस्था और रक्षा नहीं करती।

सेना सीमा की सुरक्षा कम, प्रकृति और मानव जन्म आपदाओं में फंसे नागरिकों की सहायता अधिक करती है। वह परेशान है कि पुल और बांध किसी और कारण से टूटते हैं, मरम्मत उससे करायी जाती है।

परेशानी का कारण

सबकी अपनी अपनी परेशानियां हैं। सबकी अपनी अपनी परिस्थितियां हैं। सबके अपने अपने दांव हैं। सबके अपने अपने स्वार्थ हैं। सबके अपने अपने कारण हैं। इस समय न कोई परिस्थिति पुरुष है, न कोई अपने स्वार्थ से ऊपर उठने को तैयार है। प्रत्येक विधि और व्यवस्था का निजी और दलीय हिताहित का परिवेश है। राजनीति ने अपना धर्म त्याग दिया है और कर्मकाण्ड धर्म बनकर राजनीति करने लगा है। वस्तुतः यह विपरीत प्रक्रिया है। राजनीति का तो धर्म होता है, किन्तु धर्म की राजनीति नहीं हो सकती।

प्रत्येक परेशानी और पीड़ा का अलग अलग विचार और विश्लेषण विस्तार चाहता है। किन्तु विस्तृत विश्लेषण आवश्यक नहीं है। समस्याएं और संताप जनजीवन के अहसास के साथ जुड़े हुए हैं। तथाकथित नेताओं का ईमान और इरादा जान लें तो समस्याओं के जन्म का कारण और समाधान की कुंजी मिल सकती है।

आइए पहले और दूसरी बात से बात शुरू करें। प्रधानमंत्री चुनाव प्रक्रिया की घटती विश्वसनीयता की चुनौती से परेशान हैं तो विरोधीदल दल बदल विरोधी अधिनियम से। क्या ये दोनों दैवी आपदाएं हैं कि मनुष्य के वश की बात नहीं है ? चुनाव प्रक्रिया की विश्वसनीयता और उसके असंतुलित परिणाम क्या अभी आज की बात है ? मतदाताओं को भ्रष्ट करना, वोट खरीदना, सत्ता, गुण्डा और धनशक्ति का उपयोग, मतदान केन्द्रों पर कब्जा, जाति और सम्प्रदाय का समीकरण बनाकर चुनाव जीतना, नया राजनीतिक आविष्कार नहीं है। ये सब कांग्रेस कुल की राजनीतिक संस्कृति के मजबूत खम्भे हैं। आजादी के बाद के चालीस वर्षों से ही नहीं आजादी के पूर्व भी कांग्रेस का यही सबल सहारा रहा है। फिर अब विश्वसनीयता घटने की चुनौती के प्रति चिन्ता क्यों हो रही है ? केवल इसलिए कि अब उन मोर्चों पर कांग्रेसी शैली और शब्दों में उसका सामना शुरू हो गया है। कोई देवीलाल, कोई रामाराव, कोई हेगड़े, कोई ज्योति बसु, चुनाव मैदान में ताल ठोंककर खड़े हो गए हैं कि 'आओ दो दो हाथ हो जाएं। तुम बिहार, जम्मू-कश्मीर, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और उड़ीसा आदि में अपना करिश्मा दिखा सकते हो तो पश्चिमी बंगाल, हरियाणा, आन्ध्र और कर्नाटक में हम भी किसी से कम नहीं हैं।' नहले पर दहले की स्थिति आ गई तो सत्ता प्रतिष्ठान के मालिक चुनाव प्रक्रिया की घटती विश्वसनीयता की चुनौती के प्रति चिन्तित हो गए। उनकी चुनावी तकनीक उनका ही गला घोंटने लगी तो घबड़ाहट हुई कि अब कोई और रास्ता निकालो कि सत्ता की धरती पैरों के नीचे से न खिसक जाय। जो परिस्थितियां पैदा हो रही हैं उनका यह निश्चित संकेत है कि इंदिरा कांग्रेस अपनी रक्षा करने के लिए चुनाव प्रक्रिया में परिवर्तन करने का प्रयास अवश्य करेगी। किस सीमा तक यह संदिग्ध है।

विरोधी दल चुनाव सुधार के लिए अनेक समितियां बना चुके हैं। अनेक बार आन्दोलन की धमकी दे चुके हैं। अनेक बार दस्तावेज भी बना चुके हैं। कुछ दल चुनाव सुधार की रूपरेखा बनाकर राष्ट्रपति प्रधानमंत्री और चुनाव आयोग को भी दे चुके हैं। जिस दल बदल विरोधी कानून को कुछ विरोधी दल विचार स्वातंत्र्य और विचार अभिव्यक्ति के स्वातंत्र्य के सांविधानिक मूलाधार का हनन मानकर सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती देने का विचार कर रहे हैं। वह कानून विरोधी दलों के दो दशक से भी अधिक लम्बे समय से किए जा रहे आन्दोलन और बहस का प्रतिफल है। आयाराम गयाराम के बहाव को रोकने के लिए यह बांध बनाया गया था। कुछ मतभेद अवश्य थे किन्तु दलबदल कानूनी रोक लगाने के प्रश्न पर आमतौर से सबकी सहमति थी। माना कि इन्दिरा कांग्रेसियों की चालाकी, भय और मजबूरियां थीं। भविष्य की राजनीति पर उनकी दृष्टि थी, किन्तु विरोधी दलों की मांग थी कि दल बदल रोका जाय। अब क्या हो गया ? यही न कि अब राजनीतिक परिस्थितियां बदल गई हैं। 1967 से 1984 तक दल बदल की जरूरत कांग्रेस को थी तो विरोधी दल परेशान थे कि उस पर कानूनी रोक लगायी जाये, अब दलबदल की जरूरत विरोधी दलों और उनके कुछ नेताओं को है तो कोशिश की जा रही है कि मौलिक संविधानिक अधिकारों के नाम पर यह रोक हटे। तब जिस लोकतंत्र की रक्षा करने के लिए दलबदल कानून की जरूरत थी अब उसी लोकतंत्र की रक्षा करने के नाम पर दलबदल कानून को समाप्त करने की जरूरत बताई जा रही है।

राजनीतिक परिस्थितियों के दबाव में सत्ता समीकरण बनाना क्या स्वस्थ राजनीतिक आचरण और मर्यादा से अधिक महत्वपूर्ण है ? सत्तापक्ष और विरोधी दलों के राजनीतिक क्रांति पुरुषों की प्रेरणाएं क्या केवल सत्ता में बने रहने और सत्ता में परिवर्तन ही हैं ? उनकी कार्ययोजना में देश ओर समाज कहां हैं ? उनके सूत्रीय कार्यक्रमो में देश कौन सा बिन्दु है। सूत्रीय कार्यक्रमों का मृगजाल जिनको दिखाया जा रहा है उनका भविष्य क्या है ? बीमारी, गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, महंगाई, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, और चुनाव प्रक्रिया में क्या दलीय और निजी राजनीतिक स्वार्थ निहित नहीं हैं ? यदि ऐसा न होता तो गंदा पानी पीकर राजधानी के निवासियों को हैजे से न मरना पड़ता। बंगाल के सैंकड़ों लोग मिलावट के शिकार न होते। गरीबी बढ़ती नहीं, मिटती। बेरोजगारों को रोजगार मिलता। किसान को उनके उत्पाद का उचित मूल्य मिलता। पैतालीस करोड़ लोग निरक्षर न रहते। कोई शंकराचार्य काल बाह्य बातें न करता। कोई अग्निवेश सामाजिक तनाव पैदा करने में सफल न होता। मजहबी हठधर्मिता राष्ट्रीय मान बिन्दुओं को अपमानित न करती। साम्प्रदायिक तत्वों के साथ सुविधावादी समझौते न किये जाते। राजनीति साध्य नहीं, साधन होती। सत्ता सेवा का माध्यम होती तो व्यवस्था बदलती। उसकी सड़ांध समाप्त होती। सबको जीवनापयोगी आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध होतीं। समाज सामान्य तौर पर अपनी

रोजीरोटी की समस्या से मुक्त होता तो उसे लोकतंत्र और व्यवस्था के विषय में सोचने का समय मिलता। वह समस्याओं, अन्यायों और अत्याचार का सामना करने का साहस जुटा पाता।

क्रान्तिकर्मी का उत्स

लोकतंत्र और चुनाव प्रक्रिया की घटती विश्वसनीयता की चुनौती से परेशान सत्ता पुरुष और मूल्यों की स्वच्छ राजनीति और व्यवस्था बदलने के लिए राजनीतिक क्रांति हेतु कमर कस कर तैयार विरोधी दलों के क्रांति पुरुषों के चरित्र और चिन्तन में कोई विशेष अन्तर नहीं है। केवल है और 'नहीं' है का अन्तर है। वे सत्ता में हैं ये सत्ता से वंचित हैं। रहा राजनीतिक क्रांति और व्यवस्था को बदलने का प्रश्न तो इसका उत्तर प्राप्त करने की आशा अपनी विधायकी और सांसदी बचाने को प्राथमिकता देने वालों से करना नादानी होगी। जो संसद और विधानसभाओं की सदस्यता समाप्त हो जाने के भय से भ्रष्ट दल का त्याग नहीं कर सकते, नया दल बनाने से डरते हैं वे व्यवस्था बदलने की तपाग्नि में जलेंगे ? जो केवल अपनी सदस्यता ओर सुविधा बचाने के लिए दलबदल विरोधी कानून को रद्द कराकर दलबदल का अधिकार अर्जित करने का हर संभव प्रयास कर रहे हैं। क्या वे चुनाव प्रक्रिया मे सार्थक परिवर्तन का प्रयास करेंगे ? असम्भव । क्रांतिकर्मी सुविधा और सुख की कोख से नहीं पैदा हुआ करते। उनका उत्स, कष्ट, त्याग, बनवास, और यातना की भट्टी है।

घिनौना चेहरा

सत्ता और व्यवस्था परिवर्तन की प्रक्रिया और पद्धति में सुधार की आवाज उठाने वाला चेहरा बहुत ही घिनौना है। राजनीतिक विकल्प की तलाश की प्रक्रिया राजनीतिक प्रतारणाओं से परिपूर्ण है। इंदिरा कांग्रेस का विकल्प प्रदान करने और विकल्प बनने का दावा करने वालों के प्रयास उनकी प्रेरणाएं, कार्यक्रम और घोषणाएं और सत्तारूढ़ दल की प्रेरणाएं, और कार्यक्रमों में क्या कोई अन्तर है ? इन्दिरा कांग्रेस का विकल्प बनाया जा रहा है कि वैकल्पिक कांग्रेस ? क्या कोई वैकल्पिक कांग्रेस, कांग्रेसी चरित्र, चिन्तन और कार्यक्रम का विकल्प बन सकती है ? तुष्टीकरण और दलबदल द्वारा दलों को तोड़ना और अपने पक्ष में वोट गणित का उत्तर निकालने की प्रक्रिया में क्या स्वार्थपूर्ण गंदी राजनीति और भ्रष्ट व्यवस्था को बदलने का बीज है। चाहे संघीय दल बने, चाहे राष्ट्रीय मोर्चा या एक राष्ट्रीय दल, समान विचार और चरित्र वाले व्यक्तियों और दलों के समीकरण और सत्ता परिवर्तन सैद्धान्तिक राजनीति और समर्थ व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकते। यदि यह संभव होता तो हरियाणा, आन्ध्र-प्रदेश, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल और असम में राजनीति और व्यवस्था का चरित्र बदल गया होता। वहां के राजपुरुष उसी राजनीतिक संस्कृति और व्यवस्था के

बन्दी न होते जिसे बदलने के लिए वे राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक धर्मयुद्ध छेड़ने की तैयारी कर रहे हैं।

संक्रमण काल

देश संक्रमण काल की प्रसव पीड़ा में है। परिवर्तन के बिन्दु पर खड़ा है। परिवर्तन की दिशा और दृष्टि की खोज में है। संयम, सामर्थ्य, सिद्धान्त और चरित्र की तलाश में है। शासन और समाज दोनों को परिवर्तित करने के लिए उसे कोई विधायी और सार्थक साधन चाहिए। दबावों में न झुकने वाले तनावों को झेल जाने वाले नैतिक शक्ति सम्पन्न नेतृत्व की उसे आवश्यकता है। व्यक्ति सापेक्ष नीति नहीं, कालसापेक्ष व्यवस्था, शाश्वत सिद्धान्तों और शुद्ध आचरण के प्रति आस्थावान दल और व्यक्ति चाहिए। आज के राजनीतिक परिदृश्य में एक ऐसा चित्र उभरता दिखाई दे रहा है कि राजीव सत्तारूढ़ दल और विरोधी दलों के असंतोष के मूल कारण हैं। यदि किसी कारण राजीव राजनीतिक मंच से हट जाएं, उनकी इन्दिरा कांग्रेस अपना दूसरा नेता चुनने का साहस और समझदारी दिखा दे, चुनाव में हार के भय से इन्दिरा कांग्रेसी राजीव का साथ छोड़ दें, या चुनाव में राजीव और उनका दल हार जाय तो विरोधी दलों की आधार भूमि क्या होगी ? दोनों कार्यक्रम और सिद्धान्त समान हैं, दोनों का राजनीतिक कुल संस्कृति, राजनीतिक मन और धर्म एक ही होने से वे वैकल्पिक कांग्रेस के अतिरिक्त और कुछ होंगे क्या ? सत्तारूढ़ दल अपना नेता बदल लें तो विश्वनाथ प्रताप सिंह और उनके जनमोर्चे की सार्थकता क्या होगी ? क्या कांग्रेस का झण्डा ऊंचा करके सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता का हवाला देकर अपने कांग्रेस कुल में वापस जाने का उनका रास्ता साफ नहीं हो जायेगा ?

संभावनाएं

ये और इस प्रकार के अनेक प्रश्न और अनेक सम्भावनाएं हैं। देशवासी ऊबे हैं, परेशान हैं, पीड़ित हैं, संतप्त हैं। विरोधी दल परिवर्तन चाहते हैं। किन्तु कुछ भी करने से काम नहीं चलेगा। पेट और मुंह तो एक ही होता है। बहुत भूख लगी है तो दोनो हाथों से नहीं खाया जाता। भ्रष्टाचार और सदाचार साथ साथ नहीं चल सकते। मूल्यों की राजनीति और सुविधा वादी राजनीति के रास्ते अलग अलग हैं। क्रांति और यथास्थिति में जन्मजात शत्रुता है। दलबदल भी हो सके और दलबदल विरोधी कानून भी बना रहे, प्रक्रिया और व्यवस्थाओं में बदल भी हो और अपने निजी हित के लिए उन्हें बनाकर रखा भी जाय, यह संभव नहीं है। इस प्रकार के व्यक्तियों और ऐसी परिस्थितियों के अनुभव के आधार पर ही शायद यह लिखा गया होगा कि 'दुई एक संग न होई भुआलु, हंसब ठठाय, फुला उब गालू।' या हंस लीजिए या गाल फुला लीजिए। दोनों कार्य साथ साथ नहीं हो सकते कि गाल भी फूला रहे और हंसते भी

रहें। सत्तारूढ़ राजीव की इंदिरा कांग्रेस और विकल्प बनने के लिए बेचैन लगभग सभी विरोधी दल समान राजनीतिक चरित्र, चिन्तन और संस्कृति के संकट से पीड़ित हैं। दोनों अपने रोग का इलाज केवल सत्ता ओर सरकार में बने रहना या आना मानते हैं। दोनों के कुल में सिद्धान्त, चरित्र और शुद्ध आचरण के लिए कोई स्थान नहीं है। जो दल इससे भिन्न भूमि पर खड़े हैं वे इस झमेले से दूर हैं।हो सकता है कल वे ही सार्थक परिवर्तन की आधार भूमि बन जाएं। संभावनाएं भी हैं। यदि वे केवल एक बार चुनाव से दूसरे चुनाव तक की न सोच कर पीढ़ियों की सोचें। समय के आर पार देखने की दृष्टि और सैद्धान्तिक निष्ठा का विकास करते रहकर वैकल्पिक राजनीतिक सिद्धांन्त, नीति और आचरण का निर्माण कर सकें तो।

7 अगस्त 1988

परिवर्तन की प्रसव पीड़ा से गुजरता देश

घूम फिर कर फिर वही सवाल कि राजीव के बाद कौन और देश का अब क्या होगा? ये प्रश्न कांग्रेसियों के भी हैं, विरोधी दलों के भी, बुद्धिजीवियों के भी और देश के आम आदमी के भी।

राजीव, कांग्रेस और विरोधी दलों की स्थिति ऐसी है कि इनको आधार मानकर इन प्रश्नों का उत्तर तलाशा गया तो पूरी दही मथने के बाद छाछ भी हाथ नहीं लगेगा। ये आधार इतने भुरभुरे और अस्थिर हैं कि इन पर स्थापनाओं की कील नहीं गाड़ी जा सकती। यदि ऐसे ही चलता रहा तो देश नाम की चीज कुछ दिनों बाद कल्पनालोक में चली जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। देश क्षेत्र बनने की प्रक्रिया से गुजर रहा है। उसकी संपूर्णता को राजनैतिक ग्रहण लग चुका है। संस्कृति, साहित्य, समाज और भाषा भी उसकी चपेट में है। राज्यों के इस भारत राष्ट्र को राष्ट्रों के राज्य में बदल देने का प्रयत्न जारी है। माहौल इस गुमशुम तरीके से बदल रहा है कि उसके बदलाव का प्रत्यक्ष अनुभव तक नहीं हो पा रहा है। एक दिन सब कुछ अनजाने ही बदल जाएगा और हम उसे ही क्रांति, परिवर्तन या चेतना का चमत्कार मानकर स्वीकार करने को मजबूर होंगे। भारत का अखिल स्वरूप बचा रहेगा तभी तो देश का क्या होगा, सवाल बनेगा। कोशिश यह हो रही है कि इस सवाल का स्रोत ही समाप्त कर दिया जाए। रहा राजीव के बाद क्या वाला सवाल तो राजीव अब देश का सवाल कम, इंदिरा कांग्रेस का सवाल अधिक है।

कांग्रेस और उसके कुल की बात करने का मन अब नहीं करता। व्यवसायिक दलाली से लेकर सत्ता की राजनीतिक दलाली तक में पारंगत कांग्रेसियों के लिए देश केवल कुर्सी है। वे उसी के लिए कांग्रेस में हैं, उसी के लिए कांग्रेसी कहलाते हैं, उसी के लिए कांग्रेस छोड़ते हैं, तोड़ते हैं, उसी के लिए कांग्रेस कुल में वापस आते हैं।

सवालों के जवाब

राजधानी से प्रकाशित नवभारत टाइम्स के संपादक श्री राजेन्द्र माथुर ने 31 जुलाई को एक लेख लिखा 'नब्बे में मिलेंगे साठ के सवालों के जवाब।' कांग्रेस और राजीव के प्रति श्री माथुर का विश्वास विचलित हो गया। कांग्रेस को भारत राष्ट्र की अखिल भारतीयता का कवच मानने वालों में वे आज भी हैं, यह देखते और जानते हुए भी कि अखिल भारत का खंडन करने के साथ शुरू कांग्रेस वंश का राज अपने

देश तोड़क अभियान को निरंतर जारी रखे हुए है। यह शोध का विषय नहीं प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भूमि, भाषा, भावना, मजहब, संप्रदाय, जाति, क्षेत्र और दल हर स्तर पर तोड़ा है देश को इस कांग्रेस ने। एक लंबे समय तक प्रतीक्षा करने के बाद अपने अनुभव से श्री माथुर जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं वह बहुत महत्वपूर्ण है। ऊपर के सवालों का जवाब पाने के लिए श्री माथुर लिखते हैं, 'कारण जो भी हो पर कांग्रेसियों का मन राजीव गांधी से उचट रहा है। इंदिरा गांधी ने 1966 के दलदलों से शुरूआत की थी और अपने तिलिस्म के बूते पर वे 1971 के शिखर पर पहुंची थीं। राजीव गांधी ने शुरूआत 1971 जैसे ही शिखर से की थी लेकिन वे 1966 जैसे दलदलों में पहुंच गए हैं। कहना मुश्किल है कि अब वास्तविक शुरूआत हो रही है या उसका अंत हो रहा है।'

पुरानी स्थिति

'आज कांग्रेस की उस (1969) ऐतिहासिक टूट के उन्नीस साल बाद हिन्दुस्तान लगभग वहीं खड़ा हुआ है जहां वह जवाहरलाल नेहरू की मौत के बाद 1964 में खड़ा था फर्क यह है कि 1964 में कांग्रेस में ऐसे प्रादेशिक क्षत्रप और चौधरी थे, जो प्रधानमंत्री को अपने इशारे पर नचाने की क्षमता एवं महत्वाकांक्षा रखते थे। आज ऐसे नेता कांग्रेस में नहीं हैं। शायद सिर्फ विरोधी दलों के महागठबंधन में मिलेंगे। राजीव गांधी के पास यह मौका भी नहीं है कि वे कांग्रेस को तोड़कर 1969 जैसा कोई चमत्कार पैदा कर सकें, क्योंकि मोरारजी देसाई, कामराज, संजीव रेड्डी, सदोबा पाटिल और अतुल्य घोष जैसे दिग्गज उनके सामने हैं ही कहां ? ऐसे लोगों को उभरने की इजाजत 1969 के बाद इंदिरा गांधी ने दी ही नहीं। नतीजा यह है कि जवाहरलाल नेहरू को तो मजबूर किया जा सकता था कि वे कृष्ण मेनन को रक्षामंत्री के पद से हटा दें लेकिन राजीव गांधी के सामने खुलेआम इतना भी नहीं कहा जा सकता था कि आप अपने संसद सदस्यों के साथ कभी कभी खुली बातचीत कर लिया कीजिए।'

'जवाहरलाल ने अपना आदर और इंदिरा गांधी ने अपना आतंक अर्जित किया था। लेकिन इंदिरा की मौत से आतंकित देश ने उनके पुत्र को यह सब सेंतमेंत मे दे दिया और राजीव गांधी ने अपने आपको अचानक एवरेस्ट पर पाया। पर्वतारोहण की लंबी ड्रिल से गुजरे बिना शिखर पर बैठने के जो नतीजे होने थे, वे अब हो रहे हैं। जाहिर है कि कोई असाधारण योग्यता वाला महानायक ही इन नतीजों से बच सकता था और राजीव गांधी ने संकटों के बीच अपनी असाधारणता का कोई परिचय नहीं दिया है जैसे कि उनकी मां ने दिया था। इसलिए अब कांग्रेसियों के मुंह खुल रहे हैं। उंगलियों की जकड़न दूर हो रही है और राजीव गांधी वहां पहुंच रहे हैं जहां लाल बहादुर शास्त्री और इंदिरा गांधी अपने आरंभिक वर्षों में थे।

इसके साथ ही भारत का इतिहास भी 1964 से 1971 तक के सात वर्षों की ओर लौट रहा है। इंदिरा के ज्वार ने मोहलत के जो बीस वर्ष देश को दिये थे वे अब खत्म हो रहे हैं 'नेहरू के बाद क्या' पूछते समय जो सवाल साठ के दशक में खड़े होते थे वे नब्बे में सचमुच हमारे सामने मुंह बाए खड़े होंगे। क्या कांग्रेस एक अखिल भारतीय पार्टी के रूप में जीवित रह पाएगी ? या आजादी की स्वर्ण जयंती 1997 में मनाने के पहले ही वह काल के गाल में समा जाएगी ? कांग्रेसोत्तर भारत का राजनैतिक स्वरूप क्या होगा ? केंन्द्रीयकरण के बीस वर्षीय ज्वार के बाद क्या विकेन्द्रीयकरण का बीस वर्षीय ज्वार अब आएगा। ? यदि भारत को बिखेरे और बगैर बहाए आए और रहे तो किसी को एतराज नहीं होगा।'

राजेन्द्र माथुर, प्रभाष जोशी की तरह कोई लड़का संपादक नहीं है कि सच बात बिना किसी राग-लपेट की साफ साफ शब्दों मे कह दें। वे सच्चाई को पहले खुद हजम करते हैं फिर शब्दों की तश्तरी पर बड़े करीने सें सजाकर पेश करते हैं।

अस्थिर राजनीतिक भविष्य

राजीव और कांग्रेस की बात तो श्री माथुर ने कह दी। आइए, अब देश की बात करें। न कांग्रेस देश है और न देश कांग्रेस। तो फिर कांग्रेस के उत्थान पतन को देश का उत्थान पतन क्यों माने ? कांग्रेस में नेतृत्व के संकट को देश के नेतृत्व का संकट क्यों कहें ? राजीव की असफलता कांग्रेस की जीवन यात्रा का अंत कर सकती है। लेकिन देश की अनादि अंत यात्रा को रोक नहीं सकती। इंदिरा कांग्रेसी अपने हिताहित को ध्यान में रखकर राजीव जिन्दाबाद मुर्दाबाद बोलें, टूटें ओर जुड़ें तो इसे राजनीतिक बिखराव का आरंभ या अंत क्यों कहा जाए ? इस समय इंदिरा कांग्रेसी इसलिए नहीं खलबला रहे हैं कि राजीव के कारण देश संकट में पड़ सकता है, बिखर सकता है, लोकतंत्र को बचाना है।

उनकी खलबली का कारण है स्वयं उनके राजनीतिक भविष्य का अस्थिर और अनिश्चित हो जाना। यदि राजीव इंदिरा कांग्रेसियों के मन में चुनाव जिताने का विश्वास जगा दें तो वे बोफोर्स जैंसे हजारों सौदों में कमीशनखोरी की छूट देंगे। देश के टुकड़े टुकड़े करके राजीव यदि उन्हें सांसद विधायक और मंत्री पद प्राप्त कराते रहें तो वे लोकाधिकार रक्षक, लोकरंजक और लोकतंत्रवादी महानायक के रूप में उनकी आरती उतारते, उनके नाम का कीर्तन करते रहेंगे। किन्तु इस समय राजीव की राजनीतिक शोकान्तिका यह है कि वोट बटोरने की उनकी क्षमता के प्रति कांग्रेसियों का विश्वास पूरी तरह डगमगा गया है। और कांग्रेसी चरित्र की बाध्यता यह है कि वह अपने नेता के विरुद्ध फुसफुसा तो सकता है किन्तु नया नेता चुनकर चुनौती स्वीकार करने का साहस नहीं दिखा सकता। वह डूबती नाव पर अंत तक सवार रहेगा। उसे बचाने की वीरता उसमें नहीं है। यह निश्चित है कि कांग्रेस टूटेगी, कांग्रेस

हारेगी और इसी के साथ यह भी निश्चित है कि देश को नया नेतृत्व मिलेगा, देश अपने अभीष्ट की ओर बढ़ेगा। अनिश्चित भविष्य का यह निश्चित संकेत है कि कांग्रेसनुमा परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने के बाद एक दिन पूर्णतः गैर कांग्रेसी और शुद्ध राजनीतिक क्रांति होगी।

स्पष्ट संदेश

इस संकेत का एक और संदेश है कि राजनीतिक बदल के लिए बेचैन दल यह समझ लें कि बंधी बंधाई राह पर चलकर बदल नहीं होता। बदल का अर्थ ही लीक से हटना, नई लीक का बनना। हम देश दशा का विचार केवल राजनीतिक गलियारों में बैठकर न करें। इस गलियारे में बैठे राजनीतिक दलों और नेताओं के अतिरिक्त कुछ और भी है।

कांग्रेसी राजीव को हटाएं, कांग्रेस टूटे, कांग्रेस हारे तो यह आवश्यक नहीं कि जो उसका स्थान ले वह विरोधी दलों का कांग्रेसनुमा कोई मोर्चा, आज का कोई स्थापित विरोधी दल या उसका नेता ही हों। कोई एकदम नया स्फूर्लिंग भी तो प्रगट हो सकता है। क्या किसी ने आंध में रामाराव और तेलुगुदेशम, असम में असमगण परिषद और प्रफुल्ल महंत की पूर्व कल्पना की थी ? परिवर्तन के अति निकटवर्ती क्षणों में इनका आविष्कार हुआ था और सभी स्थापित दल राजनीतिक हाशिए पर फेंक दिये गए थे। यदि यह चमत्कार आंध्र और असम में क्षेत्रीय और प्रादेशिक स्तर पर प्रगट हो सकता है तो आखिर भारतीय स्तर पर भी संभव हो सकता है। क्या किसी ने डेढ़ वर्ष पूर्व किसी ऐसे विश्वनाथ प्रताप सिंह की कल्पना की थी जो कांग्रेस कुल का होगा, प्रधानमंत्री का विश्वासपात्र होगा, और एक दिन अपने ही कुल के भ्रष्टाचार और चरित्रहीनता के विरुद्ध विद्रोह करके अपने आस्थापुरुष के पुत्र को उसी इलाहाबाद में पराजित कर देगा, जहां कभी उसका राजनीतिक जन्म हुआ था और जहां वह कांग्रेस का डंका बजाते नहीं थकता था।

यह केवल भाग्य और चमत्कार से जुड़ी बात नहीं है। यह संकेत है उस मंथन का जो कांग्रेसियों सहित सभी देशवासियों के मन में चल रहा है कि राजीव के बाद कौन और देश का अब क्या होगा ?

कांग्रेसी मनोभावना

देश, कांग्रेस और राजीव का क्या होगा ? इस सवाल के जवाब की घड़ी अब समीप आ रही है। डेढ़ वर्ष ही तो बाकी है। यदि राजीव ने कांग्रेसियों का विश्वास अर्जित कर लिया तो कांग्रेस नहीं टूटेगी। पराजय का खतरा उठाकर भी कांग्रेसी उनके नेतृत्व में चुनाव लड़ेगा। कांग्रेस को तिल तिल टूटते देखेगा, किन्तु मिट मर जाने तक राजीव जिन्दाबाद बोलेगा। कांग्रेसियों का विश्वास अर्जित करने का अर्थ होगा कि राजीव कोई ऐसा कार्य करें कि उनके प्रति देशवासियों का भंग हो गया मोह फिर

से जुड़े। यदि विरोधी दलों ने राजीव के प्रति कांग्रेसियों का विश्वास पूरी तरह डगमगा दिया तो कांग्रेसी अपना राजनीतिक चोला बदलकर देश के नाम पर कुर्बानी की कसम खाकर राजीव सहित कांग्रेस की नाव को डुबाने की अगुवाई करेंगे कि उनका राजनीतिक जीवन सुरक्षित रहे। यदि फिर भी काम न बना तो इस मंथन में से वह अमृततत्व प्राप्त होगा जो दम तोड़ती राजनीतिक व्यवस्था और बिखर रहे देश को संजीवन प्रदान करेगा। निश्चित ही वह अमृततत्व राजनीतिक नहीं सांस्कृतिक और सामाजिक होगा। तब राजनीतिक परिवर्तन का शुभारंभ शिखर से नहीं तल से होगा। तब वह क्रांति परंपरागत नहीं, शुद्ध गैरकांग्रेसी क्रांति होगी। उसका वाहक आज का कोई भी राजनीतिक नेतृत्व नहीं होगा। कोई नया और तप पूत व्यक्ति उसका नेतृत्व करेगा। वह नेतृत्व नया और दुधमुंहा भले ही लगे किन्तु वह दुःखहरण नाम पाएगा। वह उन समस्त सवालों का जवाब देने में समर्थ होगा जो 15 अगस्त 1947 से ही नहीं, उसके पूर्व से लावारिस विधवा की तरह विलाप करते अनुत्तरित है।

शुरूआत

कांग्रेस रहेगी तो देश बिखरेगा, जुड़ेगा नहीं। फूट उसका प्राण है, विघटन उसका पिण्ड। अब प्रश्न यह नहीं है कि शिखर पर कौन रहेगा ? अब प्रश्न यह है कि अपने पावों चलकर शिखर पर कौन चढ़ेगा ? जिसके अपने पांव नहीं हैं, शिखर पर चढ़ने की उनकी कोशिशों की सफलता की कामनामात्र से वे सफल नहीं होंगे। पद की होड़ में लगी पगहीनों की भीड़ को देश का भाग्यविधाता मान लेने का ही नतीजा है कि वही सवाल पहले से अधिक डरावने रूप में बार बार हमारे सामने भविष्य का भूत बनकर खड़ा हो जाता है कि इसके या उसके बाद कौन ? और अब देश का क्या होगा ? प्रतीक्षा के डेढ़ वर्ष ही तो बचे हैं। हो सकता है कि व्यक्ति के लिए डेढ़ वर्ष बहुत होते हैं, लेकिन देश के लिए डेढ़ वर्ष कुछ भी नहीं होते। यदि अन्य सभी प्रचलित उद्यम और माध्यम असफल हो गए तो देश के अन्तर्मन में पल रहा परिवर्तन अपने शुभागमन का माध्यम स्वयं तलाश लेगा। बदलाव की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई है। देश परिवर्तन की प्रसव पीड़ा में है उसके जन्म की बधाई देने और बधाई स्वीकार करने की तैयारी करें।

21 अगस्त 1988

चरित्र और पराक्रम का द्वन्द्व

पहले घटना बता दूं। 19 जुलाई 1988 । चंडीगढ़। पंजाब राज्य वित्त आयुक्त श्री कपूर का निवास। रात्रि भोज का आयोजन। पंजाब के पुलिस महानिदेशक कंवर पाल सिंह गिल (के० पी० एस० गिल) सहित अनेक वरिष्ठ अधिकारी सपरिवार उपस्थित। महिलाओं और पुरुषों की अलग अलग व्यवस्था। पुरुषों में सुरापान का दौर। सुरा ने अपना रंग जमाया तो कंवरपाल सिंह गिल मूड में आ गए। महिलाओं की कतार में जा बैठे। उनके अगल बगल बैठीं महिलाएं परेशान। वे एक एक करके उठीं और श्री कपूर के बंगले के अंदर चली गईं। श्री गिल से कुछ ही दूर पंजाब की विशेष वित्त सचिव श्री रूपन देवल बजाज कुछ महिलाओं के साथ बातों में व्यस्त। उन्हें पता नहीं था कि किस कारण बगीचे में उपस्थित अधिकांश महिलाएं वहां से चली गईं। श्री गिल ने श्रीमति बजाज को आवाज दी—'श्रीमति बजाज, आप यहां आइए। मुझे आपसे कुछ महत्वपर्ण बात करनी है।' श्रीमति बजाज उठीं और उनके पास जाकर बगल की कुर्सी पर बैठने ही वाली थीं कि उन्होंने कुर्सी खींचकर अपने सामने एकदम नजदीक कर दी। बिना कुछ बोले दो बार उनकी कुर्सी को अपने और अधिक पास खींचा। श्रीमति बजाज ने भांप लिया कि दाल में कुछ काला है। वे झटके से उठीं और अपने पहले वाले स्थान पर जा पहुंचीं। दस मिनट बाद श्री गिल उठे। श्रीमति बजाज के सामने आकर उनके इतने करीब खड़े हो गए कि श्री गिल के पांव श्रीमति बजाज के घुटनों को छूने लगे। श्री गिल ने अपनी उंगलियां नचाईं। श्रीमति बजाज को आदेश दिया कि वे उनके साथ चलें। श्रीमति बजाज ने श्री गिल के इस व्यवहार पर आपत्ति की तो वे गरजे 'तत्काल उठो और मेरे साथ चलो।' श्री गिल की गर्जना सुनकर सभी चौंक उठे कि क्या हुआ ? श्रीमति बजाज उठीं, अपनी कुर्सी को पीछे हटाया और वहां से जाने लगीं तो श्री गिल उनके नितम्बों पर थाप लगाकर मुस्कुराए। श्रीमति बजाज आतिथेय श्री कपूर के पास भागीं तो श्री गिल उनका पीछा करते हुए दौड़े । कुछ अतिथि बीच में आ गए। श्री गिल को पकड़कर उन्हें दूसरी ओर ले गए। वहां उपस्थित महिला पुरुष सभी इस घटना की पुष्टि करते हैं।

घटना के बाद

अब घटना के बाद का हाल। श्रीमति बजाज ने राज्यपाल सिद्धार्थ शंकर रे से

श्री गिल के अभद्र व्यवहार की शिकायत की। शिकायत के बाद दस दिन तक प्रतीक्षा। कोई परिणाम नहीं। दस दिन बाद उन्होंने श्री गिल के विरुद्ध चंडीगढ़ पुलिस में प्रथम सूचना लिखाई। पुलिस महानिरीक्षक (प्रशासन) के आदेश से रपट सील बंद करके रख दी गई। राज्यपाल श्री रे ने श्रीमति बजाज को सलाह दी कि क्योंकि श्री गिल ने उनसे (राज्यपाल से) खेद प्रकट किया है इसलिए वे मामले को समाप्त हुआ मान लें। किन्तु वे इसके लिए तैयार नहीं हुईं। उन्होंने राज्यपाल से और अपनी रपट में भी स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'मेरे साथ न केवल न्याय किया जाना चाहिए अपितु यह स्पष्ट दिखाई भी देना चाहिए कि न्याय किया गया है। इस प्रकार का अभद्र व्यवहार एक ऐसा व्यक्ति करे जो पुलिस महानिदेशक है, जो राज्य में विधि और व्यवस्था का रक्षक माना जाता है। जिससे यह अपेक्षा है कि वह अपने अन्तर्गत कार्य करने वाले सुरक्षाकर्मियों के सामने उच्च आदर्श, नैतिकता, मर्यादा और सार्वजनिक व्यवहार का मानदंड स्थापित करे, वह व्यक्ति वित्त आयुक्त (गृह) के निवास पर और सचिव स्तर के एक प्रशासनिक अधिकारी के साथ अभद्र व्यवहार करे और उसे क्षमा करने की सलाह दे या क्षमा कर दे, घटना की गंभीरता को कम करने का प्रयास किया जाए तो पंजाब और चंडीगढ़ की महिलाएं न तो सुरक्षा का अनुभव कर सकती हैं और न ही सम्मान और इज्जत के साथ कार्य कर सकती हैं। यदि सार्वजनिक जीवन की स्वच्छता और प्रशासनिक अधिकारियों के व्यवहार और चरित्र के प्रति विश्वास बनाए रखना है तो यह आवश्यक है कि श्री गिल को उनकी अभद्रता के लिए दंडस्वरूप स्थानांतरित और मुअत्तल किया जाए, उनकी चरित्र पंजिका में इस घटना को दर्ज करके उनके विरुद्ध अनुशासन की कार्रवाई की जाए।' किन्तु इन पंक्तियों के लिखे जाने तक राज्यपाल महोदय के द्वारा कोई कार्रवाई किए जाने का समाचार नहीं मिला है।

कुछ दलीलें

यह है घटना और घटना से जुड़ा विवरण। अब कुछ नवबौद्धिकों द्वारा यह दलील दी जा रही है कि क्योंकि श्री गिल पंजाब के आतंकवादियों के विरुद्ध युद्ध लड़ रहे हैं क्योंकि उन्होंने स्वर्ण मंदिर में आपरेशन ब्लैक थंडर का सफल संचालन किया था इसलिए उनकी सेवाओं और शूरता के लिए राष्ट्रीय हित में उनके इस व्यवहार को अनदेखा करके भुला देना चाहिए। कुछ लोगों का अन्वयार्थ यह है कि यह सब भारतीय प्रशासनिक सेवा और भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों के परंपरागत विद्वेष और प्रतिद्वंद्विता का परिणाम है।

प्रश्नों की वर्षा

इल दलीलों ने कई लोगों का दिल दहला दिया। इससे जुड़े अनेक सवाल एक साथ अपना जवाब मांगने लगे। सामाजिक, सांस्कृतिक, व्यक्तिगत और सार्वजनिक

जीवन की मर्यादा, शौर्य तथा सेवा के बीच प्राथमिकता निर्धारित करने का द्वंद्व प्रारंभ हो गया। बुद्धिजीवियों का दल दो खेमों में बंट गया। एक खेमा क्षमा का पक्षधर, दूसरा दंड का। क्षमा के पक्षधरों ने इस घटना को जिस दृष्टि बिन्दु पर से देखा, दंड के पक्षधरों ने उससे ठीक विपरीत बिन्दु और आयाम से देखा। क्षमा के पक्षधरों पर प्रश्नों की वर्षा प्रारंभ हुई कि यदि उनकी दलील मानकर श्री गिल को क्षमा कर दिया जाएगा तो फिर किसे किस किस अपराध और अभद्र व्यवहार के लिए क्षमा करना पड़ेगा, इसकी कोई सीमा नहीं रहेगी। फिर तो योग्यता के नाप पर अभद्रता और सार्वजनिक मर्यादा का मानमर्दन जन रीति बन जाएगी। कल कोई महान पर्वतारोही अपने साहसी अभियान के आवरण में अभद्र व्यवहार करे कोई साहित्यकार अपने साहित्यिक सृजन का इस रूप में उपहार चाहे, कोई वैज्ञानिक अपने शोध की थकान मिटाने के लिए सार्वजनिक सुरापान करके अभद्रता करे, कोई सूरमा सैनिक, कोई स्वर्णपदक विजेता खिलाड़ी अपने अद्भुत कौशल, प्रतिभा और समर्पण द्वारा विश्व में राष्ट्र का सम्मान बढ़ाने और राष्ट्रीय सम्मान अर्जित करने के बदले में रंगरेलियां और निर्लज्जता कर्म करने की छूट मांगे तो क्या उसे मना किया जा सकेगा?

एक बुद्धिजीवी का प्रश्न

एक बुद्धिजीवी ने सीधा प्रश्न किया कि यदि श्री गिल को आतंकवादियों के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्ध लड़ने के एवज में श्रीमति बजाज के शील, सतीत्व और नारीत्व के साथ खेल खेलने की छूट देना और उसे अनदेखा करना राष्ट्रहित में है तो फिर वह भ्रष्ट और विलासी सामंती युग क्या बुरा था जब राजा महाराजा अपने सूरमा सैनिकों को उनकी शूरता के बदले में सुंदरियां भेंट किया करते थे ? क्या हमारी संस्कृति विरासत हमें इस प्रकार की सार्वजनिक घटनाओं को अनेदखा करने की अनुमति देती है ? क्या यह मूल भारतीय चरित्र के अनुरूप है ? क्या इस दलील को स्वीकार कर लेना पशु प्रवृत्ति का पोषण करना नहीं है ? क्या यह अवधारणा पश्चिम के मुक्त यौनाचार और नंगेपन को मान्यता प्रदान नहीं करती ?

प्रश्न यात्रा का आयाम

यह प्रश्न यात्रा केवल सांस्कृतिक और सार्वजनिक जीवन की मर्यादाओं तक ही नहीं ठहरती, राष्ट्रीय अस्मिता और चरित्र को भी लपेट लेती है। स्त्री, पुरुष के संबंध, व्यवहार, सदाचार, सत्कर्म, और कुकर्म से भी यह सवाल जुड़ा है। यदि संपूर्ण राष्ट्रीय गरिमा और गंभीरता को ध्यान में रखकर केवल तात्कालिक रूप से और व्यक्ति सापेक्ष उत्तर की खोज की गई तो इस प्रकार के उन समस्त प्रश्नों को भुला देना पड़ेगा जो राष्ट्र का भविष्य और समाज का जीवन मंगलमय बनाते हैं। फिर तो बोफोर्स तोपों, जर्मन पनडुब्बी, हेलीकाप्टर सौदों की चर्चा का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। फिर तो जंगली और आवारा पशुओं की तरह जिसका जहां मन करेगा, मुंह मारता फिरेगा।

फिर किसी को राष्ट्रीय राज पुरुष होने के कारण माफ करना पड़ेगा तो किसी को एकमेव कलाकार होने के कारण। कोई विशेषज्ञ देश की महान सेवा करने का दावा करके छूट पा लेगा तो कोई किसी महान देशभक्त की संतान होने का लाभ उठाकर।

कितनी बेशर्म दलील है। सामाजिक, सांस्कृतिक और चारित्रिक पतन का इससे बड़ा और पुष्ट प्रमाण क्या हो सकता है कि ये दलीलें किसी अबोध, अशिक्षित, असभ्य व्यक्ति की नहीं, बुद्धिजीवियों और नवसंस्कृति के सर्जकों की हैं। सड़े हुए चरित्र और विकलांग बुद्धिवालों की यह दलील वे पश्चिमी लोग भी स्वीकार नहीं करेंगे जिनकी यौनिक स्वच्छन्दता और स्त्री पुरुष संबंधों के नंगेपन को आदिम युग का पशुकर्म करार दिया जाता है।

सार्वजनिक जीवन की कुछ विशिष्ट मर्यादाएं होती हैं। पश्चिमी जगत के स्वच्छंद लोग भी अपने अग्रगण्य लोगों को उनका उल्लंघन नहीं करने देते। वहां के लोग ऐसे किसी व्यक्ति को किसी राष्ट्रीय और सार्वजनिक पद का प्रत्याशी बनना तक पसंद नहीं करते जिसका व्यक्तिगत चरित्र संदिग्ध हो, राष्ट्र समाज और व्यक्ति की गरिमा को भुलाकर सार्वजनिक रंगरेलियां करता हो। जिसे व्यक्ति, समाज और राष्ट्रीय मूल्यों की मर्यादा और नैतिकता की रक्षा और मानदण्ड स्थापित करना है उसे भी किसी भी प्रकार का निर्लज्ज कर्म करने की अनुमति पश्चिमी संसार भी नहीं देता। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्री, जन प्रतिनिधि और नागरिक सेवा अधिकारियों का कर्तव्यपरायण और चरित्रवान होना उनकी पहली शर्त है। सार्वजनिक चरित्र और योग्यता में चुनाव करने का प्रश्न आता है तो वे चरित्र को चुनते हैं। वहां का आम आदमी स्वयं तो उच्छृंखलता का अधिकार चाहता है। लेकिन राष्ट्रनायक और जनसेवक उसे चरित्रवान ही चाहिए कि जो उन्हें अनैतिक कर्म करने से रोके।

और हम ?

एक महान दैवी सांस्कृतिक विरासत के धनी, ज्ञान, शील, चरित्र और तपःपूत मर्यादित जीवन के उत्तराधिकारी हम यह दलील देते हैं कि कोई व्यक्ति आतंकवादियों के विरुद्ध युद्ध लड़ रहा है इसलिए यदि वह किसी नारी के साथ निर्लज्ज व्यवहार करे, उसका शील सम्मान भंग करे तो उसे राष्ट्रीय हित में भुला देना चाहिए। कोई राष्ट्रीय नेता, कोई राजपुरुष किसी शहीद सपूत का पूत चरित्रहीनता का प्रदर्शन करे, राष्ट्रीय संस्कृति को गंदा करे तो उसके पितामहों की सेवाओं का मूल्य चुकाने के लिए उसकी चर्चा मत करो ? किसी असहाय और चुके हुए समाज का कंगाल चिन्तन इसी को कहते हैं ? कहां ले जाएगी हमें यह सोच ? किस गडढे में गिराएंगे हमें हमारे ये सलाहकार ?

उत्तर आप खोजिए

आप कहेंगे कि यह भी कोई बात हुई कि सवाल के जवाब में सवाल खड़ा कर दिया। एक कहानी बताकर श्री गिल जैसों के चरित्र और व्यवहार को लेकर उठे

सवालों का जवाब प्राप्त करने का कार्य मैं आप सबको सौंपता हूं।'

एक चौकीदार ने चोरी करके भाग रहे चोर को पकड़ लिया। चोर को पकड़ कर मालिक के हुजूर मे उसे हाजिर किया तो उसने पूछा—'तुमने यह कमाल कैसे किया?' मालिक बहुत प्रसन्न था। चौकीदार की बहादुरी के लिए उसे सराहा तो चौकीदार बोला—'मालिक ! माई बाप !! यह सब आपकी दया का कमाल है। वरना मैं नाचीज क्या चीज हूं। मैं ड्यूटी पर था तो मैंने सपना देखा कि कोई व्यक्ति आपका स्वर्ण भंडार लूटकर भागा जा रहा है। मैं चौंका। जागा। मेरी आंख खुली तो देखा कि यह लुटेरा चोर मेरे सामने से भागा जा रहा था। मैं लपका और इसे धर दबोचा।'

मालिक ने चौकीदार की बहादुरी को फिर सराहा। चोर को पकड़ लेने के लिए उसे पुरस्कार दिया और ड्यूटी पर सोने के अपराध में नौकरी से हटा दिया।' तो फिर श्री गिल और गिल जैसे लोगों के मामले में हम, आप और सरकार को क्या करना चाहिए ?

28 अगस्त 1988

असली खतरा!

भारत को खतरा महाशक्तियों, पड़ोसी देशों और विदेशी षड्यन्त्रों से नहीं है। खतरा गरीबी, भूख, बीमारी, आर्थिक और अज्ञान से भी नहीं है। साम्प्रदायिक विद्वेष, मजहबी, संघर्ष, अमीरी गरीबी की गहराती खाई, गांव और शहर की दूरी, संस्कृति और सभ्यता में गिरावट, आधुनिकता और चिरन्तनता में तालमेल न होना, नई और पुरानी पीढ़ी के बीच अन्तर आदि किसी में वह शक्ति नहीं है कि भारत देश की अस्मिता, आकांक्षा, अखण्डता और एकात्मता को खतरे में डाल दे कि एक दिन भारत नाम का अनादि राष्ट्र इस धरती पर शेष हो जाय। इनमें से कोई भी समस्या प्राथमिक महत्व की नहीं है। और न इतनी जटिल ही है कि उनका समाधान करने में बहुत अधिक कठिनाई होगी। क्योंकि ये बीमारी नहीं मूल बीमारी के उत्पाद हैं।

तो फिर मूल बीमारी क्या है ? मूल बीमारी है देशवासियों का राष्ट्रीय मानसिक कुतूहल बीच-बीच में समाप्त हो जाने की सीमा तक बन्द हो जाना, उसका सातत्य भंग हो जाना, हृदय की संवेदनाओं का सुन्न हो जाना, सहज आत्मीय स्पन्दन का न होना। राष्ट्रीय और सामाजिक मन का उसके अपने शरीर में सिमट जाना। स्वार्थ का सीमित हो जाना और राष्ट्र, समाज, धर्म, संस्कृति का अपने निजी और पारिवारिक हानि लाभ के आधार पर आकलन करने लग जाना।

मैं आजादी के पूर्व की चर्चा नहीं करता। 15 अगस्त 1947 के पूर्व किसी न किसी रूप और मात्रा में देशवासियों के मन में राष्ट्रीय कुतूहल था। भविष्य की आशा आकांक्षा थी। वह स्वतंत्र नागरिक जीवन का काल्पनिक चित्र बनाता, उसमें रंग भरता और अर्न्तमन की आंखों से उसे देखता था। आजाद हुआ तो उसके राष्ट्रीय कूतूहल सो गए। कुछ अधूरी आजादी के कारण कुछ आत्मविश्वास को लगे आघात के कारण, कुछ राष्ट्रीय स्वाभिमान की अनुपस्थिति, कुछ सत्तारूढ़ लोगों के कुप्रबंध और उनके चारित्रिक गिरावट के कारण। किस पर भरोसा करें। किस की बात को सच मानें। इन सभी कारणों में राष्ट्रीय स्वाभिमान में कमी होना एक अकेला ऐसा कारण है जिसने कदम कदम पर भारत को पीछे धकेला। देशवासियों ने बीच बीच में अपना मानसिक कुतूहल प्रगट किया भी तो उसकी लोकतांत्रिक अभिव्यक्ति मतदान केन्द्र तक ही सीमित रह गई। मतदान के बाद यतीम बालक की तरह रोना गिड़गिड़ाना ही उसका भाग्य और भविष्य हो गया। उसे कभी स्वशासन का स्वाद मिला ही नहीं। वह

अंग्रेजों की गुलामी से छूटा तो कुल की गुलामी में जा फंसा।

गत इकतालीस वर्षों में देश की स्वाधीनता का कोई ऐसा मानक भी स्थापित नहीं किया गया कि देशवासी उसके आधार पर स्वयं सहित औरों की भी परख कर पाते। वाल्ट व्हिटमान की तरह उसके सामने यह चुनौती प्रस्तुत नहीं की गई कि यहां हमने स्वाधीनता का मानक स्थापित कर दिया है और अब यहां हम व्यक्तियों के स्वशासन की क्षमता का परीक्षण करेंगे।' 15 अगस्त, 1947, को जवाहरलाल नेहरू की यह घोषणा भी लालकिले की दीवार से टकराकर चकनाचूर हो गई कि 'अब हम अपने भाग्य से भेंट करेंगे।' क्या वह आज का यही भाग्य था जिससे भेंट कराने का आश्वासन नेहरू जी ने दिया था ?

यह सर्वमान्य है कि स्वाधीनता किसी भी राष्ट्र का सर्वोत्तम सौभाग्य होता है। किन्तु स्वाधीनता की हर वर्षगांठ पर उसके साथ जुड़ी सौभाग्य की भावना क्षीण क्यों होती जा रही है ? यह दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है कि अपना सर्वस्व लुटाकर और अगणित बलिदानों की कीमत चुका कर हमने स्वाधीनता का जो सौभाग्य अर्जित किया था उसके प्रति हम स्वयं उदासीन होते जा रहे हैं ? अपने ही शासकों के प्रति यह दुराव और अपने ही भाग्य के प्रति कुतूहल का यह अभाव क्यों ?

एक बुद्धिजीवी ने प्रश्न किया है कि स्वाधीनता क्या है ? क्या यह केवल एक ऐसी अमूर्त भावमयता है जिसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति हर प्रकार की यातना झेलता है ? और फिर उसकी रक्षा करने वाले तत्व कौन से हैं ? क्या स्वाधीनता यही है कि भारत ने अंग्रेजों से अपनी आजादी अर्जित किया और उसे अपने देश के एक वर्ग विशेष के लोगों को सौंप दिया ? क्या इन दोनों गुलामियों में चुनाव करने जैसी कोई बात है ? टेनीसन ने लिखा है कि 'आजादी का आयाम एक के बाद दूसरे दृष्टांतों, पूर्व निर्देशनों और पूर्वादर्शों के आधार पर बढ़ता रहता है।' वे दृष्टांत जो जन सामान्य के स्वशासन की सीढ़ी बन सकें कहां हैं ?

इकतालीस वर्षों की स्वाधीनता का लाभ हेराफेरी करने वाले केवल उन कुछ नवधनिकों को क्यों मिला है जो तब कंगाल थे ? स्वाधीनता अभी तक पूरी तरह गांवों की गलियों में स्थापित क्यों नहीं हो पाई ? औसत भारतीय नागरिक के पास आज यह सवाल पूछने के अतिरिक्त और कुछ नहीं बचा है कि कुछ वफादारों को असंगत ओर हास्यास्पद तरीके से भारतीय स्वाधीनता के लिए खतरा बनने की छूट क्यों दी जा रही है ? अपने प्रतिनिधियों का रहन सहन देखकर भी देशवासी दुखी हैं। वे आजादी के पूर्व के नेताओं के जीवन स्तर और रहन सहन ओर व्यवहार से तुलना करते हैं तो आश्चर्य से भर उठते हैं। देश की पंचानबे प्रतिशत आबादी रेलगाड़ी और सार्वजनिक यातायात वाहन का उपयोग करने की स्थिति में नहीं है किन्तु उसका प्रतिनिधित्व करने वाला कस्बाई नेता भी विमान से यात्रा करता है और इस संदर्भ में एक भी दल और नेता ऐसा नहीं है जो अपवाद हो। जनता, जननेता, जनशासन, और

स्वशासन के बीच यह अन्तर राष्ट्रीय मानस को देशवासियों के मानसिक कुतूहल का अन्त करके कुण्ठित कर रहा है तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

गत चार दशकों से इस देश की उन तीन चौथाई आबादी के जिसे आजादी के आगमन पर भारत का भविष्य बताया गया था, गांधी जी के नाम पर जिसको सावधान करने के लिए सिनेमा में गीत गाया गया था कि इस देश को रखना मेरे बच्चों संभाल के, तूफान से लाया हूं ये किश्ती निकाल के' सामने एक ही पेटेन्ट नुस्खा प्रस्तुत किया जा रहा है कि 'कांग्रेस ने देश को धोखा दिया । कांग्रेसी बदमाश हैं । कांग्रेसी भ्रष्ट हैं । अफ़सरशाही घूसखोर है । भ्रष्टाचार का बोलबाला है । खाने के लिए सबको दो जून की रोटी नहीं मिलती । जीवन मूल्य घट रहे हैं । कीमतें बढ़ रही हैं । बेरोजगारी बढ़ रही है । जुल्म बढ़ रहे हैं । सामाजिक भेदभाव बढ़ रहा हैं आर्थिक असमानता बढ़ रही है । जनता पर कर के भार बढ़ रहे हैं । कर चोरी हो रही है । कंगालों की फौज खड़ी हो रही है । जातिवाद, क्षेत्रीयता और भाषाई कट्टरता अपने पांव पसार रही है । आदि आदि । देशवासी ये बातें बिना किसी व्यवधान के लगातार सुनते आ रहे हैं । बोलने वाले नेता और मंच बदल गए किन्तु बातें वहीं हैं । भारतवासी अब इस विधवा विलाप से ऊब गए हैं । इसमें यदि कुछ विशेष बात जुड़ी और विस्तार हुआ है तो यह कि आतंकवादी हत्या हो, नक्सली नरसंहार हो, हरिजनों का कत्लेआम हो, महिलाओं का शीलहरण, अपहरण और बलात्कार हो, बहु दहन हो, लाखों का गबन, करोड़ों की लूट, और भ्रष्टाचार हो तो किसी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । किसी ने किसी को मार दिया तो मार दिया । हरिजन मरा कि मासूम और विवश किसान मरा, इससे क्या ? घूस लिया तो लिया । हजार लिया कि लाख लिया इसका कोई महत्व नहीं रहा । भ्रष्टाचार है तो है कोई अन्तर नहीं पड़ता । अब अनाचार, हत्या, गबन, लूट और भ्रष्टाचार सहज और सेवा, सदाचार एवं चरित्र असहज हो गया है ।

1952 के आम चुनाव से लेकर अभी जून 1988 तक हुए उप चुनावों तक का जायजा ले लीजिए । यह तथ्य बहुत स्पष्ट रूप से प्रगट होगा कि देशवासी कांग्रेस को न तब चाहते थे, न अब चाहते हैं । छत्तीस वर्ष से बेचारा भारतवासी कांग्रेस का विकल्प तलाश रहा है, उसे विकल्प नहीं मिलता । वह अपनी तकलीफों से राहत चाहता है । उसे राहत नहीं मिलती । पीने का पानी चाहता है, पानी नहीं मिलता । पढ़ने के लिए स्कूल चाहता है, स्कूल नहीं है । बेरोजगार है, रोजगार चाहता है । रहने को मकान नहीं है, मकान चाहता है । लेकिन उसे आश्वासन के अतिरिक्त अभी तक क्या कुछ मिला ? तब से अब तक बूढ़े भारत की बच्चा पीढ़ी जवान हो गई, किन्तु उसकी चाहत वहीं की वहीं, वैसी की वैसी है । पीढ़ी बदल गई, समस्याएं, और परेशानियां बरकरार है । कई नेता बदल गए । कांग्रेस कई बार टूटी जुड़ी । नए नए दल बने बिगड़े । जनता ने राजनीतिक फैसला भी किया, कांग्रेस को हराया, हटाया, मिटाया

और जिताया भी, लेकिन अपनी तकलीफों को पार नहीं कर पाई। उसके मानसिक कूतूहल ने कई बार अपनी करामात दिखाई, उसने अपनी संवेदनाएं प्रगट कीं, विद्रोह और विक्षोभ भी प्रगट किया लेकिन परिणाम ? यही कि वह जहां तब था वहीं आज भी है, और उसके नाम पर नारे लगाने वाले सुख भोग करते आ रहे हैं। वही नारे वही समस्याएं वही चर्चाएं, वही तात्कालिक हानि लाभ, लूटने के हथकण्डे। ऐसी स्थिति में उसका मानसिक कूतूहल होना बन्द हो जाना क्या अप्रत्याशित और अस्वाभाविक है ? इस सत्य को कोई नकार नहीं सकता कि भारतीय जन का कुतूहल जब जब जागता है वह परिवर्तन और नयी स्थापनाओं का वाहक बनता है। 1967, 71, 77 और 80 तथा 1984 के चुनाव एवं जून 1988 के उपचुनाव इसके प्रमाण हैं। किन्तु चुनाव की तकनीकी व्याख्या और कोलाहल में उसका कुतूहल बेमानी हो जाता है। जिस प्रश्न पर वह आन्दोलित होता है जब समय आने पर उसे ही पार्श्व भूमि में धकेल दिया जाता है और फिर वह अपनी जाति, भाषा, क्षेत्र, सम्प्रदाय, मजहब और निजी स्वार्थ में सिमट जाता है।

अतएव समस्त संकटों और समस्याओं की चर्चा करने और उनका समाधान खोजने के पूर्व यह आवश्यक है कि देशवासियों में मानसिक स्तर पर राष्ट्रीय कुतूहल सदा बनाए रखा जाय कि वह पंजाब, असम, मणिपुर, नागालैंड, झारखण्ड और तमिल, गरीबी, भूख, बीमारी, लूट, भ्रष्टाचार, आदि समस्याओं को अपनी समस्या समझे। राजीव के बोफोर्स तोपों, वेस्टलैंड हैलीकाप्टरों, जर्मन पनडुब्बियों के सौदों के रहस्य, केन्द्रीय सरकार और रामकृष्ण हेगड़े द्वारा अपने विरोधियों का दूरभाष सुनने को राष्ट्रीय हिताहित के संदर्भ से जोड़ें। विरोधी दलों को इन्दिरा कांग्रेस के प्रति अपने स्वार्थ और अपनी ऊब के आधार पर नहीं, वर्तमान व्यवस्था को बदल पाने की उनकी क्षमता, सैद्धान्तिक निष्ठा, कर्म, चरित्र और इरादों की कसौटी पर कसे।

देशवासियों के मानस में राष्ट्रीय कुतूहल होगा तो उसका शत्रु मित्र विवेक जागेगा, फिर ताकतों की साजिशों, पड़ोसी देशों की दुश्मनी के आयाम, जाति, भाषा, क्षेत्र, मजहब और पंथ के झण्डावाहकों का स्वार्थ आदि सहज ही उसकी समझ में आ जाएगा। फिर तात्कालिक भावना और प्राप्त परिस्थिति के दबाव में वह अन्यथानिर्णय नहीं करेगा। मानसिक कुतूहल जागृत होने का अर्थ है राष्ट्रीय अस्तित्व के अहसास का उदय। राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और सुख में अपना सुख मानने की संवेदनात्मक अनुभूति। राष्ट्र जनों के मानसिक कुतूहल का बन्द या अन्त हो जाना राष्ट्रीय कुण्ठा को जन्म देता है। कुण्ठाग्रस्त समाज का अपराधी स्वार्थी और भ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक है। कुण्ठित व्यक्ति समूह के चित्त का क्षितिज बहुत छोटा और कर्मभूमि बहुत ही सीमित होती जाती है और फिर एक दिन ऐसा आता है कि अपने क्षेत्र और पंथ से भी सिमटकर वह परिवार और स्वयं में समा जाता है।

आशा अभी मरी नहीं है। देशवासियों का राष्ट्रीय मानसिक कुतूहल इस समय

पुनः कुलबुला रहा है। उसकी कुण्ठाएं ढीली हो रही हैं कि कुछ करो। कुछ करना चाहिए कि व्यवस्था में बदल आए कि हम अपना राष्ट्रीय अभीष्ट प्राप्त करें कि सामाजिक और राजनीतिक चरित्र अपने वास्तविक और सकारात्मक रूप में प्रगट हों, कि हमें हमारा पानी, स्कूल, रोटी, रोजी और संस्कृति की चिरन्तन धारा का आधुनिक परिवेश प्राप्त हो। किन्तु यह राष्ट्रीय कुतूहल अभी केवल सत्ता और राजनीति के आसपास चक्कर लगा रहा है। अभी वह केवल दिल्ली, कुछ दलों और नेताओं की ओर देख रहा है। वह किसी ऐसे व्यक्ति और माध्यम की तलाश में भी है जो उसके इस कुतूहल को संपूर्ण राष्ट्रीय संदर्भ में अभिव्यक्ति दे। उसकी संज्ञाशून्य संवेदनाओं को सामाजिक आत्मीयता, राष्ट्रीय एकात्मता और सांस्कृतिक परंपराओं का आधार प्रदान करके उन्हें जीवन्त बनाए। उसे केवल राजनीति, केवल सत्ता, केवल तोतारटन्त आश्वासन, केवल पुराने पेटेन्ट राजनीतिक चुनावी नुस्खों को आधार प्रदान करेंगे तो राष्ट्रीय कुतूहल होना बंद ही नहीं होगा, समाप्त होकर मर भी जाएगा। और फिर जितने देशवासी उतनी ही समस्याएं सामने आएंगी। फिर हर व्यक्ति अपने आप में एक अनसुलझी समस्या होगा। जब हर व्यक्ति समस्या होगा, तो उसका समाधान स्वेदशी नहीं, विदेशी होने की संभावनाएं प्रबल हो जाएंगी। अतएव राष्ट्रीय रोग के लक्षणों के पीछे भागने से काम नहीं बनेगा। काम बनेगा मूल रोग का इलाज करने से। मूल रोग वही नहीं है जो दिखाई दे रहा है। मूल रोग है राष्ट्रीय संवेदनाओं का दिन प्रतिदिन शून्य होते जाने के साथ राष्ट्रजनों के मानसिक कूतूहलों का सातत्य भंग और बंद होते जाना।

4 सितम्बर 1988

सतयुग के सवाल का जवाब कलियुग में मिला

बच्चों को सतयुग के सत्य हरिश्चन्द्र की कथा सुनाई जाती है तो वे कूतूहलवश पूछते है,, "मास्टर जी, दादी जी! क्या पूरी काशी नगरी में एक भी आदमी ऐसा नहीं था जो राजा हरिश्चंद्र के मृत बेटे रोहित के शव को ढकने के लिए कफन दे देता? उस धर्म की नगरी में सत्य हरिश्चंद्र डोम के हाथों बिक गए और किसी को दया तक नहीं आई?"

बच्चों को सत्यव्रती बनाने हेतु हरिश्चंद्र की कथा सुनाने वाले मास्टर जी, दादा-दादी, नाना-नानी, उनके इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते। कथा और कूतूहल तब से साथ-साथ चल रही है और सेवा तथा सत्यव्रतियों को डोम संस्कृति लगातार खरीदती आ रही है। सत्य सूली पर टंगता आ रहा है और हमने अपने मन को समझा लिया है कि 'सत्य का रास्ता कांटों से भरा होता ही है। वह रास्ता है ही ऐसा की उस पर अकेले ही चलना पड़ता है।' सत्य की शोकान्तिका नहीं तो और क्या है कि जो रास्ता अत्यंत सुगम होना चाहिए था वह अत्यंत दुर्गम बन गया।

किसने बनाया सत्य मार्ग को दुर्गम? स्वयं सत्य ने, सत्य हरिश्चंद्र ने, धर्मराज युधिष्ठिर ने, वर्द्धमान महावीर, गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, तुलसी, सूर, कबीर, नानक, दादू, रामानंद, रैदास, समर्थ रामदास, नामदेव, तुकाराम, नारायण गुरू, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, तिलक, सुभाष और गांधी ने? यह प्रश्नतालिका बहुत बड़ी हो सकती है। इतिहास और अनुभव की साक्षी है कि सत्य को सूली पर उन्होंने नहीं चढ़ाया जो उसे जीवन का सहज धर्म मानते हैं। सत्य को सूली पर चढ़ाते वे हैं जो केवल अपने लिए जीते हैं। सत्य का सत्यानाश किया है उस डोम संस्कृति ने जिसकी नजर जीवन पर नहीं केवल मौत और कफन पर होती है। कोई भी मरे, कभी भी मरे, कैसे भी मरे, उसे तो बस कफन चाहिए। मरने वाला सत्यव्रती राजा हरिश्चंद्र का बेटा हो, समर सूरमा हो, राष्ट्र का नायक हो, समाज का संत हो, दानी हो, दुरात्मा हो, डोम संस्कृति को उससे कफन के अलावा और कुछ लेना-देना नही होता। यह संस्कृति तीन युगों की कालयात्रा के बाद अब अपने चक्र पर हैं। अब यह केवल मुर्दों का भेद भूल गई है। तब यह केवल डोमों की खानदानी संस्कृति थी, अब आधुनिक सभ्य-समाज की अपनी संस्कृति बन चुकी है और इसे सरकारी सरंक्षण भी प्राप्त है।

कफन घसीट संस्कृति

सत्य हरिश्चंद्र जी की कथा से जुड़े प्रश्नों का उत्तर बड़ों और बच्चों को आज मिल रहा है अब दादी-नानी को अपने पोते-पोतियों को यह बताना नहीं पड़ता कि 'बेटे! हरिश्चंद्र को क्यों बिकना पड़ा था? रोहित को नंगा जलाने से बचने के लिए कोई चक्रवर्ती सम्राट गली-गली में अपना खरीददार खोजते क्यों घूमा था?' बच्चे दूरदर्शन पर प्रत्यक्ष देख रहे हैं, आकाशवाणी पर साफ-साफ सुन रहे हैं, समाचारपत्रों में पढ़ रहे हैं कि कफन घसीट डोम संस्कृति किस कदर भूखों की रोटी, बीमारों की दवाई , पीड़ितों की राहत राशि दिन दहाड़े निगल जाती है। विमान, रेल, बस दुर्घटना हो, बाढ़ हो, सूखा हो, भूकंप हो, दंगा हो, अग्निकांड हो, भरी नदी में स्टीमर डूब जाय या महामारी आ जाए, डोम संस्कृति वालों की बन आती है।

इक्कीस अगस्त को बिहार में भूकंप आया। हजारों मकान ढहे, सैकड़ों लोग मरे। जहानाबाद में हरिजन हत्याकांड हुआ, कटिहार के मनिहारी घाट में चार सौ लोगों को लेकर स्टीमर डूब गया, बाढ़ में सैकड़ों लोग मर गए, केरल की दर्दनाक रेल दुर्घटना घटी। प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री और मंत्रियों ने हवाई सर्वेक्षण किया। घटनास्थल पर पहुंचे। सहायता और राहत की घोषणा की। जांच का आदेश और दुर्घटना फिर न घटित होने देने का आश्वासन दिया। सड़क बंद, काम चालू। पीड़ितों को राहत मिली कि नहीं, दुखियों का दर्द दूर हुआ कि नहीं, कुछ पता नहीं। पूछने पर कहते हैं कि जांच की जा रही है, रपट आने पर बताएंगे।

यह कैसा चरित्र है?

बिहार में आए भूकंप ने कई दबे-छिपे कारनामों को उजागर किया है। विपत्ति का तुलनात्मक आकलन किया गया। पीड़ा को हिन्दू-मुसलमान में बांटा गया। सेवा को सरकारी तंत्र और बाहुबलियों का मोहताज बनाया गया। सामाजिक संवेग और संवेदना को डोम संस्कृति ने झुठलाया कि जैसे कहीं कुछ हुआ ही न हो। विनाश और पीड़ा को वोट राजनीति की तराजू पर तौला गया कि सत्ता प्रतिष्ठान के संचालक उसका लाभ उठा सकें। कफन घसीट संस्कृति ने सामाजिक सेवा-धर्म को दुत्कारा कि 'किनारे हट, यह मौत को मामला है, मेरे इलाके में तुम्हारा क्या काम? ऐसे अवसर बार-बार नहीं आते।'

एक बेबाक प्रतिक्रिया

बिहार के मुख्यमंत्री कहते हैं कि वे कुछ ऐसे अच्छे और ईमानदार लोगों की तलाश कर रहे हैं जो राहतकार्य ईमानदारी से करें। प्रधानमंत्री ने कहा कि उन्होंने तीस लाख रुपए की जो राहत राशि दी है उसमें से बीस लाख केवल दरभंगा के उस किलाघाट क्षेत्र में खर्च किए जाएं जहां एक मदरसा गिर गया। एक मौलवी मर गया।

कुछ बच्चे दब गए। और कोई कुछ कहता कि इसके पहले ही एक बुजुर्ग मुसलमान चीखा, 'मैं 1934 का भी भूकंप देख चुका हूं। तब गांधी, नेहरूजी, राजेन्द्र बाबू आए थे और हाथ में फावड़ा लेकर हमारे बाप-दादों के साथ मलवा हटाने का काम कई घंटे तक करते रहे थे। हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद नहीं किया था। लेकिन वाह रे राजीव! तूने तो कमाल कर दिया। मौत और पीड़ा को हिन्दू-मुसलमानों में बांट दिया। तू मुसलमानों का हिमायती है कि दुश्मन। ये बीस लाख रुपए उन मुसलमानों को नहीं मिलेंगे जिन्हें जरूरत है । यह धन किलाघाट और उर्दू बाजार के उन मुसलमानों को मिलेगा जिनका संबंध पाकिस्तान और अरब देशों से है। वे तो मुआवजा वहां से पा लेंगे लेकिन हम गरीबों को क्या होगा?'

प्राकृतिक भूकंप आया तो राजनीतिक भूकंप प्रारंभ हो गया। कांग्रेसी मंत्री आपस में लड़े, मारपीट हुई कि किसके समर्थक और मतदाता को पहले राहत ओर मुआवजा मिले।

जहानाबाद का हरिजन हत्याकांड भी राजनीतिक डोमों को नंगा कर गया। मुख्यमंत्री भागवत झा आजाद वहां गए तो भरी भीड़ में उनके मुंह पर कालिख पोत दी गई। फिर प्रधानमंत्री के निर्देश पर केंद्रीय गृहमंत्री बूटा सिंह पैंतीस कारों का काफिला लेकर वहां पहुंचे। गुस्से में बोले, 'राजीव जी ने कह दिया है कि अब हम यह सब नहीं चलने देंगे।' एक बूढ़े ने बूटा सिंह की बोलती बंद कर दी, ' जाइए, अपने राजीव जी को खुश कीजिए! हमें हमारी तकदीर पर छोड़ दीजिए। हम तो भगवान भरोसे जिन्दा हैं। हमारी परवाह और किसी को नहीं।' जहानाबाद में मारे गए हरिजनों को दीजाने वाली सहायता राशि कहां गई कोई नहीं बताता। मारे गए लोग जला दिए गए, कफन का पैसा किस 'डोम' ने दवा लिया पता नहीं।

सच बोलने देने की सजा

मनिहारी घाट स्टीमर डूबने की दुर्घटना की कथा और भी दर्दनाक है। उस घाट का डोम सरकारी संरक्षण में अपने पांच सौ से अधिक बाहुबलियों के साथ खुलेआम घूम रहा है। पूरे बिहार की घटवारी पर एक दशक से उसका एकाधिकार है। सरकार घाटों का सरकारीकरण करने की घोषणा तो करती है, लेकिन कर नही पाती। स्टीमर और सवारियों के डूब जाने को वह 'डोम' अपने लिए ईश्वर का आशीर्वाद मानता है। मंत्री से लेकर संतरी तक का हिस्सा बिना मांगे उनके पास सदा पहुंचा दिया जाता है।

सत्य हरिश्चंद्र, गौतम और गांधी के देश में सत्य सरकार की कैद में आजन्म कारावास का दंड भुगत रहा है। बिहार की मासूम बालिका का सच इसका गवाह है। उसे कहा गया, 'बेटी कोई चुटकुला सुनाओ।' उस बेचारी ने जो कुछ सुना था वही बोल दिया, 'गली-गली में छोल है, राजीव गांधी चोल है।' उस बालिका के इस मासूमियत के अपराध के लिए, आकाशवाणी के अधिकारी दंडित किए गए। सागर

विश्वविद्यालय के पत्रकारिता विभाग के प्राध्यापक श्री आत्रे को मध्यप्रदेश पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया कि उन्होंने एक प्रश्नपत्र में यह प्रश्न क्यों पूछा कि 'आकाशवाणी के किस केंद्र से एक बालिका द्वारा यह चुटकुला सुनाया गया था कि 'राजीव गांधी चोर है।' उनकी दृष्टि में यह राजीव गांधी की इज्जत का सवाल है। उनकी इज्जत देश की इज्जत है। सच बालेने से राजीव का अपमान होता है। श्री आत्रे को सताया जा रहा है, जबकि पता यह लगाया जाना चाहिए था कि यह हवा बच्चे-बच्चे तक कैसे पहुची? क्यों पहुंची? कौन पता करें यह काम कठिन है। सजा देना आसान है।

सत्य हरिश्चंद्र को यह सब देखकर-सुनकर बहुत ही संतोष होता होगा कि किसी 'डोम' ने केवल उनके ही साथ क्रूरता नहीं की। और लोगों के साथ भी वही सब लगातार घटता आ रहा है जो उनके साथ घटा था। बच्चे अब किसी दुर्घटना के बाद मृतकों, घायलों और पीड़ितों की जेबें टटोलते, घड़ियां खोलते, आभूषण लूटते, नकली नाम से धन बटोरते नित्य देखते-सुनते हैं इसलिए उन्होंने हरिश्चंद्र के सत्य से जुड़े सवाल का जवाब अपनी दादी-नानी से पूछना बंद कर दिया है। सत्ययुग से चले आ रहे सवाल का जवाब उन्हें कलयुग में अपने आप मिल गया।

जवाब का संदेश

लेकिन किसी सवाल का जवाब मिल जाना ही पर्याप्त नहीं होता। हर सवाल-जवाब में कोई न कोई संदेश निहित होता है। इसमें भी एक संदेश है कि सतयुग में सत्य हरिश्चंद्र के साथ जो कुछ हुआ यदि वह न होने दिया जाता और जो कुछ हुआ उसे ही सत्य की महिमा बताकर प्रतिष्ठा प्रदान न की जाती, अपने बच्चों को यदि हम सत्यव्रती हरिश्चंद्र की मजबूर कथा न सुनाकर उनके मन में सत्य की अवमानना और लोभी डोम संस्कृति के प्रति विद्रोह का भाव जगाते तो आज यह कफन घसीटी का दृश्य देखने का दुर्भाग्य प्राप्त न होता। सतयुग में किए गए हमारे पूर्वजों के एक पाप की सजा तीन युगों से लगातार भुगत रहे हैं हम। सत्य और सामाजिक संवेदनाएं तभी से डोम संस्कृति की सूली पर टंगी हुई हैं। अपने रोहित के लिए तब एक हरिश्चंद्र बिका था, तब एक रोहित का कफन काशी के किसी एक डोम ने घसीटा था। आज यह काम थोक में बड़े पैमाने पर, सामूहिक रूप से बिना किसी लोकलाज के अनेक डोमों द्वारा किया जा रहा है। डोम संस्कृति के उत्तराधिकारी अपने दायित्व का निर्वाह इस खूबी के साथ कर रहे हैं कि किसी को पता ही नहीं लग पाता कि मृतकों का कफन घसीट लिया? राहत राशि नजराने में चली जाती है, नजर राह पर लगी रहती है कि शायद कोई दयावान दिख जाए जो उनका दर्द बांट ले।

11 सितम्बर, 1988

सुहागिन स्वतंत्रता का सौभाग्य-सिन्दूर खतरे में

मानहानि विधेयक 1988। इस विधेयक की प्रत्येक धारा पर विस्तारपूर्वक बहुत कुछ लिखा और कहा जा चुका है। इस विधेयक ने देश के बुद्धिजीवियों, लेखकों और पत्रकारों को सड़क पर आने को बाध्य कर दिया। एक दिन सभी अखबार बंद रहे। सभी पत्रकार और बुद्धिजीवी विधेयक की वापसी होने तक संघर्ष करते रहने का सामूहिक संकल्प कर चुके हैं।

लोकतंत्र का मखौल

संक्षेप में बताना हो तो यह विधेयक लोकतंत्र का मखौल है। अपने अपराध और कुकर्म से आतंकित प्रधानमंत्री और उनकी सरकार ने जन-जीवन की संजीदगी और धैर्य को चुनौती दी है। यह विधेयक उच्च पदस्थ लोगों के कुकर्मों को पवित्र कर्म बताने का प्रयास है। यह विधेयक जनजीवन में न्याय और ईमानदारी को पूरी तरह नकारता है। संविधान प्रदत्त विचार स्वातंत्र्य और विचार अभिव्यक्ति के मौलिक अधिकारों का अपहरण करता है। यह सरकार को एकतरफा अधिकार देता है कि वह तो किसी पर भी आरोप लगा सकती है, किसी को भी अपराधी ठहरा सकती है, किसी के भी विरुद्ध दूरदर्शन, आकाशवाणी और विज्ञप्तियों द्वारा अपप्रचार कर सकती है, किन्तु कोई दूसरा व्यक्ति सरकार के कारनामों पर अंगुली नही उठा सकता। यदि अंगुली उठाएगा तो उसे तुरत-फुरत सजा मिलेगी। मान-सम्मान केवल प्रधानमंत्री और उनके मित्रों का है, शेष सभी उनके गुलाम, दरबारी और दया के पात्र हैं। उनकी इज्जत प्रधानमंत्री की दया की दास है। अब देशवासी किसी गुण्डे के विरुद्ध अदालत में दावा नहीं कर सकेंगे। यदि न्यायाधीश ने प्रथम द्रष्ट्या उस गुंडे के विरुद्ध मामला बनता नहीं पाया और क्योंकि गुंडे के असामाजिक कार्यों को सिद्ध करना केवल शिकायत करने वाले की जिम्मेदारी होगी, तो गुंडा छूट जाएगा और उसकी मानहानि करने के अपराध में शिकायत करने वाले को इस कानून के अन्तर्गत कैद काटनी पड़ेगी। जुर्माना भरना होगा कि उसने किसी गुंडे के विरुद्ध मुकदमा क्यों किया? अब चोर को चोर और काने को काना कहना, क्योंकि इस से चोर और काने की मानहानि होगी, दंडनीय अपराध होगा।

यह है उस मानहानि विधेयक का सारांश जिसे लोकसभा अपनी स्वीकृति दे चुकी

है और जिस पर विचार करना राज्य सभा में टाल दिया गया है कि किसी को कुछ सुझाव देना हो, कोई शिकायत करनी हो तो वह मंत्रिमंडलीय समिति को बता दे।

एक सहज प्रश्न

यह प्रश्न अत्यन्त सहज है कि आखिर इस विधेयक की आवश्यकता क्या थी? क्यों बनाया जा रहा है यह कानून,? इन प्रश्नों के उत्तर में मैं क्षमा याचना के साथ एक मंत्री महोदय से हुई अपनी व्यक्तिगत वार्ता का विवरण देना चाहूंगा। क्षमा याचना इसीलिए कि यह सार्वजनिक जीवन और पत्रकारीय संहिता के विपरीत है कि व्यक्तिगत बातें सार्वजनिक की जाए। किन्तु क्योंकि यह विषय सार्वजनिक जीवन, व्यक्ति स्वातंत्र्य और लोकतांत्रिक मर्यादाओं पर आसन्न संकट से जुड़ा है इसलिए इसे देशहित में उजागर करना अनुचित नहीं होगा।

हुआ यह कि तीस अगस्त को लोकसभा ने मानहानि विधेयक पारित किया। 31 अगस्त को देश के प्रसिद्ध संपादकों, लेखकों और बुद्धिजीवियों की बैठक हुई। मानहानि विधेयक के विरुद्ध राष्ट्रीय अभियान चलाने का निश्चय किया गया। इस बैठक के बाद मेरे एक संपादक मित्र ने मुझे ताना मारा कि 'यह अलोकतांत्रिक कार्य आपके मित्र मानव संसाधन मंत्री श्री शिवशंकर के कारण हो रहा है?' मैं सन्नाटे में आ गया। श्री शिवशंकर के साथ अपनी यदा-कदा मुलाकातों की इस सार्वजनिक अभिव्यक्ति का कारण मैं समझ नहीं पाया। ताने का तीर मन में बहुत गहरा गड़ गया।

वह बातचीत

एक सितम्बर को प्रातः सात बजे मैंने श्री शिवशंकर को फोन मिलाया उनकी सदाशयता। उन्होंने तत्काल फोन उठाया। बोले, 'मैं शिवशंकर बोल रहा हूं।' इधर से मैं बोला, 'मैं भानुप्रताप हूं—पांचजंय से।' वे बोले, 'हां, कहिए भाई जी।' भाई कहकर संबोधित करना उनका सहज स्वभाव है। मैंने पूछा, 'क्या हाल है?' बोले, 'सब ठीक-ठाक है। ठीक ही चल रहा है।' मैंने सीधा प्रश्न किया, 'क्या ठीक चल रहा है? जो कुछ चल रहा है क्या वह ठीक है?' उन्होंने प्रश्न किया, 'क्या मतलब?' मैंने कहा, 'मतलब यही कि यह मानहानि विधेयक का मामला क्या है?'

व्यक्तिगत बातचीत में श्री शिवशंकर जी को मैंने भड़कते देखा-सुना नहीं था। किन्तु वे अचानक भड़क उठे। 'यह विधेयक बहुत जरूरी है। इज्जत के साथ रहना है तो यह कानून बनाना ही होगा। आप लोगों के हाथ में कलम है, जिस किसी के खिलाफ, जो मन में आता है लिख देते हैं, कलम की स्याही उसके मुंह पर मल देते हैं।'

मैंने कहा, 'शिवशंकर जी! कुछ लोग और कुछ समाचार पत्र ऐसे हो सकते हैं जो गैर जिम्मेदार हों, भयादोहन और सौदेबाजी की पत्रकारिता करते हों, चरित्र हत्या

करना ही जिनका चरित्र हो, किन्तु क्या कुछ लोगों के कारण सभी को सूली पर टांग देना उचित है?' वे बोले, 'हुकूमत चलाना हो तो यह सब करना ही पड़ेगा। देखिए न, इण्डियन एक्सप्रेस और स्टेट्समैन ने क्या-क्या छापा? यह कोई बात हुई कि जो मन में आए वह छाप दे। समाचार पत्र विदेशियों के हाथों में खेल कर देश में अस्थिरता पैदा करना चाहते हैं।' मैंने निवेदन किया, 'भाई जी, लोकतंत्र बहस, उत्तर-प्रतिउत्तर, समाचारपत्रों और सभा मंचों से ही चलता है। यदि अखबारों में जो कुछ छपा था वह गलत था तो सरकार सही तथ्य बता कर उसे सुधार सकती थी। उन पर मुकदमा चला सकती थी। सरकार सही तथ्य छिपाती क्यों है? देश को सही-सही बताती क्यों नहीं? यह कहां का लोकतंत्र है कि कोई बात सरकार को न रुचे तो बोलने वाले की जीभ काट ली जाय, लिखने वाले की कलम ही नहीं, उसका हाथ तक तोड़ दिया जाय। रही हुकूमत चलाने की बात तो पहले हुकूमत बचाइए। फिर उसे चलाने की बात कीजिए। आपकी हुकूमत रहेगी तभी तो चलेगी। मानहानि विधेयक के विरुद्ध पत्रकारों का आन्दोलन जनआन्दोलन बनकर आपकी हुकूमत के लिए खतरा पैदा न कर दे, इसका प्रबंध कीजिए। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूं कि कल मेरे एक सम्पादक मित्र ने ताना मारा कि यह सब आपके (मेरे) शिवशंकर जी का किया धरा है यह बात क्यों और किसने फैलाई, मैं नहीं जानता किन्तु मुझे विश्वास है कि मेरे मित्र शिवशंकर जी कोई रास्ता अवश्य निकालेंगे।'

शिवशंकर जी पहले जैसे एकदम विनम्र हो गए। बोले, 'आइए बैठकर बातें करेंगे। कल किसी समय दो-तीन घंटे का समय निकालिए।' मैंने कहा, 'अब इतना समय नहीं है कि बात कल पर टाली जाय। आप कुछ कर सकते हों तो करें अन्यथा मोर्चा तो लग ही गया है।

श्री शिवशंकर जी ने आश्वासन दिया, 'मैं अभी गृह मंत्रालय से बात करता हूं। क्या आप भी विचार-विमर्श के लिए आएंगे।' 'मेरे आने न आने का कोई विशेष महत्व नहीं है मेरा आना आवश्यक है, बात होना उनसे जरूरी है जिन्हें हमने अपना प्रमुख बनाया है। किन्तु विधेयक की वापसी से कम पर शायद ही कोई बात करने के लिए तैयार हो।'

एक ही उत्तर

मैं श्री शिवशंकर जी को धन्यवाद दूंगा कि उन्होंने जो कुछ कहा उसे तत्काल किया। उनके साथ हुई अपनी बातचीत से मैंने हिन्दुस्तान टाइम्स के संपादक श्री दुआ, जनसत्ता के प्रभाष जोशी, इण्डियन एक्सप्रेस के हिरण्यमय कार्लेकर, वरिष्ठ पत्रकार पृथ्वीश चक्रवर्ती, राजेन्द्र प्रभु और सांसद श्री अश्विनी कुमार आदि मित्रों को अवगत कराया कि सरकार हमसे संपर्क करने वाली है। क्या करना है हम लोग निर्णय कर लें। सभी का एक ही उत्तर था, 'सरकार विधेयक वापिस ले ले तो ही कोई बात

होगी।'

श्री शिवशंकर ने गृह मंत्रालय से संपर्क किया, गृहमंत्रालय ने प्रधानमंत्री सचिवालय से संपर्क साधा। देश के प्रमुख संपादकों और पत्रकारों को फोन खड़काए गए। संदेह और भ्रम भी फैलाया गया किन्तु कामयाबी नहीं मिली। सबका एक ही उत्तर था, 'सरकार पहले मानहानि विधेयक वापस ले, फिर कोई बात होगी। तब तक हमारा आन्दोलन जारी रहेगा।' इस व्यक्तिगत बात को सार्वजनिक करने के लिए मैं एक बार फिर श्री शिवशंकर जी से क्षमा चाहता हूं।

यह कार्य मुझे केवल इसलिए करना पड़ रहा है कि इस बातचीत को बताए बिना मानहानि लाने और कानून बनाने का सरकारी इरादा अनुमान का विषय बना रहता। अब बिना और कुछ बताए ही स्पष्ट हो जाएगा कि क्योंकि इण्डियन एक्सप्रेस, स्टेट्समैन और हिन्दू आदि समाचार पत्रों ने प्रधानमंत्री के मित्रों द्वारा घूसखोरी करने, दलाली खाने और विदेशी बैंकों में धन जमा करने के कारनामों को प्रकाश में लाया, उनका कर्म-कुकर्म उजागर किया, प्रधानमंत्री की 'श्रीमान स्वच्छ' वाली छवि की असलियत पर से परदा उठा दिया इसलिए इस काले-क्रूर कानून का कवच उन्हें पहनाया जा रहा है कि आगे उनके और उनके मित्रों के काले कारनामे छिपे रहें और कानून की एक ऐसी लौह दीवार बना दी जाए कि कोई सत्यान्वेषी उनके कारनामों को प्रकाश में लाने का न्यायोचित कार्य न कर सके।

'मैं देखूंगा'

बातें और भी हैं। भाजपा सांसद श्री अश्विनी कुमार जी राज्यसभा के सभापति और उपराष्ट्रपति जी से मिलने गए। उस समय वहां माखनलाल फोतेदार उपस्थित थे। वे सभापति जी को शायद यह समझाने आए थे कि मानहानि विधेयक व्यक्ति स्वातंत्र्य और सम्मान की रक्षा करने के लिए बहुत आवश्यक है। फोतेदार जी बाहर आए तो श्री अश्विनी कुमार जी अन्दर गए। बातचीत के दौरान उन्होंने उपराष्ट्रपति जी को बहुत ही दुखी पाया कि यह सब क्या हो रहा है? विदेश मंत्री नरसिंह राव गुस्से में थे कि इतना गंभीर विधेयक संसद में पेश कर दिया गया, उसके कारण देश में तूफान उठ रहा है किन्तु उन्हें विश्वास में नहीं लिया गया। कुछ लोग प्रधानमंत्री जी से भी मिले। वही मासूमियत, वही दुधमुही मुस्कान। बोले, 'मुझे तो पता ही नहीं है। मैंने तो समिति बना दी थी। विधेयक उसी ने बनाया है। मैं देखूंगा।'

कांग्रेस में खुश-फुश

राष्ट्रपति जी ने अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की। कमलापति त्रिपाठी ने इस विधेयक को अनावश्यक बताया। इंका सांसद खुश-फुश करने लगे, 'मार डाला राजीव ने। मानहानि विधेयक खाज में कोढ़ जैसा है। हमें देखते ही लोग बोफोर्स-बोफोर्स बोलने लगे थे, अब समाचार पत्रों की आजादी और लोकतंत्र का हत्यारा भी कहा

जाने लगा है। क्या एक व्यक्ति के लिए पूरी व्यवस्था और संविधान को सूली पर चढ़ा दिया जाएगा। आपत्काल के समय समाचार पत्रों का गला घोंटने का नतीजा हम भुगत चुके हैं। अब क्या करना चाहते हैं राजीव? यह विधेयक वापस भी ले लेंगे तो भी देश के ऊपर तानाशाही थोपने के उनके इरादे के आरोप का उत्तर दे पाना अब इन्दिरा कांग्रेस में किसी के बूते ही बात नहीं है। दूरदर्शन और आकाशवाणी पर किसी का विश्वास है नहीं, संसद में जो कुछ हो रहा है उसके कारण उसी प्रासंगिकता कम हो रही है। राजीव जी सच भी बोलते हैं तो उसे झूठ ही माना जाता है। क्या होगा अब हमारा। अब तो भगवान ही बचा सकता है—देश, लोकतंत्र और कांग्रेस को। राजीव के नेतृत्व में इन तीनों पर खतरा दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।'

नाना याद आ गये

सांसदों ने शोर मचाया, गुप्तचरों ने रपट दी, मंत्रियों ने कोर्निश की, कि 'कुछ करो महाराजाधिराज। हुकूमत खतरे में है।' हतबल महाराज राजीव पिघले। दो तारीख को तालकटोरा स्टेडियम में दरबार सजा। राजीव ने घोषणा की, 'मेरा विश्वास है कि जो कुछ किया जा रहा है वह उचित है मानहानि कानून आवश्यक है। फिर भी मानहानि विधेयक पर राज्यसभा में बहस टाली जा रही है। एक समिति बना रहा हूं कि लोग उसको अपनी शिकायतें दर्ज करा दें। कांग्रेस को समाचार पत्रों की स्वतंत्रता बहुत प्रिय है। तुषार क्रांति घोष को 1940 में नेहरू जी द्वारा लिखे गए पत्र का साक्षी दिया कि समाचार पत्रों की आजादी की रक्षा करना कांग्रेस का कुल धर्म है। और व्यक्ति स्वातंत्र्य परस्पर पूरक होकर साथ-साथ चलने चाहिए। आपत्काल के अठारह महीने की इंदिरा जी की करतूतों को तो दबा गए किन्तु दूसरों को नानी की याद दिलाने वाले राजीव को नाना याद आ गए।

फांसी की तरकीब सुझाओ

मानहानि विधेयक पांच सितम्बर को राज्यसभा में पेश नहीं किया गया। अब उस पर सार्वजनिक बहस होगी। सरकार की तरफ से पूछा जाएगा कि 'अच्छा, अब आप ही लोग बताइए कि विचार स्वातंत्र्य और विचार अभिव्यक्ति की आपकी आजादी को फांसी कैसे दी जाय कि मेरे राजीव, उनके परिवार और कांग्रेस कुल का मान सम्मान सुरक्षित रहे?'

प्रशंसक की तलाश

मानहानि विधेयक के संदर्भ में राजीव के संबंध में कुछ दिशाबोधक सहज प्रतिक्रियाएं व्यक्त की गईं कि, 'यह समझ से नाबालिग प्रधानमंत्री का बचकाना कार्य है, इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने का यदि यही मार्ग है तो तब लोकतंत्र की मृत्यु और तानाशाही का आगमन निश्चित है' एक वरिष्ठ विचारक पत्रकार ने दो सितम्बर

के राजीव के भाषण पर सहज टिप्पणी की, 'इस लड़के को क्षमा मांगने की भी तमीज नही है। शायद यह दून स्कूल की संस्कृति है कि वहां शिक्षित बालक अकड़कर, मुट्ठी बांधकर 'सॉरी' कहता है।' चौधरी देवीलाल का यह कथन लोग आमतौर पर दोहराने लगे कि 'बाहर बटालियन, अन्दर इटालियन।' एक व्यक्ति ने कहा, 'अस्थिरता पैदा करने वाला विदेशी हाथ राजीव की कमर से सदा लिपटा रहता है। उसे बाहर खोजने की जरूरत ही क्या है?' दूसरे ने कहा, 'हिटलर के रास्ते पर चलने का परिणाम भी हिटलर जैसा ही होता है। आदि-आदि। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिलता जो मानहानि विधेयक के लिए राजीव की प्रशंसा करे।

यह भी साबित हुआ

मानहानि विधेयक ने केवल राजीव के इरादों को ही उजागर नही किया, इसके कारण लोकतंत्र की महिमा की अभिव्यक्ति भी हुई लोकतंत्र विचार स्वातंत्र्य और विचार अभिव्यक्ति की आजादी देशवासियों और विशेषकर बुद्धिजीवियों को कितनी प्रिय है इसका प्रमाण भी मिला। सामान्य तौर से काहिल और कायर कहा और माना लाने वाला भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग पांच सितम्बर को ग्यारह बजे की दोपहरी की चिलचिलाती धूप में अमर जवान ज्योति के पास राजपथ पर आ खड़ा हुआ। उसने राष्ट्रपति भवन की ओर यह कहते हुए कदम बढ़ाए कि वह अपनी आजादी का अपहरण नहीं होने देगा। अपने जन्म सिद्ध अधिकार को सत्ता लोभियों की खुराक नहीं बनने देगा। देश की प्रतिभा का विद्रोही हो जाना, उसका सड़क पर आ जाना साधारण बात नहीं है। देश को इसी की प्रतीक्षा थी कि ज्ञान और कर्म साथ-साथ चलें तो सार्थक परिवर्तन आए। इतिहास लेखक जब इतिहास निर्माता बनने लग जाते है तो इतिहास के पृष्ठ और अधिक गौरवान्वित हो उठते हैं।

अभी परीक्षा की घड़ी आनी है

लेकिन एक बात ध्यान रखने की है कि विचार स्वातंत्र्य का समर अभी पूरी तरह से प्रारंभ नही हुआ है। ठोककर खड़ा नहीं हुआ है कि 'आ जाओ—हो जाएं दो-दो हाथ।' कातिल अभी पीछे हटता दिखाई दे रहा है। यह उसकी रणनीति भी हो सकती है। परीक्षा की असली घड़ी अभी आने को है। विचार स्वातंत्र्य के प्रेम की परीक्षा तब होगी जब देश के कलमकार अपने मालिकों के दबाव और सत्ता प्रतिष्ठान के दमन दुधारे को नाकाम कर के भय और लोभ पाश को तोड़कर भी मैदान में डटे रहेंगे। लोकतंत्र की महिमा स्थापित करने का अवसर सामने है। यह दायित्व देश का आम आदमी कई बार निभा चुका है। अब बुद्धिजीवियों ओर अखबारों की बारी है। यह निजी नहीं, सामूहिक संघर्ष है। सामूहिक अभियान में किसी भी प्रकार के अलगाव को आत्महत्या कहा गया है।

देश के स्वातंत्र्य सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदलने को केवल शब्दों द्वारा रोक पाना संभव नही होगा। विचार अभिव्यक्ति और विचार स्वातंत्र्य का अधिकार स्वातंत्र्य लक्ष्मी का सौभाग्य सिंदूर है। मानहानि विधेयक सुहागिन स्वतंत्रता का सिंदूर पोछता है। उसका सौभाग्य, शौष्ठव और सौंदर्य बनाए रखने के लिए स्वातंत्र्य प्रेमियों का रक्त-सिंदूर जरूरी होगा। इस संघर्ष में सब कुछ ठीक-ठीक और अनुकूल ही रहेगा, यह मानने वाले अभी से पीछे हट जाएं। जो अंतिम क्षण तक जूझ सकें वे ही इस साका-संगर में शामिल हों।

इस अवसर पर केसरी के लोकमान्य तिलक और प्रताप के गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकारों का स्मरण आना स्वाभाविक है। किन्तु यह न भूलें कि तब समाचार पत्र उद्योग नहीं, स्वतंत्रता प्राप्त करने के साधन थे। तब पत्रकार स्वेच्छा से दमन-दण्ड भोगने और शूली पर चढ़ने के लिए तैयार रहा करते थे। तब वे वेतन और सुविधा की चिन्ता नहीं करते थे। वे अपने कलेजे के रक्त में कर्म की लेखनी डुबोकर समय की शिला पर जन्म सिद्ध आजादी के अधिकार का आलेख केवल इसलिए लिख सके थे कि उन्हें जीवन सुख से अधिक आजादी प्यारी थी। अतएव जिनमें सत्ता का क्रूर कुठार झेलने का सामर्थ्य हो, वे ही आजादी के इन कातिलों के सामने सीना तानकर खड़े हों। चुनौती जितनी गंभीर है, उसकी स्वीकृति भी उतनी ही दृढ़ संकल्प से परिपूर्ण होनी चाहिए। आजादी ईश्वरीय विधान है। यदि राजीव के विधान को उसका विध्वंस करने दिया जाएगा तो तानाशाही अवश्यंभावी है। आजादी के सम्मानपूर्ण सौभाग्य और रोटी के सुविधायुक्त सुख में से किसे चुनना है यंह तय करना किसी और का नहीं, हमारा काम है। राजीव के इरादे स्पष्ट है, उनमें खोज करने जैसी कोई बात नहीं है।

18 सितंबर 1988

न गांधी से कुछ सीखा न गोर्बाचोव से

महात्मा गांधी ने कहा था कि, 'फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद से राजनीतिक संघर्ष, स्वतंत्रता और समानता के बीच संघर्ष तक सीमित होकर रह गया। किन्तु फ्रांस की क्रांति की तीसरी शक्ति सौहार्द्रता को दृष्टि से ओझल न करें। सोहार्द्रता का अर्थ है विश्वास और संवेदना।'

रूस के गोर्बाचोव कहते है कि, 'विश्वास और सहानुभूति के बिना समाजवाद सफल नही होगा।' उनका आश्वासन है कि वे इतिहास के खाली पन्नों को भर देंगे। पिछले सभी झूठों और विकृतियों का फर्दाफाश कर देंगे। अगर कोई अपने इतिहास के प्रति सच्चा नहीं है तो वह दर्तमान और भविष्य के प्रति सच्चा नही हो सकता। वे कहते हैं, 'नैतिक आधारविहीन नीति बहुत ही हानिकारक होती है। हम अपने अनुभव से यह जानते हैं कि इसकी अवहेलना करने से क्या कुछ हो सकता है।'

जीवन का तलचिन्ह

गांधी और गोर्बाचोव का यह कथन सार्वजनिक जीवन ओर व्यवस्था का तल चिन्ह है। विश्वास, संवेदना, सौहार्द्र और सहानुभूति के बिना जनजीवन और उसकी व्यवस्था का रथचक्र चल नही सकता। जब-जब इनकी अवहेलना होती है। लोकजीवन के रथ का पहिया घर्र-घर्र करके जाम हो जाता है। इसको जाम कर देन का अर्थ है विप्लव और विद्रोह को आमंत्रण। विश्वास और संवेदना मनुष्य की पीड़ा को सहलाते हैं। कटुता को कम करते हैं। सामंजस्य की आधारभूमि प्रदान करते हैं बिखरे तिनकों को बटोरते हैं तो व्यक्ति दर्द में भी दूर नहीं भागता, समीप आता है और समीपता अन्तर के बाद द्वार खोल देती है।

संवादहीनता की स्थिति

इस तल चिन्ह से हम अपने देश की जिन्दगी को नापते और उस की थाह लेते हैं तो सौहार्द्र की जगह शत्रुभाव, करुणा की जगह क्रूरता, विश्वास की जगह अविश्वास, समीपता की जगह दूरी पाते हैं। नैतिकता और चरित्र का दुर्भिक्ष दिखाई देता है। ऐसा लगता है कि हम संवादहीनता की स्थिति में जी रहे है। हमें वाणीविहीन और अभिव्यक्तिहीन एक नए लोकतंत्र के निर्माण की भट्टी में डाल दिया गया है।

लोकतंत्र के नाम पर लोकतंत्र के संचालक लोकतंत्र को भोग रहे हैं। देश को उस तानाशाही की ओर धकेला जा रहा है। जिसे इस समय दुनिया धक्का मार रही है। संसार खुलेपन की ओर जा रहा है। तो भारत का खुलापन बन्द किया जा रहा है।

बहुत ही विचित्र स्थिति है। चौराहे पर खुलेआम विश्वास का वध, दिन दहाड़े नैतिकता ओर चरित्र के साथ बलात्कार, जनसभा में जनतांत्रिक मर्यादाओं को मटियामेट करने की उद्धत घोषणा, संसद और विधान सभाओं में छापामार राजनीति, व्यवस्था को व्यक्ति का गुलाम बनाने का कुटिल कार्य, अंगुली उठाए तो हाथ तोड़ देने, बोलें तो जीभ खींच लेने की ताड़ना, देश की शांति को अशांति की धधकती भट्टी में झोंक कर सब कुछ ठीक-ठाक होने का आभास और आश्वासन दिया जा रहा है। कैसे चलेगा लोकतंत्र ?

लोकतंत्र की बागडोर जिनके हाथ में है, उनकी दशा देखिए। विरोधी दल क्रिया नहीं, प्रतिक्रिया करते हैं। समाज से कटकर सत्ता से जुड़ने का जुगाड़ मात्र ही उनकी संपूर्ण राजनीति है। सत्तारूढ़ दल की गलतियों को ही वे अपनी शक्ति समझते हैं। नीति और आचरण में कोई ऐसा विशेष अन्तर नहीं है कि देशवासी उनमें और कांग्रेस में कोई अन्तर कर सके। जिनके संस्कार और सिद्धान्त कांग्रेस से भिन्न है उनके कर्म की भूमि इतनी भुरभूरी है कि उस धरती पर खड़े होने में भय लगता है। भ्रष्टाचार और लोकतंत्र के शीलहरण को विरोधी दलों की ओर से कोई सीधी और सबल चुनौती मिलती दिखाई नही देती। कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं देता जिसमें यह सामर्थ्य हो कि वह लोकतंत्र की रक्षा का भार अपने कंधों पर उठा सके।

अब सत्तापक्ष का जायजा लें। सत्तापक्ष राजनीतिक दल नहीं, दुकान है। राजनीति उसके लिए राष्ट्र के निर्माण ओर विकास का माध्यम नहीं, व्यापार है। वहां केवल एक व्यक्ति ही संस्था, सरकार, लोकतंत्र और व्यवस्था है। लोकतंत्र उसका बंधक है। इस दल के लोग [illegible] व्यक्ति के केवल दरबारी है। संसद उसकी छापामार राजनीति का अखाड़ा है। वहां कानून देश की व्यवस्था के लिए नहीं, केवल एक व्यक्ति की सुरक्षा के लिए संशोधित किया जाता है। उस एक व्यक्ति की नैतिकता को पवित्र नैतिकता करार दिया जाता है। उसकी उद्धतता को लोकतांत्रिक खुलापन और मूर्खता को प्रगल्प प्रतिभा प्रमाणित किया जाता है।

न्यायपालिका और समाचारपत्रों को वह व्यक्ति अपना शत्रु मानता है। न्यायपालिका को नपुंसक और समाचार पत्रों को पंगु बनाना उसकी सत्ता राजनीति की प्रमुख रणनीति है। स्वतंत्र न्यायपालिका और निर्भीक समाचार पत्र उसकी एकाधिकार-वादी रीति-नीति में बाधक है इसीलिए इनकी गरिमा और प्रभावकारिता को नष्ट करने का हर संभव प्रयास किया जाता है। सत्तारूढ़ व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्ध न्यायाधीश और पत्रकारों को प्रतिष्ठित करने और स्वतंत्र चेता न्यायाधीशों तथा पत्रकारों को बनवास देने की व्यवस्था बनाई जा रही है। कार्यपालिका को तो पहले से ही पालतू बनाया जा

चुका है। ओर देशवासी? देशवासियों का सिर शर्म से झुका हुआ है। देशवासी अपनी आंखें नीची किए सुन रहा है कि उसके महानायक को दुनिया मूर्ख, डरपोक, घूसखोर, दलाल ओर भ्रष्ट कह रही है। उसका चरित्र संदिग्ध है। उसके इरादे दूषित हैं। कभी जिसकी दुधमुंही और मासूम मुस्कान पर मर जाने का उसका मन करता था अब उसमें उसे बनावटीपन और कुटिलता दिखाई देती है। कभी जिसकी अंगुली पकड़ कर सुबह-सुबह आंगन में देशवासी जिसे ठुमक-ठुमक चलाना अपना सौभाग्य समझते थे अब उससे अपना पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। वे बहुत दुखी हैं कि कल जो उनका आराध्य था वही आज अपराधी बन गया। रूस के गोर्बाचोव अपनी विकृतियों को पर्दाफाश करके अपने इतिहास के खाली पन्नों को भर देने की घोषणा कर रहे हैं, तो भारत के उसके राजीव अपनी विकृतियों पर पर्दा डालकर इतिहास के भरे और सुनहरे पन्ने फाड़ रहे हैं। भारत देश के इतिहास और परंपरा का अनादर होते देखकर वर्तमान और भविष्य के प्रति देशवासियों का मन अकल्पित आशंकाओं से भर उठा है। देशवासी देख रहे हैं कि जिसे कभी महानायक की महिमा से मंडित किया था वह महापातकी निकला। जिसे राष्ट्रीय एकता और लोकतंत्र का रक्षक माना था, वही उनका भक्षण कर रहा है।

आजादी पर डाका

यह किसी की पसन्द या नापसन्द की बात नहीं है और न इस विषय में किसी अनुमान ओर अनुसंधान की ही आवश्यकता है। तीस अगस्त, 1988 को लोकसभा में जिस छापामार तरीके से राजीव ने मानहानि विधेयक पास कराया, उसके बाद भविष्य संबंधी अनुमान लगाने के लिए अब कुछ शेष रहा ही नहीं। संसद अब पूरी तरह अप्रासंगिक हो गई है। लोकतांत्रिक खंभों की नींव के नीचे रखे गए आस्था के पत्थर तोड़े जा रहे हैं। विचार-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति की आजादी को एक व्यक्ति राजीव की इज्जत और उसके सखाओं की भ्रष्टता का बंदी बनाया जा रहा है। समाचार पत्रों की ही नहीं, समस्त देशवासियों की आजादी पर डाका डाला जा रहा है। राजीव कहते हैं कि लोकतांत्रिक खंभे आजादी की मर्यादा नहीं समझते। उन्हें अनुशासित और मर्यादित किया जाएगा कि उनके लिए यह प्रश्न पूछने का भी अवसर और अधिकार न रह जाय कि क्या आप (राजीव और उनके सखा) चरित्रहीनता, अनैतिकता और भ्रष्टाचार की मर्यादा समझते हैं? यदि कोई यह प्रश्न पूछेगा तो उसे मानहानि करने की गुस्ताखी की सजा देकर जेलखाने में डाल दिया जायगा। अब यह मांग करना अपराध होगा कि जिन लोगों ने अवैध ढंग से देश की दौलत विदेशी बैंकों में जमा कर रखी है उन्हें सजा दो। नारी का शील-हरण, बेगुनाहों की हत्या, दंगा-फसाद और देशघाती कृत्यों का निराकरण करने की कोई जल्दी नहीं है, लेकिन प्रधानमंत्री और भ्रष्टाचार पर कोई उंगली उठाएगा तो नब्बे दिन के अन्दर उसे इसलिए जेल भेज

दिया जाएगा क्योंकि वे भ्रष्टं और चरित्रहीन नहीं हैं, यह सिद्ध करने का दायित्व उन पर नहीं, अंगुली उठाने वाले पर होगा। कागजात ओर प्रमाण सरकारी फाइलों मे होंगे, आफिसियल सीक्रेट एक्ट के तहत सरकार उसे बताने से मना कर देगी। साफ है आरोप सिद्ध नहीं हो पायेगा तो आरोप लगाने वाले को मानहानि करने का अपराधी घोषित करके जेल भेज दिया जाएगा। कानून का कवच धारण करके राजीव और उनके सखा स्वेच्छाचार और भ्रष्टाचार की छूट चाहते हैं किन्तु तात्कालिक रूप से जो कुछ प्रत्यक्ष स्थायी होता दिखाई दे रहा है वह स्थायी नहीं है।

राजीव भारत, फ्रांस, रूस और ब्रह्मदेश के संदर्भ से स्वयं को जोड़ नहीं पा रहे हैं। भारत सहित सभी देशों का अतीत और वर्तमान इस बात का साक्षी है कि यदि जनता की सहज चेतना के विरुद्ध कार्य किया जायगा, उसके स्वातंत्र्य को बंदी बनाया जाएगा, संवादहीनता की स्थिति पैदा की जाएगी तो आज नहीं तो कल विद्रोह और विप्लव अवश्यंमावी होगा। यदि वर्तमान पीढ़ी घुटने टेक देगी तो भावी पीढ़ी उसका प्रतिकार करेगी। हजार वर्ष की गुलामी के बाद भारत ने यही किया था, कई दशक तक राजतंत्र के क्रूर पाटे में पिसने के बाद फ्रांस में यही हुआ था, रूस में कम्युनिस्ट क्रांति और तानाशाही के सत्तर वर्ष बाद भी यही हो रहा है ओर ब्रह्मदेश? छब्बीस वर्ष बाद वहां मुक्ति ओर स्वातंत्र्य की सहज चेतना ने जकड़न ओर तानाशाही को अंतिम ओर सफल चुनौती दी है। कल तक ब्रह्मदेश क जिन नैविन का शब्द ही कानून था आज उन नेविन की तलाश हो रही है कि वे कहां और किस देश में छिपे बैठे हैं। उनकी सत्ता तो गई ही, देश मे रहना भी उनके लिए असंभव हो गया।

जरा सोचिए कि राजीव आज तो अपने पक्ष में संसद में कानून बनवा लेंगे लेकिन कल क्या होगा? जब लोग बंधक व्यवस्था को ही अमान्य कर देंगे तो कानून कहां रहेंगे? संविधान, संसद ओर कानून आदि जब तक देशवासियों की सहज चेतना का पालन-पोषण करते और उनके सहजीवी-सहयात्री होते हैं तभी यह काम देते हैं। जन विद्रोह और अस्वीकार के सामने कोई भी व्यवस्था ओर दमन दुधारा टिक नहीं पाता। जब सौहार्द्र, विश्वास और संवेदनाएं सूख जाती हैं, इतिहास के प्रति सच्चाई नहीं रह जाती। नीतियां नैतिकता का आधार गंवा देती है, कर्म जब सदाचार और सदाशयता से कट जाता है तो विप्लव और विद्रोह का ज्वार सहज रूप से स्वतः उठता है। तब इतिहास के काले पृष्ठ रक्त से धोए जाते हैं, जनपथ पर कोलाहल होता है तो राजपथ पापियों के शवों से पटता है तब बड़ा भयंकर और बहुत ही वीभत्स दृश्य उत्पन्न हो जाता है।

समझदार और दूरदर्शी महानायक सहज जनचेतना के साथ कभी छेड़खानी नहीं करते। वे जनचेतना के सहयात्री होते हैं। उसे तोड़ते या भंग नहीं करते, समय देखकर बड़े करीने से उसे मोड़ने और दिशा देने का प्रयास करते हैं। जो सहज है उसको सहजता से ही सुधारा जा सकता है। सजा देकर उसे संस्कारित करने का

प्रत्येक प्रयास ओर उपाय महाविनाशकारी संकट को न्यौता देता हैं

मानहानि विधेयक को देशवासियों ने निरपवाद रूप से भ्रष्टाचार प्रकाशन निरोधक विधेयक की संज्ञा दी है। इस संदर्भ में एक साथ और एक समान व्यक्त की गई जनप्रतिक्रिया भाषा, विचार, क्षेत्र, दल ओर राजनीति की समस्त सीमाओं को तोड़कर केवल इसलिए आरपार निकल गई कि यह विधेयक देशवासियों की सहज मानवीय चेतना और प्रकृतिदत्त अधिकारों पर आघात करता है।

देश की लोकतांत्रिक संस्थाओं और उसकी मर्यादाओं को मर्माहत करके, विश्वास, सौहार्द्र, चरित्र और नैतिकता को निर्लज्जता और भ्रष्टाचार की तुला पर तौलकर, शील और अश्लील का अन्तर मिटाकर राजीव किस व्यवस्था का निर्माण करना चाहते हैं? भारतीय लोकतंत्र का रथ जिस रामराज्य की संकल्पना के साथ जनपथ से होते हुए राजपथ पर चला था उस राम की सीता को भी अनेक बार अपनी असंदिग्धता की परीक्षा देनी पड़ी थी। सार्वजनिक जीवन में मात्र इतना ही पर्याप्त नहीं होता कि आप जानते हैं कि आपके चरित्र की चादर साफ है, लोगों को भी स्पष्ट रूप से साफ दिखाई नहीं देना चाहिए कि आपकी चादर सचमुच साफ है। लोग जब चाहे, जितनी बार चाहें, बिना किसी हिचकिचाहट और क्षोभ के उन्हें प्रत्यक्ष दिखाया जाना चाहिए कि उनके महानायक की चादर बेदाग है। लोगों के मन में संदेह है कि राजीव के चरित्र की चादर बेदाग है तो उसे दिखाने और बेदाग सिद्ध करने से वे घबड़ाते क्यों हैं? कानून का परदा डालकर अपना कर्म और चरित्र छिपाने की कोशिश क्यों करते हैं? उनके शब्द जो कुछ कहते हैं वह उनके कर्मों से मेल क्यों नहीं खाता?

राजीव का कर्म कहता है कि वे बहुत ही दागदार है। अब वे किस-किस को सफाई देंगे। रत्नाकर डाकू के परिवार वालों की तरह उनके परिवार और दल के लोग भी यदि भविष्य में उनका साथ छोड़ दें तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। यह अवश्यंभावी है। देश का आबाल-वृद्ध यह मान बैठा है कि राजीव उसके साथ छल कर रहे हैं, उसकी आजादी और संचेतना को अपनी सत्तालिप्सा और सखाओं की भ्रष्टता का बंदी बना रहे हैं राजीव संचालित लोकतंत्र के प्रति लोक-विश्वास भंग हो चुका है। वे न गांधी से कुछ सीख रहे हैं न गोर्बाचोव से। न फ्रांस की राज्य-क्रांति उन्हें समझा पा रही है। न ब्रह्मदेश का जन-विप्लव। वे न देश के इतिहास के प्रति ईमानदार हैं न वर्तमान और भविष्य के प्रति। देशवासियों के विश्वास, ममता और दुलार को राजीव ने जिस क्रूरता के साथ दुत्कारा है। उसका दुष्परिणाम उनकी अपनी मां 1977 में भुगत चुकी हैं उनके अपने दल को भी कर्नाटक, आंध्र, केरल, पश्चिमी बंगाल, असम, और कश्मीर में उसका खामियाजा भुगतना पड़ा है। यह न भूलें कि देशवासी यदि किसी को अपने सिर पर बिठाना और गौरव के शिखर पर चढ़ाना जानते हैं तो उसे कूड़ेदान मे फेंक देना भी उन्हें आता है। लोकतंत्र ओर विचार स्वातंत्र्य लेन-देन और सौदेबाजी की वस्तु नहीं है। यह राष्ट्रजन का रक्त और मांस है। स्वाधीन राष्ट्र का प्राणतत्व। राजीव इसके साथ सौदेबाजी करने की नादानी कर रहे हैं।

25 सितंबर 1988

बधाई ! आभार ! धन्यवाद !

बधाई, आभार, धन्यवाद। उन समस्त पत्रकारों, संपादकों, मालिकों ओर बुद्धिजीवियों को जो विचार स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति की आजादी के अपहर्ताओं के सामने झुके नहीं, मानहानि विधेयक वापस लेने के अंतिम क्षण तक अपने संकल्प पर अडिग रहे ओर विजय प्राप्त की।

आभार देश की समस्त जनता के प्रति। देशवासियों ने स्पष्ट कर दिया कि उनकी आजादी के किसी भी अंश को सीमित करने या छीनने का प्रयत्न किया गया तो वे उसे कदापि सहन नहीं करेंगे। देशवासियों ने लोकतंत्र को जिस एक जुटता और अहसास के साथ महिमामण्डित किया है वह अभिनन्दनीय तो है ही, भविष्य के प्रति आशा और विश्वास का द्योतक है। उन्हें यह समझते देर नहीं लगी कि यह केवल समाचार पत्रोंको सबक सिखाने का नहीं, जानकारी प्राप्त करने का आरम्भिक कदम है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक, द्वारका से कामाख्या तक संपूर्ण देशवासियों के एक स्वर ने राष्ट्रीय एकता, एकात्मकता, समान सुःख-दुःख बोध और भविष्य की समान आकांक्षाओं की राष्ट्रीयता को अभिव्यक्ति दी है।

धन्यवाद प्रधानमंत्री राजीव को कि सुबह का भूला शाम को घर आ गया। भयवश ही क्यों न हो अपना गलत कदम वापस ले लिया। लोकशक्ति के समक्ष सत्ताशक्ति के झुकने को लोकतांत्रिक इतिहास के चांदी के पन्नों पर सोने के अक्षरों में लिखा जाएगा। नादानी और समझदारी के बीच चले तेईस दिवसीय जनसमर में जनता की यह रक्तहीन विजय लोकतंत्र में ही संभव थी, अन्यथा खून बहता तो यह दिन देखने को मिलता कि कोई देशवासी अपने मन की बात बोल और लिख पाता।

दुखद प्रसंग

इस बधाई, आभार और धन्यवाद के बीच कई दुःखद प्रसंग भी हैं। कई ऐसी प्रवृत्तियां भी प्रगट हुईं जो जन-स्वातंत्र्य के लिए खतरा है किन्तु एकता का माहौल इतना सबल था कि उनकी आवाज एकदम दब गई। मानहानि विधेयक ऐसे ही एकदम सरलता से, लोकतांत्रिक भावना के वशीभूत होकर वापस नहीं लिया गया। देशवासियों को गुमराह करने, पत्रकारों, संपादकों और बुद्धिजीवियों में फूट डालकर विचार स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति की आजादी की रक्षा के अभियान को तोड़ने का

प्रयास किया गया। इस स्वातंत्र्य अभियान को पथभ्रष्ट करने के लिए सरकारी पत्रकारों को माध्यम बनाकर इसमें वेतन और बछावत आयोग की सिफारिशों के मुद्दों को भी जोड़ने का जाल रखा गया कि पत्रकारों और मालिकों में झगड़ा हो। अखबारों के मालिकों पर दबाव डाला गया, संपादकों को खरीदने की कोशिश की गई, नया बुद्धिजीवी वर्ग बनाकर मानहानि विधेयक समर्थक वातावरण बनाने का प्रयास किया गया। मनुहार और प्रेम का प्रदर्शन भी किया गया लेकिन सब कुछ नाकाम और सब कुछ बेमानी सिद्ध हुआ। क्यों? केवल इसलिए कि लोकतंत्र और आजादी सौदेबाजी ओर लेन-देन की वस्तु नहीं है। लोकतंत्र किसी व्यक्ति विशेष के संकेत पर नहीं चलता,किसी दल और नेता का हितसाधन करना इसका चरित्र नहीं है। यह भय का निषेध करता है क्योंकि आजादी की पहली शर्त है निर्भयता और उत्सर्ग। इसी बीच देशवासी निर्भय बने रहें, उत्सर्ग के लिए तैयारी करते रहें।

आदि और अन्त

मानहानि विधेयक का आदि से अन्त तक का जायजा क्या है? प्रधानमंत्री और उनके नवरत्न दरबारियों ने विधेयक का स्वागत करके बहुमत के बल पर उसे लोकसभा मे पारित किया। राजीव और उनकी सरकार का तौर-तरीका देखा, उनके गर्हित इरादों का आभास हुआ तो राजपथ पर आकर खड़ा हो गया। राजीव ने समझा कि यह मात्र बन्दर घुड़की है। वे घुड़के, 'मुझे पूरा विश्वास है कि मानहानि विधेयक उचित है। यह उचित दिशा में एक उचित कदम है। समाचार पत्रों, विचार-स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति की आजादी के साथ-साथ व्यक्ति स्वातंत्र्य और उसके सम्मान की रक्षा करनी है।' जब और दबाव बढ़ा तो बोले कि, 'पत्रकारों और वकीलों ने विधेयक ठीक से पढ़ा ही नहीं, उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो आपत्तिजनक हो।'

फिर बोले, 'इस विधेयक को लोकसभा में पारित कराने के पहले इस पर लम्बी बहस की गई थी। लोकसभा में भी नौ घंटे चर्चा हुई। इसमें विपक्ष का संशोधन शामिल किया। यह विधेयक प्रेस परिषद और प्रेस आयोग की राय पर आधारित है। किन्तु प्रेस परिषद के अध्यक्ष न्यायमूर्ति ए० एन० सेन ने भांडा फोड़ दिया। उन्होंने दो बार वक्तव्य दिया कि मानहानि विधेयक के विषय में उनसे किसी भी स्तर पर विचार विमर्श नहीं किया गया। प्रेस आयोग ने भी ऐसी कोई सिफारिश नहीं की थी। सम्पादकों और न्यायविदों ने फटकारा कि 'असत्य भाषण मत करो। हमसे किसी भी स्तर पर पूछा नहीं गया।' तब राजीव पहुंचे कांग्रेसी कार्यशाला में। बोले, 'मानहानि विधेयक तो ठीक है, किन्तु सरकार ने फैसला किया है कि वह इस पर राष्ट्रीय बहस चलाएगी। इसे अब राज्य सभा में पेश नहीं किया जाएगा। सात मंत्रियों की मंत्रिमण्डलीय समिति बना रहा हूं, जिसे कुछ कहना हो इस समिति से कहे।'

संपादकों और पत्रकारों की समन्वय समिति ने मंत्रिमंडलीय समिति से बात करने से साफ इन्कार कर दिया कि, 'पहले वह विधेयक वापस लो, फिर बात करेंगे।

विधेयक में एक दो धाराओं को संशोधित करने का प्रश्न नहीं है, यह पूरा विधेयक लोकतांत्रिक मान्यताओं पर कुठाराघात करता है।'

प्रधानमंत्री जनप्लावन का हवाई दर्शन करने असम गए। गुवाहाटी में पत्रकारों से बात की। बोले, 'मानहानि विधेयक को पत्रकारों ने प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया है। उन्हें मंत्रिमंडलीय समिति से बात करनी चाहिए।' फिर विमान पर चढ़ते-चढ़ते बोले, 'यह मेरी प्रतिष्ठा का प्रश्न है, विधेयक वापस नहीं होगा। हमें हुकूमत चलानी है।'

पंजाब गए तो पत्रकारों के गलियारे में घुस गए। उनकी बाहों पर काली पट्टी देखकर पूछा, 'यह सब क्या है?' जवाब मिला, 'मानहानि विधेयक का विरोध।' बोले, 'आप लोग बातचीत क्यों नहीं करते?' बात आगे बढ़ती कि इसी बीच राजीव जिन्दाबाद' के नारों ने बाधा पैदा कर दी। प्रधानमंत्री दूसरी ओर चले गए।

मुख्यमंत्रियों और मंत्रियों के पत्रकार सम्मेलनों का बहिष्कार जारी रहा, प्रदर्शनों और गोष्ठियों का जोर बढ़ने लगा। हस्ताक्षर अभियान में लोग शामिल होने लगे। एक सहज, व्यापक और गंभीर राष्ट्रीय बहस चली। मानहानि विधेयक की पंक्ति-पंक्ति का भाष्य किया गया। राजीव का इरादा पूरी तरह उघड़ गया तो बूढ़े और जवान इन्दिरा कांग्रेसी घबड़ाए। कुछ कांग्रेसियों ने खुले में तो कुछ ने दबी जुबान और कुछ मुख्यमंत्रियों ने एकान्त में कहना शुरू किया, 'प्रधानमंत्री को चाहिए कि विधेयक वापस ले लें, यह कांग्रेस और लोकतंत्र की परम्परा के विरुद्ध है।' कमलापति त्रिपाठी ने विधेयक के विरुद्ध पत्र लिखा। पत्रकार सम्मेलन किया। राष्ट्रपति दुःखी, उपराष्ट्रपति परेशान और प्रधानमंत्री अपनी जिद पर अटल रहा कि 'विधेयक पारित कराकर ही रहेंगे।'

किन्तु यह जिद बनावटी थी। जनबल का दबाव इतना अधिक था कि सत्तारूढ़ दल में नेतृत्व परिवर्तन की खुशफुश शुरू हो गई। बहाना खोजा जाने लगा कि विधेयक सम्मान पूर्वक कैसे वापस ले लिया जाए? इस लेखक से भी संपर्क साधा गया कि वह अपने संपादक मित्रों को समझाए कि वे मंत्रिमडलीय समिति से बात करने आयें या प्रधानमंत्री से औपचारिक तौर पर मिलकर यह अनुरोध करें कि लोकतंत्र के हित में विधेयक वापस ले लीजिए।' तो वे यह विधेयक तत्काल वापस लेने की घोषणा कर देंगे। किन्तु इससे भी बात नहीं बनी तो कुछ नकली, कुछ असली, कुछ सरकारी और कुछ इन्दिरा कांग्रेसी संपादकों को तैयार किया गया कि वे मंत्रिमंडलीय समिति के सामने पेश होकर विधेयक की वापसी का अनुरोध करें। कुछ संपादक समिति के पास गए। कहते हैं कि वे विधेयक के विरोध में बोले। विधेयक को वापस लेने ओर मानहानि के विषय पर राष्ट्रीय बहस कराने का अनुरोध किया। इसके तत्काल बाद मंत्रिमंडलीय लम्बी बैठक हुई। लोकतंत्र और विचार स्वातंत्र्य के प्रति अपनी निष्ठा और प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते हुए प्रधानमंत्री की ओर से एक वक्तव्य जारी किया गया कि इस विधेयक को कानून का रूप नहीं दिया जायगा। किन्तु

राष्ट्रीय बहस जारी रहेगी। मानहानि विधेयक कानून नहीं बनेगा, मानहानि का प्रश्न जिन्दा है।' यह कोई नई कोई बात नहीं है। मानहानि का प्रश्न तब तक जिन्दा रहेगा और जिन्दा रहना भी चाहिए, जब तक मान-सम्मान वाले व्यक्ति रहेंगे। नंगों का क्या मान और क्या सम्मान? 'नंग बड़ा भगवान से।' क्या यह कुछ कम बात है कि नंगों से अपनी आजादी का सम्मान बचा लिया देश की जनता ने? सचमुच वह बधाई की पात्र है, आभार प्रदान करने योग्य है।

इंदिरा कांग्रेसियों का चरित्र

मानहानि विधेयक ने राजीव का ही नहीं समस्त इंदिरा कांग्रेसियों और सरकार का भी चरित्र पूरी तरह उघाड़कर रख दिया। पहले विधेयक का समर्थन किया, फिर विरोध दिखाई दिया तो उससे कतराए, राजीव की आलोचना और अनुरोध शुरू किया, विधेयक वापस लिया गया तो उन्हीं राजीव की लोकतांत्रिक संवेदना की सराहना का सेतु बांध दिया।

इन्दिरा कांग्रेसियों के इस चरित्र का सही शब्दांकन करने के लिए एक कथा बताता हूं। एक गांव में एक भेड़िया नित्य आता था। उनकी भेड़-बकरियां खा जाता था। लोग घात में थे कि कब अवसर मिले, कब उसे मार डालें एक रात अंधेरे में एक गली में उन्हें एक पशु दिखाई दिया। ग्रामवासी लाठी, डंडा, लेकर उस पर टूट पड़े। उसे मार डाला। सभी अपने-अपने पौरुष का बखान करने लगे कि आखिरी लाठी उन्हीं ने मारी। उन्हीं के आखिरी प्रहार से भेड़िए के प्राण गए। किन्तु सबेरा हुआ तो देखा कि गली में भेड़िया नहीं, एक गाय मरी पड़ी थी। सभी एक-एक करके खिसकने लगे। तलाश की जाने लगी कि गाय किस की लाठी से मरी। किसके आखिरी प्रहार ने गाय के प्राण लिए? गौहत्या करने का पाप किसने किया? रात के सूरमा सबेरा होते ही गायब हो गए। मरी गाय गली में सड़ती रही। उसे उठाने के लिए भी कोई तैयार नहीं था।

इन्दिरा कांग्रेसियों ने भी ऐसा ही किया। पहले जनस्वातंत्र्य पर घात लगा कर मानहानि विधेयक बनवाया, लोकतंत्र और व्यक्ति स्वातंत्र्य की रक्षा करने के नाम पर छापामार तरीके से उसे लोकसभा में पास कराया, जन प्रतिक्रिया विपरीत दिखाई दी तो मंत्री से लेकर सांसद तक बगलें झांकने लगे कि वे कुछ भी नहीं जानते, उन्हें कुछ भी पता नहीं कि यह सब कैसे हो गया? मानहानि विधेयक अवैध शिशु की तरह बेसहारा पड़ा रहा।

राजीव की दयनीय दशा

और राजीव? राजीव की दशा का दर्शन कराने के लिए एक और कथा बताता हूं। एक न्यायालय ने किसी अपराधी को सजा दी कि 'उसे सौ जूते मारे जाएं या सौ

प्याज खाने को कहा जाए। इन दोनों में से जिसका चाहे वह चुनाव कर ले।' अपराधी ने सौ प्याज खाना स्वीकार किया। प्याज लाई गई। अभी वह पच्चीस प्याज ही खा पाया था कि परेशान हो गया। सोचा शायद सौ जूते अधिक आसान हो। बोला, 'मैं प्याज नहीं खाऊंगा, मुझे सौ जूते मार लो।' जूते मारने शुरू हुए तो पच्चीस जूतों के बाद बोला, 'जूतों की मार नहीं, मैं सौ प्याज खाऊंगा।' पच्चीस प्याज और फिर पच्चीस जूतों का यह क्रम सौ की संख्या पूरी होने तक चलता रहा। अन्त में हिसाब यह बैठा कि उसने सौ प्याज भी खाई और उस पर सौ जूते भी पड़े।

राजीव द्वारा पहले मानहानि विधेयक को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाया जाना। उसमें अपना विश्वास व्यक्त करना, उसे राज्यसभा में पेश न करके राष्ट्रीय बहस चलाने की बात, मंत्रिमंडलीय समिति का गठन, विधेयक वापस लेने के लिए किसी बहाने की तलाश, अपने वफादार संपादकों तक की मनुहार कि वे उन से मिलने आयें, विधेयक वापस लेने का अनुरोध करें, एक के बाद दूसरा झूठ, एक के बाद दूसरी बदनामी, लोकतंत्र का दुश्मन होने का आरोप और फिर विधेयक की वापसी। यह कार्य पहले भी हो सकता था। यदि राजीव में लोकतांत्रिक संवेदनशीलता होती तो वे यह विधेयक बनवाते ही नहीं, या फिर लोकसभा में इस के पारित होते ही विपरीत जन-प्रतिक्रिया को भांप कर उसे तत्काल वापस ले लेते। इतने पत्थर पड़ने के बाद उनको अक्ल तो आई, किन्तु लोकतंत्र को अपना बंधक बनाकर रखने के अपने दूषित इरादो को उजागर करके। इस प्रसंग के कारण जनतंत्र के इतिहास में जनचेतना की विजय का एक गौरवपूर्ण अध्याय अवश्य जुड़ा किन्तु राजीव के कारनामों का उल्लेख इन सुनहरे अक्षरों के बीच काले अक्षरों में ही किया जाएगा। इन्दिरा कांग्रेसी, राजीव के बालसखा और राजनीतिक गुमाश्ते उनकी इस अलोकतांत्रिक हरकत पर चाहे जितनी चमकदार मुलम्मेबाजी करें, किन्तु अब तो बात फैल गई जाने सब कोई?

बधाई क्यों?

राजीव को बधाई केवल इसलिए दी जानी चाहिए कि वे देशवासियों के अपने हैं और उन्होंने अपनी गलती मान ली। लेकिन इसका मतलब उन्हें यह नहीं लगाना चाहिए कि उन्होंने देशवासियों का खोया विश्वास पुनः प्राप्त कर लिया है। अपने चुने हुए सेवक को अपनी आजादी का खजाना लूटते देशवासियों ने इस बार रंगे हाथों में पकड़ा है अब वे जनता की हिरासत में हैं उनका मामला अभी भी जन-न्यायालय में है अंतिम निर्णय अभी शेष है। यदि राजीव ने अपने शुद्ध चरित्र और असंदिग्ध ईमानदारी का कोई सटीक और पुष्ट प्रमाण न दिया तो जनता उन्हें अपनी सेवा से मुक्त करने का फैसला कर सकती है।

9 अक्तूबर 1988

और कोई मार्ग नहीं है भाई

डाक्टर एनीबेसेन्ट से एक बार किसी ने पूछा, 'क्या आप बताएंगी कि विश्व के पुराने ओर नए देशों में भारत का वैशिष्ट्य क्या है?' वे बोलीं, 'भगवान ने भारत को जो दिया, वह किसी भी देश को नहीं दिया। किन्तु जो कुछ दूसरे देशों को दिया वह सब भारत को दिया है। परमेश्वर ने यूनान को सौदर्य, रोम की विधि, इजराइल को मजहब और भारत को एक ऐसा धर्म प्रदान किया जिसमें समस्त सृष्टि का योग क्षेम और प्राणीमात्र को धारण करने की शक्ति है। सौंदर्य, विधि, न्याय, पंथ-संप्रदाय, कर्मकाण्ड, वांग्मय, आदर्श, मर्यादा, सब कुछ उस धर्म में समाहित है। इसलिए यदि कोई समस्त संसार को ईश्वरीय देन को किसी एक भूमि पर पूंजीभूत देखना चाहता है तो उसे भारत की धरती पर जाना होगा।'

मैक्समूलर की साक्षी

डाक्टर एनीबेसेन्ट की इस अनुभूति को और अधिक अर्थवान बनाया जर्मनी के विद्वान मैक्समूलर ने। अनेक वर्ष बाद भारत में रहकर वेदों, उपनिषदों का अध्ययन और यहां के हिन्दू जीवन की सहजता का साक्षात्कार करने के बाद उन्होंने लिखा, यदि कोई मुझसे पूछे कि इस आकाश के नीचे वह स्थान कौन-सा है जहां मानव मानस का अपूर्व, अलौकिक और पूर्ण विकास हुआ है, जहां मानव-जीवन की गहनतम गुत्थियों को सुलझाया ओर समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है, प्लेटो और कान्ट के भक्त भी जिसकी सराहना किए बिना नहीं रहेंगे, तो मैं असंदिग्ध रूप से कहूंगा कि वह स्थान भारत है। और यदि कोई मुझसे पूछे कि वह वांग्मय प्रदान करने वाला देश कौन सा है जो हमारे अन्तरमन और जीवन को पूर्ण, सर्वव्यापी, वैश्विक और मानवीय बनाता है, जो जीवन का भौतिक रूप ही नहीं निखारता जो उसे अनादि, अनन्त और सनातन जीवन में रूपान्तरित भी कर देता है। तो मैं पुनः भारत की ओर ही संकेत करूंगा।'

निवेदिता का निर्देश

आयरिश कन्या भगिनी निवेदिता ने अपने भाव पत्र पर भारत का शब्दचित्र कुछ इस प्रकार बनाया कि 'भारत-भूमि विश्व भर में सर्वथा विशिष्ट और भिन्न है। इसके

कण-कण में परमेश्वर की पवित्रता विशेष रूप से व्याप्त है। यह धर्म की भूमि है। यहां धर्म शरीर धारण करके अवतरित होता है। धर्मभूमि भारत की गति के साथ सृष्टि गतिमान होती है। इसकी प्रज्ञा महिमामयी मानवीयता की प्रज्ञा है। यहां के ऋषियों ने एक बहुआयामी है। यहां भौतिकता आध्यात्मिकता की चेरी है। ईश्वर ने दुनिया के दूसरे देशों को केवल उपासना पद्धति और कर्मकाण्ड दिया, धर्म केवल भारत को दिया है। दुनिया के देश कुछ उपदेशों और उपासना पद्धतियों के उत्तराधिकारी हैं, किन्तु भारत धर्म की धुरी है। वहां जीव और ब्रह्म अभेद है।'

ऐस तत्वज्ञान का दर्शन किया है जिसमें समस्त जड़-चेतन समाया हुआ है और जिसकी अनुभूति और कल्पना से संपूर्ण संसार वंचित है। भारत जगदगुरूहै। विश्व इसका शिष्य है। भारत भूमि पर जन्मा है हिन्दू जीवन-दर्शन। परमहंस रामकृष्ण देव ने मनुष्य और ईश्वर में अन्तर ही नहीं माना। उन्होंने फटकारा, 'अरे ओ, प्राणियों पर दया करने वाले मनुष्य, सुन! जीवों पर दया की वर्षा करने वाला तू कौन होता है? जो स्वयं शिव है उसे अकिंचन जीव मानकर उस पर दया दिखाने का पापकर्म क्यों करता है ? प्राणीमात्र प्रत्यक्ष परमात्मा है, उसकी सेवा करो और उसका उपकार मानो कि अकिंचन ओर भूखा बनकर तुम्हें उसने सेवा करने का अवसर प्रदान किया। अतः दयापूर्वक नहीं, श्रद्धासिक्त पवित्र हृदय से उसकी सेवा करके अपना जीवन धन्य कर। दरिद्र को देवता मान, वही नारायण है।

रामकृष्णदेव के परमशिष्य स्वामी विवेकानन्द ने मानव सेवा को ही ईश्वर सेवा कहा। भूखे और कंगालों को उन्होंने भी दरिद्रनारायण की संज्ञा प्रदान की। बोले, 'जब तक एक कुत्ता भी भूखा है तब तक अपना पेट भरना अपराध है। दीन-हीन, दुखी, दरिद्र भारतवासी हमारा अपना भाई है। सभी अपने हैं तो भेद कैसा? जो परमात्मा है वही जीव की आत्मा भी है, वही धर्म रूप है।'

भारत के जीवन-दर्शन के संबंध में देशी-विदेशी महापुरुषों के इतने उद्धरण और सुभाषित, आदर्श और आचरण के इतने ज्वलंत उदाहरण उपलब्ध हैं कि उनमें से किसी एक को ही आधार मानकर आचरण करने में लग जायं तो भारत ही नहीं, संपूर्ण संसार संकटमुक्त हो सकता है।

किन्तु ?

किन्तु हुआ क्या? जितना ऊंचा आदर्श उतना ही नीचा आचरण। जितनी एकात्म अनुभूति, उतनी ही भेदभरी दृष्टि। जितने महान पूर्वजों के वारिस, उतना ही तुच्छ चरित्र। दुनिया में सर्वश्रेष्ठ भारत की यह विलोम गति क्यों है? वह अपने आभामय अतीत से घबड़ाता क्यों है? अपने यथार्थ को स्वीकार क्यों नहीं करता?

गत वर्ष गंगोत्री की यात्रा के समय मुरारी बापू की रामकथा सुनी। उनसे भेंट हुई तो बातों-बातों मे हम भारत के गौरवशाली अतीत से जा जुड़े। अतीत के भारत

का उन्होंने ऐसा अद्भुत वर्णन किया कि मन भर आया। किन्तु वह सब परीकथा सा लगा। उसका शतांश भी आज के भारत में कहीं देखने को नहीं मिलता। मैंने सहज ही पूछा, 'मैक्समूलर, एनीबेसेंट, रामकृष्ण देव, विवेकानन्द सहित अनेक ऋषि, तपस्वी, दार्शनिक, विद्वान कवि, लेखक और आप जैसे लोग जिस महिमामय भारत का वर्णन करते नहीं अघाते, वह भारत कहां है?'

भगवान का कोप

पहले तो वे कुछ विचलित हुए। फिर बोले, 'भगवान का कोप है। भगवान ने यहां के हिन्दुओं पर क्रूर प्रहार किया। विदेशी गुलामी की यातनामय भट्ठी में डाल दिया। भारत एक बार भटका तो भटकता चला गया। हजार फुट की ऊंचाई, हजार फुट नीची भी तो होती है। वह अपने सर्वोच्च से फिसला तो अतल तल में जा गिरा। उसका स्वावलंबी सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन परजीवी बनता गया। उसकी अपनी अस्मिता स्वयं उसके लिए संदिग्ध और भ्रांतिपूर्ण हो गई। वह अपना महान अतीत तो भूला ही, यह भूल गया कि कभी उसका एक स्वस्थ, संपन्न राष्ट्रीय परिवार भी था। उसे यह स्मरण की नहीं रहा कि उसके हिन्दू जीवन का कुछ वैशिष्ट्य है और यह कि ईश्वर ने सृष्टि, प्रकृति ओर मानवता के प्रति उनको कुछ विशेष दायित्व सौंपकर इस धरती पर भेजा है। हिन्दुओं की पथभ्रष्टता और विस्मृति ने उन्हें अपने ही रक्त के बंधुओं और अपने ही पूर्वजों के वीर्याशों के विरुद्ध खड़ा कर दिया। अपने महान आदर्शों को भूले तो तुच्छ व्यवहार अपरिहार्य हो गया जो विदेशी कभी अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करने भारत आते थे, वे भारत के गुरू बन गए। उन्होंने हमें गुमराह किया तो हमने गर्व से उसे स्वीकार कर लिया। अब हमें अपने उज्जवल अतीत पर भी लज्जा आती है। हम यह जानना और बताना ही नहीं चाहते कि हम कौन हैं? हमारा जीवनोद्देश्य क्या है ? हमें क्या बनना और क्या बनाना है? जिस दिन वर्तमान भारत का राष्ट्रीय समाज इन प्रश्नों का उत्तर पा लेगा या इन प्रश्नों का उत्तर तलाशने की जिज्ञासा उसके मन में जागृत होगी, भारत अपना ईश्वर प्रदत्त स्वरूप धारण करना प्रारम्भ कर देगा। भारत की प्रतिभा और प्रतिभा को खण्डित करने का दोष दूसरों को नहीं दिया जा सकता। इसके दोषी वे हैं जो स्वयं को भूल गए है और जो स्वयं का सत्य स्वीकार करने से कतराते हैं।

अर्थात् यदि भारत देश के वासी अपने राष्ट्रीय परिवार को पहचान लें, उनमें आन्तरिक एकात्मकता की अनुभूति जागे, समान रक्त और वीर्य का बोध जागृत हो जाय तो फिर सवर्ण-अवर्ण, स्पृश्य, अस्पृश्य का भेद नहीं होगा। तो फिर नक्सली हत्याकांड के सभी कारण समाप्त हो जायेंगे। तब एक खाएगा और शेष भूखे नहीं मरेंगे। तब एक देश की धरती पर दो अलग-अलग प्रकार के लोग, परिवार ओर देश नहीं होंगे, तब रामकृष्ण परमहंस मनुष्य जीव को शिव मानेगा, वह किसी अकिंचन की

सेवा उपकार नहीं, कृतज्ञ भाव से करेगा। तब 'मानव सेवा, ईश्वर सेवा' बताने के लिए किसी बुद्ध या विवेकानन्द के जन्म की जरूरत नहीं होगी, तब किसी गांधी को भंगी बस्ती में निवास करके यह नहीं कहना पड़ेगा कि 'अस्पृश्यता मानवता और ईश्वर के प्रति अपराध है', तब अमीर-गरीब क बीच की खाई इतनी चौड़ी और गहरी नहीं होगी कि एक ही समाज और राष्ट्र के बंधु दो अलग-अलग राष्ट्रों के नागरिक जैसे दिखाई दें, तब शिक्षा, ज्ञान और उपासना किसी वर्ग विशेष की बपौती नहीं होगी, तब समाजार्थिक अलगाव और भिन्नता भरभरा कर धराशायी हो जायेगी।

यह सच है कि अभी यह सब कल्पित कथा सी लगती होगी किन्तु यह कल्पना नहीं, यथार्थ है। आदर्श अपने आसन से च्युत हो जाता है तो जिंदगी बंजर हो जाती है। बंजर भूमि बांझ होती है। उसमें कुछ भी पैदा नहीं होता। आदर्श का अमृत होना उसकी यथार्थता को नकारता नहीं, मनुष्य की प्रज्ञा और शक्ति को ललकारता है कि यदि तुममें दम हो तो मुझे पालो, मुझे प्राप्त करके दिखाओ कि तुम वह जीव हो, जो मनुष्य के रूप मे ईश्वरत्व को प्राप्त करने के लिए पैदा हुआ है, जो सृष्टिकर्ता की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

दोषी कौन ?

दोष उनका नहीं, जिन्होने आदर्श स्थापित किया, मर्यादाएं बनायीं, चरित्र की महिमा बतायी। दोष उनका है जो अपने उत्तराधिकार का दायित्व वहन नही कर पा रहे हैं। चन्द्रमा, मंगलग्रह और गौरीशंकर के शिखर पर यदि हम नही चढ़ सकते तो इससे चन्द्रमा, मंगलग्रह और गौरीशंकर का न होना सिद्ध नहीं होता, न उसकी ऊंचाई की यथार्थता समाप्त होती है। और न उससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग वहां अपने पर छाप छोड़ आए हैं, अपना झण्डा गाड़ आए हैं, वे यहां गए ही नहीं या वे मनुष्य की पहुंच के परे हैं? आदर्शों में अद्भुत शक्ति और अपराजेय प्रेरणा होती है। आदर्श मनुष्य को महान बनाते हैं आदर्श कि बिना भौतिक प्रगति तो हो सकती है किन्तु मनुष्य जीवन का अभीष्ट प्राप्त नही किया जा सकता। विज्ञान और तकनीकी ज्ञान रेलगाड़ी और विमान की गति बढ़ा सकते हैं, सर्जक और मारक यंत्र बना सकते हैं किसी समाज और राष्ट्र की चेतना को जागृत करके आदर्श के बीज नहीं बो सकते। व्यक्ति जब ऊंचे आदर्श से जुड़ता है तो ही उसका जीवन उदात्त बनता है।

छागला का अनुभव

भारत के पूर्व केन्द्रीय मंत्री और न्यायविद् स्वर्गीय श्री करीमभाई छागला एक बार अपनी रूस यात्रा से वापस आए तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघचालक स्वर्गीय श्रीगुरूजी उनसे मिले गए। दोनों के बीच काफी देर तक बातें हुईं। श्रीगुरूजी ने उनसे पूछा, 'छागला जी! आपको भारत और रूस में क्या अंतर

दिखाई दिया?' उत्तर में छागला ने एक घटता सुनाई कि वे मास्को में एक खेल के मैदान में गए। वहां खेल रहे युवकों से पूछा, 'तुम प्रतिदिन कितने घंटे यहां खेलते और व्यायाम करते हो?' उत्तर मिला, 'छह-सात घंटे।' छागला आश्चर्य से भर उठे', 'इतना समय खेल पर क्यों खर्च करते हो भाई?' जवाब मिला, 'दुनिया के देशों में अपने देश की शान बढ़ाने के लिए। हम चाहते हैं कि हमारा देश हर खेल में विजय प्राप्त करे।' अर्थात् वहां का हर व्यक्ति खेल के मैदान से लेकर विज्ञान की प्रयोगशाला तक में अपने देश के लिए खेलता ओर शोध करता हुआ मिला। यही हाल अमरीका, जापान, जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड आदि का भी है। देश पहले, व्यक्ति बाद में।

और हमारे यहां।

हमारे यहां अभी भी यह बताना पड़ता है कि हमारा देश कौन सा है? उसका राष्ट्रीय समाज कौन सा है? उसका राष्ट्रीय इतिहास क्या है? उसके राष्ट्रीय महापुरुष कौन हैं? उसका आदि और अतीत क्या है? हमारे यहां देशभक्ति सहज नहीं, असामान्य बात है। जिस देश के निवासियों को देशभक्ति की प्राथमिक शिक्षा देनी पड़े, जहां देशभक्ति सामान्य नहीं, विशिष्ट बात हो, जहां देश की एकता और अखण्डता का अनुष्ठान उद्यापित होने का नाम ही नहीं लेता, वहां के निवासी किसी उदात्त आदर्श और देश के लिए जिएं मरें, क्या यह सहज संभव है?

गुण-दोष

मानवीय दोषों को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु मानवीय गुणों की स्थापना और संस्कारों को ग्रहण तो करना ही चाहिए। भगवान ने कृपा करके भारत को जो धर्म वैशिष्ट्य प्रदान किया है वह परपीड़न को अधर्म कर्म बताता है। उसने परहित के समान दूसरा कोई सत्कर्म ओर धर्म नहीं माना। धर्म-अधर्म का यह भेद मानने का अर्थ है अपने जीवन कर्म से जुड़ना। पाप-पुण्य की प्रतीति का निष्कर्ष है अपने आसपास के लोगों के सुःख-दुःख में समान बंटवारा होने लगता है तो सामूहिक और सामाजिक भाव का उदय होता है। सामूहिक और सामाजिक हिताहित बोध में से नारायणी शक्ति उत्पन्न होती है। यही शक्ति जब व्यक्ति को उनकी निजता से निकालकर उसे परिवार, समाज, राष्ट्र विश्व, ब्रह्माण्ड और सृष्टिगत सनातन सत्य से जोड़ती है तो जिस बिन्दु से उनकी जीवन यात्रा आरम्भ होती है एक दिन उसी बिन्दू पर आकर उसका समापन भी होता है। जीवन-यात्रा के आरंभ और अन्त में संगम का यह दर्शन विश्व को भारत की विशिष्ट देन है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

अगर आदर्श से जुड़े जीवन का प्रत्यक्ष उदाहरण चाहिए तो पच्चीस लाख की

आबादी वाले बाली द्वीप में जाकर देख लें वह भी तीसरी ओर विकासशील दुनिया का अंग ओर अंश है। हिन्दू समाज वहां बहुमत में है। अभी तक उन्हें यह पता नही हैं कि चोरी क्या होती है। वहां दरवाजों पर ताले नहीं लगते। बलात्कार, अपहरण और नारी के प्रति दुर्भाव वहा दिखाई नही देता। अमीर-गरीब हैं, लेकिन किसी के धन का प्रभाव किसी के धन के अभाव को नंगा नहीं करता। क्यों? केवल इसलिए कि उन्हें सुकर्म-कुकर्म का बोध है, उनके मन में यह बात बड़ी मजबूती से बैठी हुई है कि यदि इस जीवन में कोई बुरा कर्म करेंगे तो अगले जन्म में उसका दण्ड भोगना पड़ेगा। यदि परलोक सुधारना है तो इहलोक को शुद्ध करना आवश्यक है। लोक-परलोक, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म की प्रवृत्ति, प्रकृति और परिणाम से वे परिचित हैं। वे अपना न्याय स्वयं कर लेते हैं न्यायालय है, पुलिस की व्यवस्था है। लेकिन उपयोग न के बराबर है। यह व्यवस्था केवल उन कुछ लोगों के लिए है जो समाज धर्म से च्युत हो जाते हैं। इन सबका अपवाद होना ही किसी सुसंस्कृत समाज की पहचान है। वे आधुनिक भी हैं और सुसंस्कृत भी।

वे देशभक्त हैं, पर भ्रष्ट क्यों हैं

कुछ लोग कहेंगे कि दुनिया के जो लोग अपने देश के साथ पूरी तरह से जुड़े हैं क्या वहां भ्रष्टाचार, चोरी, लूट, हत्या-हिंसा, बलात्कार नही होते? क्या वहां चरित्रहीन नही पाये जाते? पाये जाते हैं और इतनी अधिक मात्रा मे पाये जाते हैं कि मानों चरित्रहीनता ही उनका चरित्र हो? किन्तु ऐसा इसलिए है कि देशभक्त होने के बावजूद वे केवल धन से जुड़े हैं धर्म से नहीं,। केवल भौतिकता से जुड़े हैं भगवान से नहीं। केवल भोग, संभोग और शरीर से जुड़े हैं त्याग, यज्ञ और सृष्टि की मंगलमयता से नहीं। उनके चर्च बिक रहे हैं उनकी बाइबिल पर धूल जम रही है। उनके ईसा संदर्भहीन हो रहे हैं उनके पास विज्ञान है किन्तु उन्हें मनुष्य में निहित ईश्वरीय सत्ता पवित्रता और परमात्म तत्व का ज्ञान नहीं है। उनके पास गति है, दृष्टि और दिशा नहीं है। जिन्दगी है किन्तु जीवनोद्देश्य नहीं है। यही कारण है कि वे चन्द्रमा पर तो चले जाते हैं किन्तु मंगलमय विश्व के निर्माण में अपना अपेक्षित योगदान नहीं कर पा रहे हैं। अपने उत्पाद को खपाने क लिए वे केवल उपभोक्ता की तलाश करते रहते हैं। उपयोगिता और उपभोक्तावाद श्रेष्ठ मनुष्य जीवन का आधार नहीं बन सकता। श्रेष्ठ मनुष्य और मंगलमय विश्व का आधार डाक्टर एनीबेसेण्ट, परमहंस रामकृष्ण देव, निवेदिता और विवेकानन्द बता गए हैं। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है भाई।

16 अक्तूबर 1988

चीनी इरादा और भारत का संकल्प

प्रधानमंत्री राजीव गांधी सितम्बर में चीन की यात्रा पर जाने वाले हैं उनकी यात्रा के पूर्व सचिव के नेतृत्व में एक उच्चस्तरीय प्रतिनिधि मण्डल चीन हो आया है।

पार्श्व भूमि

पहले चीन के बीच विवाद की पार्श्वभूमि समझ लें। 20 अक्तूबर को भारत पर चीनी आक्रमण को छब्बीस वर्ष पूरे हो जायेंगे। इस बीच देश की एक पीढ़ी युवा हो गई है। तबके 18 वर्ष के तरुण राजीव भारत के प्रधानमंत्री बन गए। चीन ने भारत की जितनी भूमि तब दबा ली थी वह तो अभी तक उसके कब्जे में है ही, अरुणाचल प्रदेश के समुद्रांग-चू-घाटी पर भी अपना अधिकार जमा लिया है।

भारत-चीन के संबंधों मे तनाव आना चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के तुरंत बाद शुरू हो गया था। इसकी शुरूआत हुई तिब्बत में चीन सेना के प्रवेश से। 'साम्राज्यवादी दमन' से मुक्त कराने के लिए 7 अक्तूबर, 1950 को चीन की जनमुक्ति सेना ने तिब्बत में प्रवेश किया। 23 मई, 1950 को चीन के चाऊ-एन-लाई ने तिब्बत पर पूर्ण सत्ताधिकार प्राप्त करने क लिए सत्रह सूत्रीय समझौता प्रस्ताव प्रसारित किया। 28 जून, 1954 को भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और चाऊ-एन-लाई ने पंचशील और सह-अस्तित्व समझौते पर हस्ताक्षर किए। 10 मार्च, 1959 को चीनी आक्रमण के विरुद्ध तिब्बती जनता का विद्रोह, 19 से 23 मार्च, 1959 तक चीनी सेना द्वारा तिब्बत में कम्युनिस्ट चीन विरोधी विद्रोह का दमन और तिब्बती धर्मगुरू दलाईलामा का भारत में पलायन। 28 अगस्त, 1959 को नेहरू जी द्वारा लोकसभा को उत्तर-पूर्व सीमा क्षेत्र में चीनी सेना के अतिक्रमण की सूचना। 2 अक्तूबर, 1959 को लद्दाख में भारत-चीन सीमा पर चीनी अतिक्रमण। 7 नवंबर, 1959 भारत-चीन सीमा पर एक असैनिक क्षेत्र बनाने के लिए चाऊ-एन-लाई द्वारा नेहरू जी के समक्ष प्रस्ताव। 18 दिसंबर, 1959 को भारत-चीन सीमा विवाद को संयमित करने के लिए चाऊ-एन-लाई द्वारा 26 दिसंबर को नेहरू जी से वार्ता के प्रस्ताव। प्रस्ताव को नेहरू जी ने 'उपयुक्त समय' पर बात करने की घोषणा करके टाल दिया। 25 अप्रैल, 1960 को भारत-चीन सीमा निर्धारण विषयक चाऊ-एन-लाई नेहरू वार्ता का विच्छेद। 20 अक्तूबर, 1962 को चीन का भारत पर पूर्ण आक्रमण, भारत की पराजय और 20

अक्तूबर, 1962 को एकाकी युद्ध-विराम की घोषणा।

तब से लेकर अब तक वार्ताओं का दौर चल रहा है। टूटा राजनयिक संबंध जुड़ गया है, लेकिन सीमा-विवाद के सुलझने का कोई निश्चित संकेत नहीं मिला है। भारत की सुरक्षा और सार्वभौमिकता पर खतरा बना हुआ है। चीन ओर पाकिस्तान की युति के कारण भारत के पश्चिमी-उत्तर और उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र पर एक साथ खतरा बना हुआ है। हो सकता है कि अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण भारत पर ये दोनों पड़ोसी हमला न करें लेकिन हमले की तलवार लटकाकर तो रखी ही है।

भारत-चीन संबंधों का चरित्र

पचास के दशक में भारत-चीन संबंधों का चरित्र 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' की सुखभ्रांति का था। भारत पर पंचशील और सहअस्तित्व का प्रभाव इतना अधिक था कि पं० नेहरू चाऊ-एन-लाई की ओर केवल एक मित्र की नहीं अपितु किसी आतुर प्रेमी की नजर से देखते थे। उस समय चीन के कुटिल इरादों से जुड़ी हर चेतावनी को उन्होंने नकार दिया था। 1949 में चीन में कम्युनिस्ट सत्ता स्थापित होने के तत्काल बाद सरदार पटेल ने नेहरू जी को सलाह दी थी कि 'चीन के साथ अपने संबंधों और नीतियों का निर्धारण करते समय सावधानी से काम लेना चाहिए। चीन के इरादों और उसकी रणनीति का यथार्थ आकलन अवश्यक है। भारत की उत्तरी सीमा पर चीन बहुत बड़ा संभावित खतरा बन सकता है।' नेहरूजी ने सरदार पटेल की इस चेतावनी को पूरी तरह नकारकर चीन में भारत के राजदूत श्री पणिकर और कृष्ण मेनन की सलाह मानकर 1954 में तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। भारत और चीन के बीच तिब्बत की सार्वभौम स्वतंत्र मध्यवर्ती भूमि पर चीन का अधिकार मानते ही चीन ओर भारत की सीमा के बीच का अंतर समाप्त हो गया।

भारत में 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के शोर में चीन ने लद्दाख के अक्षयचिन्ह क्षेत्र में चुपचाप एक सड़क का निर्माण करके अक्षयचिन्ह और सिक्यांग को जोड़ दिया। भारत को अक्षयचिन्ह-सिक्यांग मार्ग के निर्माण की जानकारी 1958 के आसपास मिली। तब तक चीन भारत-तिब्ब्त सीमा पर अपनी सैनिक चौकियों की स्थापना कर चुका था।

भारत की सीमा पर चीन की खतरनाक सैनिक गतिविधियों के समाचार से देशवासियों में उत्तेजना व्याप्त हो गई। नेहरू जी के पंचशील समझौते पर संदेह किया जाने लगा। देशभक्त जनता की उत्तेजना का दबाव बढ़ा तो नेहरू जी ने सितंबर 1962 में मद्रास में घोषणा की कि 'भारतीय सेना को भारत की भूमि पर से चीनियों को मार भगाने के आदेश दे दिए गए हैं' चीन ने इस घोषणा का लाभ उठाया। उसने भारत को चीन पर आक्रमण करने का दोषी बताकर 20 अक्तूबर, 1962 को पूर्वोत्तर क्षेत्र पर आक्रमण करके पूर्ण युद्ध की घोषणा कर दी। नेहरू जी के लिए यह

आक्रमण अप्रत्याशित था। उन्होंने इसे चीन का विश्वासघात माना। आकाशवाणी से देश की जनता को बताया कि 'हमारे साथ धोखा किया गया। चीन दगाबाज है, मक्कार है, शांति का दुश्मन है।' नेहरू जी का कल्पना-लोक ध्वस्त हो गया। पूर्वोत्तर और पश्चिमोत्तर क्षेत्र में भारतीय सेना पराजित हो गई। 20 नवंबर को चीन ने एकाकी युद्ध विराम की घोषणा की। अक्तूबर-नवंबर, 1962 में चीन के हाथों मिली इस पराजय को 1965 और 71 में पाकिस्तान पर मिली विजय के बाद भी देशवासी भूल नहीं पाए हैं।

चीनी इरादा

भारत-चीन सीमा विवाद मे चीनी रुख उदासीनता का है। गत 30 वर्षों से चीन ने भारत की हजारों वर्ग किलोमीटर भूमि अवैध रूप से दबा रखी है। उत्तरी-पूर्वी सीमा पर आधुनिकतम शस्त्रों से सुसज्जित सैनिक चौकियां बना ली हैं 1986 में वह अरुणाचल प्रदेश के सुमदरांग-चू-घाटी में घुसा तो वहीं जमकर बैठ गया कि वह भारत की नहीं, उसकी अपनी भूमि है। उसे यह विश्वास है कि भारत उसके विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष छेड़ने की स्थिति में नहीं हैं। भारत की भूमि पर उसका कब्जा तो है ही इसलिए वार्ताओं का दौर चलाते रहने में उसे कोई हानि नहीं है।

भारत-चीन के बीच सचिव स्तर पर अब तक लगभग एक दर्जन बार वार्ता हो चुकी है। चीन बीच-बीच में अपना दृष्टिकोण और पक्ष परिवर्तित करता रहता है। वह स्वयं किसी मुद्दे पर प्रतिबद्ध न होकर चाहता है कि भारत प्रतिबद्ध हो जाए। वार्ताओं का लंबा दौर वह भारत को मानसिक तनाव में डालकर अपने समझौता शर्तों पर उसकी सहमति प्राप्त करने के लिए चला रहा है। इस प्रकार चीन विश्व के देशों को यह आभास भी देता रहता है कि वह तो सीमा विवाद सुलझाने के लिए तेयार है, किन्तु भारत कोई निश्चित प्रस्ताव प्रस्तुत ही नहीं करता। 31 मई, 1988 को संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के विदेश राज्य मंत्री का यह कथन इसकी पुष्टि करता है कि भारत-चीन सीमा विवाद को लेन-देन, आपसी समझबूझ और समायोजन द्वारा सुलझा लेना चाहिए। कूटनीतिक क्षेत्रों ने चीन द्वारा सोच-समझकर प्रयोग किए गए उस 'समायोजन' शब्द को बहुत ही महत्वपूर्ण बताया है। भारत-चीन सीमा विवाद पर सतत नजर रखने वाले एक पूर्व राजनयिज्ञ का कहना है कि' समायोजन' शब्द पर चीन द्वारा बल दिए जाने का अर्थ यह है कि वह उत्तर पूर्व में मैकमोहन सीमा रेखा को स्वीकार करके उत्तर में लद्दाख के अक्षयचिन्ह क्षेत्र पर अपने अधिकार की कानूनी स्वीकृति चाहता है।

3 जून, 1986 को चीनी विदेश उपमंत्री के इस वक्तव्य ने भारत-चीन सीमा विवाद को और अधिक जटिल बना दिया कि पूर्वी क्षेत्र में भारत ने चीन की नब्बे वर्ग किलोमीटर भूमि पर बलात कब्जा कर लिया है। भारत को चाहिए कि सीमा पर तनाव

समाप्त करने के लिए वह भूमि चीन को वापस कर दे। भारत चीन से ही अपनी भूमि की मांग करे, इसके पूर्व ही चीन ने 'उल्टा चोर कोतवाल को डांटे' की तर्ज पर भारत को कटघरे में खड़ा कर दिया। इसका अर्थ यह है कि पहले भारत सरकार चीनी आरोप से स्वयं को मुक्त करे तो ही सीमा समस्या सुलझाने की वार्ता आगे बढ़ेगी। भारत सरकार ने इस निराधार चीनी आरोप का अभी तक कोई सुस्पष्ट और निश्चित प्रतिवाद नहीं किया है।

तब और अब

चौंतीस साल पूर्व प्रधानमंत्री नेहरू चीन गए थे, अब चौंतीस साल बाद प्रधानमंत्री राजीव चीन जाने वाले हैं। नेहरू जी पंचशील के कबूतरों के साथ चीनी-मैत्री के आकाश में उड़े थे और कल्पना-लोक की सुख-भ्रांति में खो गए थे। तब वे चीन से शांति ओर मैत्री खरीदने गए थे। अब राजीव अपनी हारी हुई जमीन वास लेने जा रहे हैं। चीन यात्रा के समय राजीव के सामने यह विषय प्रस्तुत किए जाने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता कि 'लद्दाख और उत्तर-पूर्व में भारत-चीन सीमा का स्पष्ट विभाजन नहीं है। पूर्वोत्तर में मैकमोहन रेखा जमीन पर नहीं केवल कागज पर है, इसलिए वह अस्तित्वहीन है।' चीन ने अपने इस तर्क को अभी तक सुधारा नहीं है कि 'मैकमोहन' रेखा उपनिवेशवादी ताकतों की बनाई हुई है, इसलिए वह उसे स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित करते हुए चीन प्रधानमंत्री राजीव की यात्रा का अंर्तध्वंस करके अगली वार्ता का आश्वासन देकर उनको खाली हाथ वापस कर सकता है।

नियत और संकल्प

चीन की नीयत, भारत की भूमि पर से अपना अधिकार छोड़ने की नहीं है और भारत का संकल्प अपनी इंच-इंच भूमि चीनी कब्जे से मुक्त कराने का है। नवंबर, 1962 में देश की जनता की ओर से लोकसभा में किया गया यह संकल्प कि संघर्ष चाहे जितना लंबा क्यों न हो, चाहे जितना बड़ा बलिदान क्यों न देना पड़े, देश की इंच-इंच भूमि शत्रु से वापस ली जाएगी', भारत राष्ट्र की सार्वभौम सत्ता की महिमा का मानदण्ड है। राजनयज्ञों और भारतीय सुरक्षा के विशेषज्ञों का कहना है कि भारत सरकार इस संकल्प के प्रकाश में भारत-चीन सीमा विवाद का सांगोपांग विचार नहीं करती। यह संकल्प उसके लिए अब एक 'मृतपत्र' के समान है और संभावना यह है कि भविष्य में भी वह इसे 'मृतपत्र' ही बनाकर रखे। इस संकल्प मे निहित यह भाव कि भारत किसी भी कीमत पर अपनी भूमि वापस लेगा, लेन-देन करके सीमा-विवाद सुलझाने के मार्ग में बाधक है स्थिति अत्यन्त ही जटिल ओर द्विविधापूर्ण है। भारत यदि अपने इस 'संकल्प' पर अड़ा रहता है तो चीन का यह आरोप सत्यसिद्ध हो जाता

है कि सीमा-विवाद सुलझाने में भारत की रुचि नहीं और यदि अपने संकल्प का त्याग करता है तो भारत की भूमि पर चीन कब्जा स्वीकार करके अपनी सार्वभौम सत्ता का अपमान करने का अपराध करता है।

सावधानी आवश्यक

इसलिए चीनी इरादे, आक्रमण, युद्धविराम, भारत भूमि पर बलात अधिकार और भारत के संकल्प की पार्श्वभूमि का गहरा ओर दूरगामी विचार करके यदि राजीव चीन यात्रा पर जाएंगे तो ही पुनः इस पवित्र घोषणा के साथ उन्हें खाली हाथ वापस आना पड़ेगा कि 'दोनों देश अपनी सीमा पर शांति चाहते हैं और आगे भी बातचीत द्वारा समस्या सुलझझाने का यह शांतिपूर्ण प्रयास जारी रहेगा।'

यह शांति प्रयास जितना लंबा चलेगा भारत की भूमि पर चीन का बलात कब्जा उतना ही पुख्ता ओर दावा उतना ही न्यायपूर्ण होता चला जाएगा। चीन की इस नीति को असफल बनाने के लिए भारतीय संसद के 'संकल्प' के प्रकाश में इस विवाद का यथाशीघ्र समाधान निकालने में ही भारत का हित है। भारत की सफलता अपनी शर्तोंपर चीन को प्रतिबद्ध बनाने में है, चीनी सूत्रों पर प्रतिबद्ध होने में नहीं है। 20 अक्तूबर, 1962 में चीनी आक्रमण के पूर्व की स्थिति से कम किसी भी समझौते को शायद भारतवासी स्वीकार न करें ओर यदि ऐसा न हुआ तो स्थिति अत्यन्त जटिल हो जा सकती है।

23 अक्तूबर, 1988

नंग बड़ा भगवान से

इन्दिरा कांग्रेस अध्यक्ष राजीव की अध्यक्षता में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक हुई। अध्यक्ष राजीव ने प्रधानमंत्री राजीव को निर्देश दिया कि देश की आर्थिक स्थिति सुधारी जाय। गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले प्रत्येक परिवार के एक व्यक्ति को रोजगार, प्रत्येक महिला को दो साड़ियां, बच्चों को भोजन, पढ़ाई-दवाई और परिवार को आवास दिया जाय। भूमिहीनों को भूमि ओर महिलाओं के लिए तीस प्रतिशत स्थान आरक्षित किए जायं। बेरोजगारी इस सीमा तक मिटा दी जाय कि गरीबी अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर स्वयं भाग जाय। यह भी कहा गया कि इस कार्य पर केवल पैंतीस सौ करोड़ रुपए ही खर्च होंगे। यदि कोई प्रशासनिक अधिकारी या सचिव यह कहे कि सरकारी कोश में इतना धन नहीं है कि इस योजना का क्रियान्वयन न कर सकें तो इसके लिए जिम्मेदार अफसर और नौकरशाह होंगे, प्रधानमंत्री राजीव और इन्दिरा कांग्रेसी नहीं। नौकरशाहों का अपराधी ठहराए जाने का सुझाव ऊर्जा मंत्री बसंत साठे का था। श्री साठे ने ही अभी कुछ दिन पूर्व यह कहा था कि 'देश में प्रतिवर्ष चालीस हजार करोड़ रुपए का काला धन बनता है। काले धन की समान्तर व्यवस्था चल रही है।' उन्हीं के सहयोगी वाणिज्य राज्य मंत्री का कहना है कि विदेशी मुद्रा खाते में 1900 करोड़ की कमी आई है। काले धन की उत्पत्ति और विदेशी मुद्रा में आ रही कमी के लिए किसको कटघरे मे खड़ा किया जाएगा? नीतियां बनाने वाले राजनीतिक नेतृत्व को, कि नीतियों का क्रियान्वयन करने वाली कार्यपालिका को? देशवासियों की गरीबी मिटे, हर हाथ को काम मिले, बांटा का जूता ओर टाटा का साबुन न चले, इस कार्य में बाधक कौन बना? चालीस वर्ष से देश की अर्थ व्यवस्था बनाने ओर चलाने का काम किसने किया है? आर्थिक नीतियों को राजनीतिक जामा किसने पहनाया? रोटी और रोजगार को वोट की तराजू पर किसने तोला है?

देशवासी अभी तक 1971 में लगाए गए इंदिरा गांधी का वह नारा भूले नही है कि 'मैं कहती हूं कि गरीबी हटाओ, वे कहते है इन्दिरा हटाओ, अब आप ही सोचिए।' इन्दिरा हटाओ' कहने वालों को तो देशवासियों ने हटा दिया, लेकिन इन अठारह वर्षों में गरीबी का क्या हुआ ? कौन जिम्मेवार है गरीबी न हटने-मिटने के लिए? गरीबी हटाने के लिए अब बेरोजगारी मिटाने का नारा उठाया गया है। गरीबी

की रेखा के नीचे रहने वाले कंगालों को गुलाबी सपना दिखाया जा रहा है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह कि राजा राजीव का फरमान जारी हो गया है। अब गरीबी और बेरोजगारी की खैर नहीं है। अब देश में कोई भूखा, बीमार, बेरोजगार, गृहविहीन ओर निरक्षर नहीं होगा। यदि शब्दों से अर्थ संकट का समाधान संभव है तो राजीव की पार्टी की घोषणाओं पर विश्वास अवश्य किया जाय। यदि नहीं, तो देशवासी यह अवश्य सोचें कि 1971 का 'गरीबी हटाओ' का नारा यथार्थ क्यों नहीं बन पाया और 1988 का 'बेरोजगारी मिटाओ' का नारा जमीन पर कैसे उतरेगा? उतरेगा भी कि नहीं?

ऐसे ही क्षण गांधी जी की यादें आती हैं इसी मौके पर जवाहरलाल सहित वे सभी कांग्रेसी भी याद आते हैं जिन्होंने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का दावा किया था। गांधी जी का ग्राम-विकास और 'हिन्दू स्वराज्य' का दस्तावेज नेहरू जी के नेतृत्व में फाड़कर कांग्रेसियों ने 'बाटा-टाटा की संस्कृति' की नींव रखी थी। देश के आम आदमी की आजादी को कुचल कर आजादी को शासन करने की आजादी में परिवर्तित कर दिया।

देश आजाद हुआ तो गांधी जी बहुत बेचैन थे कि स्वराज्य सुराज्य में बदले। इसके लिए ग्रामवासिनी भारतमाता की ग्रामवासी संतानों का आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक स्तर ऊपर उठना जरूरी था। गांधी जी ने कहा था, 'मेरे लिए हिन्दुस्थान गांव से शुरू होता है और गांव में ही खत्म होता है।.........आजादी का मतलब है आम लोगों की आजादी। उन पर हुकूमत करने वालों की आजादी नहीं। आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। इसका मतलब है कि हर एक गांव को अपने पांव पर खड़ा होना होगा कि वह सारी दुनिया के खिलाफ अपनी हिफाजत खुद कर सके।..........ख्याल यह है कि सब आजाद होंगे और सभी एक दूसरे पर अपना प्रभाव डाल सकेंगे। जिस समाज का हर एक आदमी जानता है कि उसे क्या चाहिए इससे आी बढ़कर जिसमें यह माना जाता है कि बराबरी की मेहनत करके भी दूसरों को जो चीज नहीं मिलती हे, वह खुद भी किसी को नहीं लेनी चाहिए वह समाज जरूर ही बहुत ऊंचे दर्जे की सभ्यता वाला होना चाहिए।........ऐसा समाज अनगिनत गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के बाद एक की शक्ल मे होगा।

ज़िस चीज को हम चाहते हैं उसकी सही-सही तस्वीर हमारे सामने होनी चाहिए। मेर मन में जो तस्वीर हे उसमें पहला ओर आखिरी आदमी दोनों बराबर होंगे या तो कहिए कि उसमे न कोई पहला होगा न आखिरी। इस तस्वीर में हर एक मजहब की अपनी पूरी और बराबरी की जगह होगी। हम सब एक ही आलीशान पेड़ के पत्ते हें। इस पेड़ की जड़ हिलाई नहीं जा सकती। क्यों कि वह पाताल तक पहुंची है। इस तस्वीर में मशीनों के लिए कोई जगह नहीं होगी, जो मनुष्य की मेहनत की जगह

लेकर कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथों मे सारी ताकत इकट्ठा कर देती है। इसमें ऐसी मशीनों की गुंजाइश होगी जो हर आदमी को उसके काम में मदद पहुंचाए। हमें गांवों वाला भारत ओर शहरों वाला भारत, इन दो में से एक को चुनना है। देहात उतने ही पुराने हैं जितना कि यह भारत पुराना है। शहरों को विदेशी आधिपत्य ने बनाया है। आज शहरों का बोलबाला है और वे गांवों की सारी दौलत खींच लेते हैं। अगर गांव नष्ट हो जाएंगे तो हिन्दुस्तान भी नष्ट हो जायगा। वह हिन्दुस्तान ही नहीं रह जायगा। दुनिया में उसका मिशन ही खत्म हो जायगा।'

यह गवाही क्यों ?

गांधी जी की इतनी लंबी गवाही इसलिए देनी पड़ी कि हम अपने आर्थिक विकास और सामाजिक उत्थान की उत्स समझ लें। गांधी के पांव गांव की ओर थे नेहरू और उनके राजनीतिक वंशधरों की नजर शहर की ओर। गांधी का भारत स्वावलंबी गांवों वाला हिन्दुस्तान है और नेहरू परंपरा का भारत बड़े-बड़े उद्योगों वाला। गांवों वाले गांधी के राजनीतिक उत्तराधिकारियों ने मनुष्य को मशीन के चंगुल में फंसाया। गांवों को शहरों का गुलाम बनाया। पश्चिमी तौर तरीके पर आधारित एक ऐसी आर्थिक और औद्योगिक संस्कृति का निर्माण किया, कंगाली ओर परजीवी आर्थिक दासता जिसकी सहज निष्पत्ति हैं उसमें स्वावलम्बिता का बीज हे ही नहीं। रुपए की क्रय शक्ति के हर दिन हो रहे ह्रास, विदेशी कर्ज और आर्थिक योजनाएं गवाह हैं कि आर्थिक शक्ति कुछ लोगों की मुट्ठी में बंद है और देशवासी उनके द्वार पर मजबूर भूखे भिखारी की तरह गिड़गिड़ाते खड़े हैं। इन धनपतियों से विश्व बैंक अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, अमरीका , इंग्लैंड, जर्मनी, जापान, रूस, दुनिया के अनेक ऐसे देश जो भारत की राजधानी दिल्ली के एक मुहल्ले के बराबर भी नहीं हैं बहुराष्ट्रीय कंपनियां विदेश के 'बाटा' भारत के टाटा और भारत सरकार भी शामिल है। भारत को कंगाली और आर्थिक गुलामी की चक्की में उसी दिन डाल दिया गया था जब आखिरी आदमी को पहले आदमी की सुख सुविधा की शूली पर टांग कर नेहरू जी ने आर्थिक विकास की मीनार का शिलान्यास किया था। ग्राम स्वराज्य को एकाधिकारवादी सरकारी समाजवाद की भट्टी में झोंक कर आदमी को परजीवी बनाया गया कि अब सब कुछ सरकार करेगी। मनुष्य बैठा रहे मशीन काम करेगी। अंधाधुंध मशीनीकरण भी हो ओर मनुष्य को रोजगार भी मिले—ये दोनों बाते परस्पर विरोधी हैं। बेरोजगारी मिटाओ का नारा जब तक इस दुष्चक्र में जुड़ा रहेगा भारत जैसे देश में आर्थिक आत्मनिर्भरता नहीं आ सकेगी। केवल नाम में गांधी जोड़ने से काम नहीं चलेगा। गांधी को काम से भी जोड़ना होगा। गांधी के रास्ते पर चलना भी होगा। कांग्रेस कुल ने राजनीतिक लाभ के लिए गांधी को जितना भुनाया, यदि उसका दसांश भी आर्थिक क्षेत्र में उनके चिन्तन का प्रयोग किया होता तो भूखों, कंगालों,

बीमारों ओर बेरोजगारों की इतनी बड़ी भीड़ भारत में न पैदा हुई होती कि केवल एक समय की रोटी का मात्र आश्वासन देकर कांग्रेस कुल अपनी सत्ता का स्वार्थ साध लेने में सफल हो जाता।

कांग्रेस कुल ने गांधी का गांव ही नहीं उजाड़ा है, सारे देश के मन में यह सवाल भी पैदा कर दिया है कि इससे (स्वराज्य) अच्छे तो अंग्रेज ही थे। जिस देश के वासी आजादी की तुलना में गुलामी को बेहतर बताने लगें, उनके संताप का घनत्व नाप पाना सरल नहीं है। आजादी मनुष्य की अन्तर्भूत, सहज ओर सृष्टिगत लालसा या यों कहें कि उसकी प्राण वायु हैं। देश के आम आदमी के लिए उसकी अपनी ही सांस अब प्राणलेवा संकट पैदा करने लगी हैं। गांधी की आत्मा को रेत रेत कर काट रहे कांग्रेस कुल ने आधे से अधिक देशवासियों के लिए स्वतंत्रता, विचार, मजहब, शिक्षा, आर्थिक समृद्धि, सामाजिक समानता को केवल एक जून की रोटी बना दिया। चरित्र नाम की किसी चीज का उनके लिए कोई महत्व रहा ही नहीं।

चार और पांच नवंबर को कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में उठी आवाजें सुनकर देशवासियों का दिल दहल उठा होगा। कहा गया कि विरोधी दल और विश्वनाथ प्रताप सिंह गरीबी का दर्द और संताप क्या जानें? गरीबी का संताप तो केवल राजीव जानते हैं। देश की राजनीति से उभर रहा राजनीतिक विकल्प ओर विरोधी दलों की एकजुटता, राजनीतिक अपशकुन है। विरोधी दलों का विकल्प के रूप में उभरना राष्ट्रीय एकता, अखण्डता और लोकतंत्र के लिए घातक है। देश के लिए एक ही नेता बहुत है किसी दूसरे नेता की जरूरत ही नहीं है। यदि विरोधी दल इन्दिरा कांग्रेस और राजीव का विरोध करेंगे तो देशवासी उन्हें कूड़ेदान में फेंक देंगे। राजीव का विरोध करने वाले अंग्रेजों के एजेण्ट हैं। जो लोग आजकल राजीव और इन्दिरा कांग्रेस का विरोध कर रहे हैं, उन्होंने आजादी की लड़ाई का भी विरोध किया था। समाचारपत्रों की आलोचना और टिप्पणी पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है। ये वे ही समाचार पत्र हैं जो अंग्रेजी राज्य के पक्षधर थे, जिन्होंने नेहरू जी की गुटनिरपेक्षता की नीति और समाजवाद का विरोध किया था। ये समय-समय पर अपना मुखौटा और मुहावरा बदल देते हैं। हमारी दिशा ठीक है। हम जो कुछ कर रहे हैं वही ठीक है जो हमारे मार्ग में आयेगा उसे हम कुचल देंगे।

सबसे बड़ा मजाक

ये आवाजें उस राजनीतिक कुल के सम्मेलन की हैं जो स्वयं को लोकतंत्र का झण्डावाहक बताता है। जो यह घोषणा करता है कि उसी के कारण इस देश की स्वतंत्रता, अखण्डता और सार्वभौम सत्ता सुरक्षित है। क्या इससे बड़ा मजाक और कोई हो सकता है कि गरीबी के दर्द और गरीबों के संताप का अहसास केवल राजीव गांधी को है और किसी को नहीं? क्या इस आरोप का कोई आधार है कि विरोधी

दल, सामंतों ओर राजाओं की सामंती प्रवृत्ति के शिकार हैं? एक टुटपुंजिया जमींदार विश्वनाथ प्रताप सिंह, जो अब तक कांग्रेस मे ही था, के कारण संपूर्ण विपक्ष सामंतवादी हो गया और दर्जनों राजाओं के कंधों पर सवार राजीव समाजवादी मसीहा हैं? क्या लोकतंत्र केवल राजीव और उनकी इंदिरा कांग्रेस के कारण ही टिका हुआ है। कि उसमें उस आम आदमी का भी योगदान है जिसके रोष के कारण उन्हें मानहानि विधेयक जैसा अपना तानाशाही कदम वापस लेना पड़ा और जिसने गांधी जी के आवाहन पर आजादी के लिए आत्मापर्ण किया था? कुचलना, मिटा देना, विरोध और मतभेद को शत्रुता समझना, विरोधी दलों को देश का दुश्मन बताना, भ्रष्टाचार का प्रमाण दिए जाने के बाद भी पद पर बने रहना, शासन ओर सत्ता को कालेधन, साधनों और लोभ लालच द्वारा खरीदना किस लोकतंत्र और जनतंत्र की परिभाषा में आता है? लोकतंत्र शीलवती दुल्हन है बाजार की वेश्या नहीं कि जब चाहे कोई कामुक उसका तन उघाड़ दे। अपने ही पापों ओर अपराधों की बढ़ती काली छाया से डरे हुए राजीव और उनका राजनीतिक कुनबा सुहागिन लोकतंत्र की दुल्हन का शील हरण करने का हर संभव उपाय कर रहे हैं। इंदिरा कांग्रेस और राजीव का राजनीतिक नंगापन अब अपवाद नहीं रह गया है। उनके लिए वह इतना सहज ओर आम हो गया है कि मर्यादा शील ओर संवेदना से जुड़ा कोई भी शब्द अब उसे परिभाषित और अभिव्यक्त नहीं कर सकता। अब वे भीड़ भरे चौराहे पर निर्लज्ज होकर नंगे खड़े हं। यदि किसी को शर्म आती हो तो वह अपनी आंखें मूंद ले। नंग बड़ा भगवान से, आम आदमी की कौन कहे।

चिन्तन की चोरी

राजीव कहते हैं कि वे चुनाव सुधार करेंगे। मतदाता की आयु इक्कीस वर्ष से घटा कर अट्ठारह वर्ष करेंगे। विरोधी दल यह मांग चौथाई शताब्दी से कर रहे हैं। भारतीय जनसंघ, प्रसोपा, सोपा, जनता पार्टी, भाजपा, विद्यार्थी परिषद, जयप्रकाश नारायण यहां तक कि विश्वनाथ प्रताप सिंह भी यह मांग कई बार कर चुके हैं। इसके लिए आन्दोलन कई बार हुए हैं। ज्ञापन दिये गए हैं। बहसें हुई हैं। कांग्रेसी कुनबा अब तक इस मांग को नाक सिकोड़ कर बेहूदा बताता आ रहा था। अब यह आभास दिया जा रह है कि मानो यह इंदिरा कांग्रेस और राजीव की मौलिक सोच है। चोरी को कमाई और दूसरों के विचारों और सुझावों को अपना मौलिक चिन्तन बताने की यह कलाबाजी करने वाले इंदिरा कांग्रेसी एक दिन सरकारी खजाने से चुनाव खर्च दिए जाने की विरोधी दलों की मांग को भी अपना मौलिक चिन्तन मान कर मान लें तो कितना अच्छा हो?

चिन्तन, चरित्र और विश्वसनीयता से चुक गया इंदिरा कांग्रेसी कुनबा। गांधी जी को खा जाने के बाद अब अपने अस्तित्व की अंतिम लड़ाई लड़ रहा है। कांग्रेस एक

ऐसी राजनीतिक वेश्या मे बदल गई है जो चुनाव के झरोखे से देशवासियों को देखती है और अपने आश्वासनों के हावभाव से उन्हें अपने कोठे पर बुलाकर उनका चरित्र भ्रष्ट करके अगले पांच साल तक प्रायश्चित्त करने के लिए धक्का मार कर नीचे धकेल देती है। वेश्याओं की ही तरह वेश्या राजनीति भी केवल अवसर देखती है, औचित्य नहीं।

अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सम्मेलनों ने अपने अध्यक्ष राजीव के माध्यम से अपने प्रधानमंत्री राजीव गांधी को खुली छूट दे दी है कि वे भारतीय जन और सुहागिन जनतंत्र को इंदिरा कांग्रेस के राजनीतिक कोठे पर बुलाकर उसे चरित्र भ्रष्ट करके अपने कुल की सरकार बनाए रखें। उनके राजनीतिक शब्द कोष में इसे ही लोकतंत्र शील चरित्र और मर्यादा कहा गया है। इसके विपरीत सब कुछ राष्ट्रघाती और राष्ट्रद्रोही है।

20 नवंबर 1988

जन्म शताब्दी वर्ष का संताप

सन् 1988-89 में भारत माता की कोख खूब फूली फली। कह सकते हैं कि इस कालखण्ड में कई रत्न संतानों की फसल भरपूर उगी। यही कारण है कि 1988-89 शताब्दी वर्ष सा बना गया है। पं० जवाहर लाल नेहरू, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत, मौलाना अबुल कलाम आजाद, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, डा० राधाकृष्णन, वैज्ञानिक सी० वी० रामन, आचार्य नरेन्द्र देव और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डा० केशव राम बलिराम हेडगेवार आदि अनेक संतानें इसी कालखण्ड की देन हैं। देशवासी इनकी जन्म शताब्दी मना रहे हैं। कुछ की मन चुकी, कुछ की मनाई जा रही हैं। इनमें कुछ देश की आजादी के आन्दोलन से जुड़े लोग हैं। कुछ विज्ञान, दर्शन, समाजवादी आन्दोलन और सामाजिक परिवर्तन प्रक्रिया से। किन्तु देश के स्वातंत्र्य संघर्ष के सूत्र में सभी समान रूप से गुंथे हुए थे। दार्शनिक डा० राधाकृष्णन और वैज्ञानिक सी० वी० रामन इसके अपवाद अवश्य हैं, किन्तु एक की दार्शनिकता ने हिन्दुस्तान के हिन्दू जीवन की सार्वभौमिकता प्रमाणित की तो दूसरे के वैज्ञानिक शोध समस्त संसार के सामने चुनौती बनकर खड़ी हो गई थी कि 'भारत कोई बौना चुक गया देश नहीं कि गुलामी को उसकी नियति मान लिया जाए। भारत की अन्तर्भूत चेतना दासता का निषेध करती है। मुक्ति और मोक्ष भारत के हिन्दू जीवन दर्शन का अंतिम् लक्ष्य है। मुक्ति मार्गी के लिए किसी भी प्रकार का बंधन अप्राकृतिक और अस्वाभाविक है। प्रतिभा और शौर्य में भारत का सानी कोई नहीं है। विज्ञान और ज्ञान के सागर की गहराई की थाह लेना और नये नये मोती खोज लाना भारत के लिए दुष्कर नहीं है। सामाजिक और राजनीतिक मोर्चे पर जूझ रहे लोगों को वैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने आत्मबल प्रदान किया। उन्होंने विदेशियों का दम्भ तोड़कर उन्हें एक दम बौना बनाकर भारत का विराट रूप अभिव्यक्त किया।

उस कालखंड की जो रत्न संतानें स्वाधीनता प्राप्त करने, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिए जूझीं, उनमें से अधिकांश के खाते में उनकी प्रसिद्धि जमा है। वे सभी राजनीति में रहे हैं। सत्ता सिंहासन को भी सुशोभित किया है। इस कारण देशवासी उन्हें जानते हैं। आजादी के बाद जन्मी पीढ़ी भी कम से कम उनके नाम से परिचित है। किन्तु लोग उन्हें जितना उनके नाम से जानते हैं, उतना उनके काम से नहीं। इस धारा में एक मात्र अपवाद हैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के

जन्मदाता डा० हेडगेवार। देशवासी उन्हें बहुत कम या ना के बराबर ही जानते हैं। यहां तक कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सामान्य स्वयंसेवक भी उन्हें पूरी तरह नहीं जानते। कभी कभी उनसे प्रश्न पूछे जाते हैं कि संघ के निर्माता कौन थे ? और उसके उत्तर में बताया जाता है 'डा० हेडगेवार।' लोग डा० हेडगेवार को नहीं जानते, किन्तु डाक्टर हेडगेवार के कार्य को सभी जानते हैं। देश और विदेश का हर कोई निरपवाद रूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक को जानता है। उसके विरुद्ध सार्थक निरर्थक, साधार, निराधार चर्चा होती है। उसकी निन्दा-स्तुति अखण्ड रूप से चलती रहती है। ऐसा इसलिए है कि डाक्टर हेडगेवार भारत की हिन्दू संस्कृति के आत्मविलोपी पक्ष के प्रतिनिधि थे। वैदिक ऋषियों की तरह श्लोक और सूत्र लिख और बता कर वे अनाम ही रहे, इतना अनाम कि कल को यह कहने की स्थिति आ जाय कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी वेदों की तरह अपौरुषेय है। वह किसी व्यक्ति विशेष की कृति नहीं है। देश का स्वातंत्र्य समर उन्होंने आगे आगे चलकर लड़ा। किन्तु सामाजिक परिवर्तन, संस्कार और चरित्र निर्माण की साधना अत्यन्त एकान्तिक मौन भाव से किया। वे प्रसिद्धि से इतने दूर चले गए कि उनका समूचा व्यक्तित्व राही के राह बन जाने की सीमा तक कार्यरूप हो गया। राह तो दिखाई देती है राही का कहीं कोई अता पता नहीं है।

बात शताब्दी वर्ष से शुरू हुई थी। अब उसकी चर्चा करें। ये अवसर ऐसे होते हैं जब राष्ट्रजन अपने जीवन और कर्म का परिष्कार करने की मनःस्थिति में होते हैं। पूर्वजों का स्मरण अस्मिता का बोध कराता है। उनकी उपलब्धियां पाथेय का काम करती हैं। और चूकें चेतावनी देती हैं। सौ वर्ष का फ्लैश बैक अर्थात अतीत जब वर्तमान बनता है तो तब और अब के बीच द्वन्द्वों से दो चार होने का अवसर भी मिलता है। आज की संतानें तब के अपने पुरोधा पूर्वजों से सवाल करने लगते हैं कि यदि ऐसा न किया होता तो कैसा होता ? ऐसा क्यों किया ? वैसा क्यों नहीं किया ? अनुभव और समय तब से जुड़े सवालों का सटीक जवाब देते हैं। आलोड़न और आत्मालोचन भविष्य की राह बनाते हैं, तो कभी कभी झटका भी मारते हैं। वास्तविकता से सामना होता है तो कभी कभी मैदान छोड़कर भाग जाने का मन करने लगता है। इस समय जन्म शताब्दी समारोहों के केन्द्र हैं स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू। 'राष्ट्र नायक' नेहरू। राष्ट्र निर्माता नेहरू, गांधी जी के राजनीतिक 'उत्तराधिकारी' नेहरू। उनकी चर्चा होना स्वाभाविक है। किन्तु चर्चा का आयाम क्या है ? देशवासियों के सामने जवाहर लाल का व्यक्तित्व सुरा, सुन्दरी और सिगरेट के आस पास घूम रहा है। कमलादेवी चट्टोपाध्याय, लेडी माउन्टबेटन, श्रद्धादेवी (श्रद्धामाता) और पद्मजा नायडू के प्रेम प्रसंग चटकारे लगाकर सुने और पढ़े जा रहे हैं। कहा जा रहा है कि नेहरू जी को अपने प्रेमपाश में फंसाकर लेडी माउन्टबेटन ने भारत को विभाजित करा दिया। श्रद्धामाता अपने अवैध पुत्र को पाने

के लिए अस्सी वर्ष की आयु में आज भी बेचैन हैं। न जाने कहां है उनका नेहरू जन्मा बेटा। पद्‌मजा अपनी सीमा लांघने लगी तो नेहरू जी ने उन्हें पश्चिमी बंगाल का राज्यपाल बनाकर अपनी बला टाली। मौलाना आजाद लिखते हैं कि नेहरू जी के खुरदरे दिमाग पर लेडी माउन्टबेटन का प्यार मक्खन की तरह लिपट कर कुछ भी करा लेता था। भोजन के पूर्व शराब और बाद में सिगरेट की शौकीनी की चर्चा है। खुशवन्त सिंह सरीखे बुद्धिजीवी इसे जवाहरलाल की जवांमर्दी बताकर गौरवान्वित हो रहे हैं कि "कामदेव सरीखा नेहरू जी का मनमोहक व्यक्तित्व स्त्रियों को सहज ही आकर्षित कर लेता था। नेहरू जी ने अपने महिला मित्रों के साथ संबंधों से कभी इंकार नहीं किया।"

प्रेम प्रसंग का परिणाम

किन्तु इस प्रेम प्रसंग का परिणाम क्या निकला ? देश का विभाजन और यौन संबंधों की पवित्रता की अवधारणा की अर्थहीनता। नेहरू जी के तमाम गुणों को उनके इस एक अवगुण ने ढंक लिया। विश्वनेता, देश के नवयुवकों के हृदय सम्राट और राष्ट्र निर्माता नेहरू जी की जो तस्वीर देशवासियों के सामने उभरी उसमें नारी मनोरंजन और थकावट मिटाने की वस्तु मात्र दिखाई दी। फलतः भावी पीढ़ी ने स्वतः यह छूट ले ली कि यदि नेहरू जी पदमजा, श्रद्धादेवी, लेडी माउन्टबेटन सरीखी महिलाओ के साथ मन बहला सकते थे तो यह कोई अनुचित, असामाजिक और असंस्कारी कार्य नहीं हैं।

सार्वजनिक कार्य और व्यक्तिगत चरित्र के बीच वरीयता निर्धारण में चरित्र पक्ष पर पर्दा डाल दिये जाने का परिणाम सामने हैं। उदाहरण देकर इसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। नेहरू जी से लेकर राजीव तक की घटनाएं राजनीतिक व्यवहार और व्यक्तिगत चरित्र के नमूने के रूप में हमारे सामने हैं। इसका सर्वाधिक चिन्तामूलक पहलू यह है कि दो बुराइयों में से एक को चुनने की अपरिहार्यता में सामाजिक जीवन में बाधक न बनने वाली व्यक्तिगत जीवन की कुछ कमजोरियों को सहन करने की आपातकालीन रीति नीति को सामान्य बात मानकर अब हम उसका औचित्य सिद्ध करने लगे हैं। यह भारतीय संस्कृति और राष्ट्र जीवन की परंपरा के अनुकूल नहीं है। भारत के दार्शनिकों और तत्वचिन्तकों के अनुसार हमने ऐसे किसी व्यक्ति को, जो स्वार्थी हो, अथवा जिसमें शराब, स्त्री और धनलिप्सा जैसे अनेक दुर्गुण हों, कभी भी महान नहीं कहा। हमारे लिये महापुरुष अन्य सब बातों से बढ़कर पवित्र और आत्मसंयमी चरित्र वाला व्यक्ति है। जिनको हम अपनी संस्कृति, दर्शन और राष्ट्र के आदर्श के रूप में मानते हैं उनके विचार, वाणी और कार्य का समस्त उदात्त सत्यों के साथ स्वरैक्य था। केवल ऐसे ही व्यक्ति हमारी राष्ट्रीय परंपरा के प्रतीक रहे हैं।

और आज ?

सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों ने आमतौर से आज ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। आजकल यह एक सामान्य धारणा है कि कोई व्यक्ति यदि उदारतापूर्वक दान देता है, अच्छा भाषण देता है, सार्वजनिक हित में कारावास का दण्ड भोग चुका है तो उसका व्यक्तिगत आचरण और चरित्र कितना ही घृणास्पद क्यों न हो, क्षम्य है। अन्त भला तो सब भला। यह दृष्टिकोण कि यदि व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में ठीक कार्य करे तो उसके व्यक्तिगत चरित्र की किसी भी कमजोरी को सहन किया जा सकता है, भारतीय मन की मूलभूत मान्यताओं के विपरीत है।

नेहरू जी की जन्मशताब्दी पर जब उनके चरित्र से जुड़े प्रसंगों पर चर्चा होने लगी है तो हमारा ध्यान उस पश्चिमी संस्कृति और आचरण की ओर जाना स्वाभाविक है जहां मुक्त यौनाचार की मान्यता है, कुमारी मां की प्रतिष्ठा हैं, किन्तु एक बहुत ही बारीक विभाजन रेखा भी है कि वहां मुक्त यौनाचार की छूट सामान्यजन को तो है शिखर पर बैठे व्यक्ति को नहीं। उन्हें अपना नेता शुद्ध चरित्र वाला और निष्पाप ही चाहिए। अभी अभी हुए अमरीकी राष्ट्रपति के चुनाव में कई ऐसे लोग राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार केवल इसलिए नहीं बन पाए कि उनका व्यक्तिगत चरित्र संदिग्ध था और वे किसी न किसी कुमारी कन्या के साथ प्रेम प्रसंग से जुड़े थे। इसे कहते हैं साधन की शुचिता और साध्य की सामाजिक सामूहिक समझ।

कुछ उदारवादी और तर्कवादी लोगों का कहना है कि 'बुराई बुराई से ही मरती है। विष ही विष की औषधि है। कांटा कांटे से ही निकाला जाता है।' आचार्य चाणक्य सरीखे भारतीय मनीषियों की इस उक्ति का उदाहरण देने वाले लोग आगे की बात नहीं बताते कि कांटे से कांटा निकालने के बाद दोनों कांटों को तत्काल गड्ढे में फेंक देने का भी निर्देश है। इस संदर्भ में रा० स्व० संघ के द्वितीय सरसंघचालक स्वर्गीय श्री गुरुजी का एक प्रसंग है। घटना 1937 के चुनाव के समय की है। उन्होंने तब एक कांग्रेसी उम्मीदवार से पूछा था कि चुनाव जीतने के लिए उसने निम्न और घृणित हथकण्डे क्यों अपनाए ? तो उसने उत्तर दिया, 'देखिए, 'बुराई का सामना तो बुराई से ही किया जाता है।' श्री गुरुजी ने पूछा 'क्या तुम कोलतार में कोयला डालकर उसे सफेद कर सकते हो ?' और कहा कि 'यदि इस तर्क को अवलम्बन किया गया तो एक ऐसा समय आ सकता है जब हमारे देश में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो ईमानदार और अच्छा बनना चाहेगा।

क्या आज यह स्थिति नहीं है कि जिसने इन तरीकों में अधिक से अधिक निपुणता प्राप्त कर ली है वे ही पद और सम्पन्न्ता की दृष्टि से ऊंचे उठते जा रहे हैं। चरित्रहीनता और व्यसन से ग्रस्त लोग आज राष्ट्रीय संकट के कारण बने हुए हैं।' इस नव चरित्र और नई सार्वजनिक संस्कृति का स्रोत क्या उन महापुरुषों का चरित्र नहीं है जिन्हें अपना महानायक मानकर हमने उनकी कमजोरियों को मात्र इसलिए अनदेखा

कर दिया कि वे सार्वजनिक हित की साधना में संलग्न हैं ?

जिन्हें हमने अपना महानायक माना है या जिन्हें हमारा महानायक बताया जा रहा है नेहरू जी सचमुच देश के आम आदमी के अपने आदमी हैं या केवल अपनी पार्टी या सरकार के व्यक्ति हैं ? जो कुछ हो रहा है उसे देखते हुए ऐसा नहीं लगता। वे आत्ममुग्ध अभिजात्य वर्ग के अपने और ग्रामवासी गरीब के लिए दूर के किसी रईस की चमक दमक वाले पराये व्यक्ति से लगते हैं। नेहरू जी को यदि देशवासियों ने अपना मान लिया है तो इतने प्रचार के बावजूद उनके जन्म दिवस को वह त्यौहारों की तरह क्यों नहीं मानता ? चौदह नवम्बर रामनवमी और कृष्ण जन्माष्टमी क्यों नहीं बना ? यदि ऐसा होता तो सरकारी तंत्र और दूरदर्शन तक ही नेहरू जी सीमित न रह जाते। उनका जन्मोत्सव केवल दलीय और सरकारी आयोजन न होता।

यह विडम्बना केवल गांधी, नेहरू, इन्दिरा और उन दूसरे नेताओं के जन्म दिवस तक ही सीमित नहीं है जिन्हें महानायक होने की दलीय और सरकारी संज्ञा दी गई है। 15 अगस्त से लेकर गणतंत्र दिवस तक का भी यही हाल है। पन्द्रह अगस्त राष्ट्र की मुक्ति का जन पर्व नहीं बना, गणतंत्र दिवस जन्मोत्सव का रूप नहीं ले पाया तो केवल इसलिए कि इसे केवल अभिजात्य वर्ग की सर्जना से जोड़ा गया। देश के आम आदमी की कल्पना इसमें साकार नहीं हुई। यदि देशवासियों के अन्तरमन के स्पन्दन के साथ नेताओं का कर्म जुड़ा होता तो 15 अगस्त महाकुंभ, नवरात्र, होली, दीवाली के पर्व और उनके जन्मोत्सव राम, कृष्ण के जन्म दिवस की तरह आम आदमी स्वप्रेरणा, उमंग, हृदय की संपूर्ण श्रद्धा और विश्वास के साथ मनाता।

देशवासी नए त्यौहार क्यों नहीं बना और मना पा रहे हैं। इस जन्मशती वर्ष में इस प्रश्न की पर्त उघाड़ी जानी चाहिए। यह बात ध्यान देने की है कि देश यदि अपना चरित्र गंवा देगा तो केवल व्यक्तियों की आबादी बढ़ने से काम नहीं चलेगा। वेद विहित चरित्र, बाइबिल से बने मन और संस्कृति से भिन्न है। हमारे नेताओं ने वहां की शराब और सुन्दरी तो ले लिया लेकिन सार्वजनिक जीवन की मर्यादाओं और संस्कृति को दुत्कार दिया। यदि अनाम रह कर अपौरुषेय कार्य करने की परंपरा का पालन नहीं कर सकते, प्रत्येक कार्य पर अपने नाम की मुंहर का ठप्पा मारने की लालसा है तो जियो राम की तरह, रहो शिवाजी की तरह। पदमा, श्रद्धादेवी और माउन्टबेटन की बेगम के साथ प्रेम की पींगें मारना, शराब और सिगरेट की संस्कृति का दम्भपूर्ण सत्कार करना, देश के चरित्र का ट्रस्टी और नेता होने का दावा करना सर्वथा बेमेल है। क्या ही अच्छा होता यदि देश का नायक कहे जाने वाले नेहरू के चरित्र में यह काला धब्बा न होता। उनकी यह चारित्रिक कमजोरी संपूर्ण देश को कमजोर कर गई। काश ! यह जन्मशती वर्ष इस संताप से मुक्त होता।

27 नवम्बर 1988

बेटे राजीव का पक्ष : मां इंदिरा की गवाही

पंडित जवाहरलाल नेहरू असंदिग्ध रूप में देश के नेता थे। उनकी राष्ट्रभक्ति, कर्मठता, संघर्ष क्षमता, संवेदनशीलता ओर बहुआयामी संकल्पनाओं को नकारा नहीं जा सकता। उनके विचारों और योजनाओं से मतभेद हो सकता है, उनके निजी जीवन और रहन सहन पर अंगुली उठाई जा सकती है, गांधी जी के उत्तराधिकारी के रूप में उनके सिद्धान्तों और दर्शन के प्रति उनकी उदासीनता का उल्लेख किया जा सकता है, भारत को उसकी प्रवृत्ति और प्रकृति के विपरीत पश्चिमी ढांचे में ढालकर उसे आधुनिकतम बनाने के लिए प्राणलेवा प्रदूषण पैदा करने वाली औद्योगिक संस्कृति का निर्माण करने के औचित्य और अनौचित्य पर बहस की जा सकती है, उन्हें एकरस राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति को सामासिक संस्कृति बताकर साम्प्रदायिकता और अलगाव का बीज बोने वाला विभाजन विशेषज्ञ कहा जा सकता है, संयोगवश या दुर्घटनावश हिन्दू होने, उसके प्रति लज्जाभाव व्यक्त करने, अपनी अस्थियां प्रयाग के सरस्वती संगम में प्रवाहित करने की वसीयत करने और अपने अन्तरमन की आस्था के विपरीत कुंभ के अवसर पर गंगा जल का आचमन करने संगम पर जाने वाले नेहरू जी को कोई पाखण्डी भी कह सकता है। अल्पसंख्यकवाद का जन्मदाता और उसका पोषक बताकर उनकी निन्दा की जा सकती है, देश में भाषाई शत्रुता के जनक और पुरस्कर्ता के रूप में उन्हें स्मरण किया जा सकता है, किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अपनी समझ, संकल्पना और सामर्थ्य का भरपूर उपयोग करके उन्होंने भारत को एक समृद्ध राष्ट्र बनाने का हर संभव प्रयास किया। अगर भारत की मूल चेतना और वैशिष्ट्य को उन्होंने पश्चिमी नजर से देखकर उसे अंधे और बैलगाड़ी युग की संकल्पना और संस्कृति बताकर, उसके सनातन मार्ग से विरत न किया होता, अपनी नींव पर आधुनिक भारत का निर्माण करने की प्रक्रिया प्रारम्भ की होती तो उन्हें सचमुच देशवासी दूसरे 'राम' की तरह पूजते। लोकतंत्र के प्रति प्रतिबद्ध यह राष्ट्रनेता यदि गांधी जी के स्वराज्य सुराज और रामराज्य की अवधारणा का मर्म समझ सका होता तो लोकरंजन का लोकतांत्रिक कार्य अत्यन्त कुशलता पूर्वक कर पाता। यही स्वतंत्र भारत के स्वराज्य की शोकान्तिका है, यही बहुआयामी व्यक्तित्व वाले नेहरू जी को राष्ट्र के बहुआयामी विविध क्षितिज से अलग करके एक पार्टी और परिवार की सीमा में समेट देने की शोकान्तिका भी है और यही

नेहरू जी के प्रति आत्ममुग्ध राष्ट्र जन का आत्मबोध भी है।

उनका अपराध क्या है ?

राष्ट्र नेताओं और महापुरुषों का स्मरण करना एक बात है और स्वार्थ के लिए उनकी हुण्डी भुनाना सर्वथा दूसरी बात। देश के दूसरे नेताओं का अपराध क्या है कि उनको स्मरण करने का कर्मकाण्ड कुछ मिनटों ओर घण्टों में निपटा दिया जाता है, किन्तु कुछ नेताओं के स्मरण के कार्यक्रम दिन रात, सुबह शाम, चौबीसों घण्टे, विभिन्न बहानों से महीना दर महीना चलाए जाते रहते हैं। दो अक्तूबर के आसपास एक दो दिन महात्मा गांधी का नाम, एकाध घण्टा लाल बहादुर शास्त्री की चर्चा और फिर पूरे अक्तूबर और नवम्बर नेहरू वंश का गुणगान। कोई संतुलन नहीं, कोई मर्यादा नहीं। समाचार, समारोह, झलकियां, कथाएं, धारावाहिक, सब कुछ एक ही व्यक्ति और वंश के विषय पर आधारित। क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि गोविन्द वल्लभ पंत के जीवन पर 'मोमेन्टस' धारावाहिक दिखाया गया। डा० राधाकृष्णन की जन्मशती पर दूरदर्शन ने एक दिन वृत्त चित्र दिखाया। मौलाना आजाद को भी कुछ मिनट दे दिए गए। गांधी जी की समाधि ओर गांधी स्मृति का दृश्य उनकी जन्म और पुण्य तिथि पर दिखाया जाता है। शास्त्री जी की समाधि पर भी दूरदर्शन की दृष्टि कुछ क्षणों के लिए जाती है, किन्तु क्या नेहरू जन्मशती और पुण्य तिथि, इन्दिरा जी की पुण्य और जन्म तिथि पर आयोजित कार्यक्रमों, समय और अवसर की तुलना उससे की जा सकती है ? इतना ही, आचार्य नरेन्द्र देव, क० मा० मुंशी, खुदीराम बोस, डा० हेडेगेवार आदि का अभी तक नाम भी नहीं लिया सरकारी तंत्र ने। क्यों ? क्या केवल इसलिए कि वे देश के तो हैं इंदिरा कांग्रेस के नहीं ?

संचार उद्यम

नेहरू और उनके वंश की बातें बुरी नहीं लगतीं। सरकार, सरकारी तंत्र और प्रसार माध्यमों का असंतुलित व्यवहार बुरा लगता है। ऊब जाने की सीमा तक कोई कार्य या बात करने जैसा होता है यह व्यवहार। यह सत्य है कि व्यक्ति हंसना चाहता है, जीवन के लिए प्रसन्नता बहुत जरूरी है, लेकिन उसे इतना नहीं गुदगुदाना चाहिए कि हंसते हंसते उसकी सांस फूल जाय और प्राण निकल जायें। उसे इतने अधिक समय तक दुःखद प्रसंगों से भी नहीं जोड़ना चाहिए कि उसके मन में प्रतिशोध की आग जल उठे और वह आग उसके सहित आस पड़ोस को भी जलाने लग जाये। देशवासियों को अपनी प्रजा और देश की अपनी जागीर समझ कर राजतंत्र की तर्ज पर व्यवहार करने का लोकतंत्र निषेध करता है। राजीव और उनके सलाहकार विचार करें कि आज उनकी सरकार है कल यदि कोई दूसरा दल सत्ता में आता है तो क्या होगा ? तब राष्ट्रनायकों की जन्म और पुण्यतिथि यदि मर्यादा के अनुसार नहीं मनाई

जाने लगीं तो क्या लोग यह नहीं मानेंगे कि अब तक नेहरू ओर इंदिरा जी के जन्म और मृत्यु से जुड़े स्मृति समारोह खानदानी थे, दूसरे नेताओं को या तो अवसर नहीं मिलता था या मिलता था तो बचा खुचा, जूठन या उच्छिष्ट। नेहरू जी का स्मरण करें। इंदिरा जी को मान दें। देश के इतिहास में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु अति न करें कि उनके प्रति आस्था को आघात लगे और जन विश्वास आहत हो जाय।

अपनी गिरती साख बचाने के लिए राजीव की सरकार, सरकारी प्रचार और प्रसार तंत्र ने ऐसा ऊधम मचा रखा है कि भावना किसी गुप्त भेद की तलाश करने लगी है। सरकारी प्रचार अभियान ने देशवासियों को मजबूर कर दिया है कि वे उनके साथ किए गए छल का स्मरण करें। 14 नवम्बर को दूरदर्शन पर चार वर्ष पुरानी इंदिरा जी की बातचीत देखी सुनी। श्रीमति इंदिरा गांधी के साथ श्रीमती जाकरिया की बातचीत ऐसी थी कि जैसे राजीव के पक्ष में श्रीमति गांधी को स्वर्ग से गवाह बनाकर बुलाया गया हो कि जो कुछ चल रहा है वह सब ठीक है और जो कुछ गड़बड़ है उसके लिए विरोधी दल जिम्मेदार हैं। गरीबी, बेरोजगारी, साम्प्रदायिकता और राजनीति के विविध आयामों की चर्चा का निष्कर्ष यह था कि अब तक तो देश गौरव के शिखर पर होता, एक भी आदमी यहां गरीब, बीमार, बेरोजगार, बेपनाह और अशिक्षित न होता यदि विरोधी दल विरोध न करते तो। साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीय और भाषाई विवाद समाप्त होकर समतायुक्त और आर्थिक गैरबराबरी से मुक्त समाज का निर्माण केवल इसलिए नहीं हो सका कि विरोधी दल संघर्ष की राजनीति चला कर कदम कदम पर बाधाएं खड़ी करते रहे। स्वाभाविक था कि इंदिरा जी की इस आरोपयुक्त व्याख्या से लोगों को व्यथा पहुंचती। यह भी अप्रत्याशित नहीं था कि लोगों को अपने भुगते हुए अतीत का स्मरण आता। बीती बातें जब इन्दिरा जी ने यह कहा था कि विरोधी दल सहयोग की नहीं, संघर्ष की राजनीति करते हैं तो सुनने वालों की याददाश्त 1969 में बंगलौर में आयोजित कांग्रेस कमेटी की उस बैठक से जुड़ गई जहां शीशमहल में इंदिरा जी ने संघर्ष की राजनीति का बीजारोपण किया था। पहले कांग्रेस पार्टी को तोड़ा, अपने साथियों को विरोध में खड़ा किया। अपने ही दल के स्वयं द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रपति पद से उम्मीदवार का विरोध किया फिर संघर्ष का एक ऐसा अप्रतिम अभियान चलाया कि संपूर्ण देश विश्वास के संकट से ग्रस्त होकर कटुता से भर गया। कालेधन, हत्या हिंसा और प्रतिशोध की राजनीति के कदम 25 जून 1975 को देश पर आपातकाल का आरोपण करके ही ठहरे। आपातकाल का वह अंधकार काल इंदिरा जी द्वारा अर्जित संघर्ष की राजनीति का ही दुष्परिणाम था। भ्रष्टाचार के विरुद्ध उठ रही आवाज और चल रहे जनान्दोलन को अपने विरुद्ध मानकर दबाने के लिए आपातकाल जैसे तानाशाही कदम की कोई जरूरत नहीं थी। न्यायपालिका, न्यायाधीशों और न्याय का अपमान करने का पाप कर्म उनसे उनकी संघर्ष की

राजनीति ने कराया था, विरोध पक्ष ने नहीं। रही साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता और भाषायी विवाद की बात तो उसकी आधार शिला विरोधी दलों ने नहीं स्वयं नेहरू जी ने रोपी थी। अल्पसंख्यक बहुसंख्यक की अवधारणा नेहरू जी की सामासिक संस्कृति और नकली सेकुलरिटी की कोख में से जन्मी घिनौनी संतान है। मजहब के आधार पर भारत का विभाजन स्वीकार करने वालों की परंपरा की वारिस इंदिरा जी ने साम्प्रदायिक विष फैलाने का आरोप दूसरों पर लगाकर इतिहास के बंद पड़े उन पन्नों को खोल दिया जहां यह लिखा है कि वोट राजनीति की कांग्रेसी बाध्यता ने देश के 'एक जन' को अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक हिन्दू मुसलमान और ईसाई में बांट कर अनेक जन अनेक संस्कृति और अनेक राष्ट्र की संकल्पना को बल प्रदान किया। इसकी विविधता को विविध राष्ट्रीयता मानने वालों को मान्यता दी। देशवासी पंजाब, नागालैण्ड, मिजोरम और कश्मीर आदि की समस्याओं का विश्लेषण करते हैं तो नेहरू, इन्दिरा और राजीव को कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में उसकी मूल में उपस्थित पाते हैं। क्या यह सच नहीं है कि भिण्डरावाले की सर्जक इन्दिरा जी उसी की साम्प्रदायिक गोली की बलि चढ़ गईं, थीं ? यह तो अभी निकटतम कल की बात है, पूरी तरह इतिहास नहीं पाई है यह घटना।

बेटे राजीव की गवाही में मां इन्दिरा से पुनः कहलवाया गया है कि लोग केवल कमियों की बात करते हैं, उपलब्धियों पर पर्दा डाल देते हैं। अपने सैंतीस साल के शासन में कांग्रेस और इन्दिरा कांग्रेस ने जो कुछ किया वह देश के सामने है। सरकारी प्रचार तंत्र दिन रात सरकार की उपलब्धियों की ढोल पीटता रहता है। जो नहीं हुआ, जो नहीं किया गया, या जो किया जाना चाहिए था उसका उल्लेख क्या इसलिए आवश्यक नहीं है कि देशवासियों के सामने तुलनात्मक तस्वीर उजागर हो सके। आर्थिक प्रगति हुई है, अनाज का उत्पादन बढ़ा है, विज्ञान का विकास हुआ है, किन्तु आर्थिक समृद्धि नहीं आई। अनाज का आयात जारी है। विज्ञान विदेशी तकनीक पर आधारित है। देश स्वावलम्बी नहीं हुआ है।

सरकारी आंकड़े बताते हैं कि इस समय पांच से चौदह वर्ष तक की आयु के बाल मजदूरों की संख्या एक करोड़ छासठ लाख अड़सठ हजार है। यह विधिवत एकत्रित की गई संख्या नहीं है। सरकारी तौर पर नमूने के लिए एकत्रित की गई संख्या है। पन्द्रह करोड़ लोगों के पास सिर छिपाने के लिए छत या छप्पर नहीं है। सरकार लगभग ढाई लाख बंधुआ मजदूरों की मुक्ति का दावा करती है, किन्तु उनको रोजगार देने के प्रश्न पर मौन है। उसे यह भी जानकारी नहीं है कि देश में बंधुआ मजदूरों की संख्या कितनी है ? अभी बीस नवम्बर को रूस के साथ हुए बीस वर्षीय समझौते में मिलने वाले 5445 करोड़ रुपये के ऋण सहित इस समय देशवासियों पर एक लाख इकतालीस हजार पांच सौ पैंतीस करोड़ रुपये का कर्ज है। पिछड़ी और मलिन बस्तियों की बढ़ती संख्या सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर एक दुखद

टिप्पणी है। तीन लाख से अधिक गांवों में पीने का पानी नहीं है। प्राथमिक स्कूलों में टाट पट्टी और श्यापमट्ट नहीं है। कहीं स्कूल की दीवारें हैं तो छत नहीं है, कहीं स्कूल है तो अध्यापक नहीं हैं, अध्यापक हैं तो बच्चे नहीं हैं। बच्चे अपना पेट भरने के लिए काम करें कि पढ़ाई ? इकतालीस साल से अभी 'आपरेशन ब्लेक बोर्ड' योजना बनने की प्रक्रिया में है। सरकार करोड़ों नागरिकों को गरीबी की रेखा के ऊपर उठाने की बात करती है किन्तु आधी से अधिक कंगाल आबादी की दुर्दशा पर मौन साध लेती है। यदि कोई इस ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास करता है तो उस पर राजनीति से प्रेरित होने का आरोप लगाया जाता है। कर्ज और कंगाली में जी रहे देश की इस दुर्दशा के लिए जिम्मेदार कौन है ?

4 दिसम्बर 1988

भारत चीन संबंधों की नाजुक कड़ी

चीन ने अक्तूबर 1962 में भारत पर आक्रमण किया। स्वाभाविक था कि भारत चीन मैत्री टूटती। राजनयिक संबंध बिगड़ते। सीमा विवाद में उलझती। किन्तु छब्बीस साल के इस लम्बे अन्तराल में भारत चीन संबंध फिर सुधरने लगे। राजनयिक संबंध पुनः स्थापित हो गया। व्यापारिक रिश्ते जुड़े। दस वर्ष पूर्व विदेश मंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने उच्चस्तरीय अधिकृत कूटनीतिक आवाजाही आरम्भ की। तब से भारत के कई प्रतिनिघि मंडल चीन और चीन के कई प्रतिनिधि मंडल भारत आ जा चुके हैं। लगभग पैंतीस वर्ष बाद अब भारत के प्रधानमंत्री की चीन यात्रा की तैयारियां चल रही हैं। वार्ता के विषय और समझौते के मुद्‌दों के निर्धारण की प्रक्रिया चल रही है। संयुक्त विज्ञप्ति की भाषा और भावना पर विचार किया जा रहा है। भारत और चीन के बीच होने वाली शिखर वार्ता की ओर देशवासियों की ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिज्ञों की भी निगाहें लगी हुई हैं।

प्रधानमंत्री राजीव की चीन यात्रा का महत्व इसलिए भी बढ़ गया है कि अभी-अभी सोवियत रूस के राष्ट्रपति गोर्बाचोव भारत की यात्रा करके मास्को वापिस गए हैं और चीन के विदेश मंत्री मास्को की यात्रा करके बीजिंग लौटे हैं। भारत के प्रधानमंत्री की चीन यात्रा के बाद जनवरी 1989 में चीन के प्रधानमंत्री का शिखर वार्ता के लिए मास्को जाने का कार्यक्रम बन चुका है।

मनोरंजन यात्रा नहीं

प्रधानमंत्री की चीन यात्रा लक्षद्वीप और अंडमान की यात्राओं की तरह मनोरंजन यात्रा नहीं है। यह यात्रा भारत की सार्वभौमता, मैत्री, एशिया और विश्व राजनीति के संतुलन के संदर्भों से जुड़ी हुई है। दोनों अति प्रचीन राष्ट्र हैं। दोनों की सांस्कृतिक विरासत के सूत्र कई स्तरों पर जुड़े हैं। दोनों एशिया महाद्वीप के महान और विशाल राष्ट्र हैं। विश्व की लगभग दो अरब आबादी इन्हीं दो देशों में रहती है। राजीव की यह यात्रा मास्को, वाशिंगटन, लंदन और पेरिस जाने जैसी यात्रा भी नहीं है। चीन दूर देश का दोस्त नहीं, भारत का निकट पड़ोसी है। उसके साथ भारत का भूगोल ही नहीं भौतिक और अभौतिक नाता भी है।

पचास के दशक में भारत चीन के बीच जब राजनयिक और मैत्री संबंधों की शुरूआत हुई थी तो उस समय की आधारभूमि आज से भिन्न नहीं थी। तब आवश्यकता इस बात की थी कि चीन और मास्को की धुरी न बनने पाए। उसे मास्को और यूरोपीय धुरी से जुड़ने न देकर चीन और भारत की एक सशक्त एशियाई धुरी निर्माण करके विश्व राजनीति का संतुलन भारत के विरुद्ध न जाने देना था। संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के प्रवेश की भारत की मुहिम का मुख्य आधार भी चीन को मास्को की गोद में जाने से रोकना था। 'हिन्दी चीन भाई भाई' का नारा, पंचशील और सहअस्तित्व का समझौता नेहरू जी की चीन और चाऊ की भारत यात्रा का संदर्भ और आधार भी यही था।

किन्तु साठ के दशक में स्थिति बदल गई। पचास के दशक और मालेन्कोव के निष्कासन तक रूस भारत की तरफ से उदासीन था। तब वह चीन को अपना सहज स्वाभाविक भाई मानता था। भारत पर चीनी आक्रमण के समय रूस द्विविधा में था कि वह अपने गुरुभाई कम्युनिस्ट चीन का साथ दे कि लोकतांत्रिक मित्र भारत का। किन्तु उसके बाद चीन धीरे-धीरे मास्को से दूर होता गया और भारत मास्को के करीब आता गया। भारत रूस मैत्री दिन प्रतिदिन प्रगाढ़ होती गई। रूस से चीन के रिश्ते तनावपूर्ण होते गए। ब्रेझनेव की मृत्यु तक चीन-रूस के बीच सार्थक बोलचाल की सम्भावना भी दूर दूर तक दिखाई नहीं देती थी। गोर्बा़चौव के खुलेपन और पुनर्रचना अभियान के कारण विश्व राजनीति में आ रहे बदलाव ने चीन रूस रिश्तों को भी प्रभावित किया है। दोनों एक दूसरे की ओर आकृष्ट हुए हैं। रूस और चीन की मित्रता एशियाई राजनीति को नया आयाम प्रदान करके एक नए समीकरण और शक्ति संतुलन को जन्म दे सकती है। इसलिए भारत के सामने चीन को संयत रखने का प्रश्न एक बार फिर अत्यन्त सशक्त रूप से खड़ा है। अतएव भारत को उन तरीकों की तलाश करनी होगी जहां से मैत्री भी निर्गत हो और चीन को संयत भी रखा जा सके। जहां तक मित्रता करके उसको संयत रखने का भारत का प्रयोग 1962 में असफल हो चुका है अब जबकि भारत चीन मैत्री का चक्र पूरी तरह घूमकर 1950 की स्थिति में पहुंच गया है तो फिर भारत क्या करे ?

भारत के सामने अब केवल तीन रास्ते शेष हैं। पहला आधुनिक शस्त्रों से सुसज्जित सेना और भारत चीन सीमा पर सैनिक शक्ति का विस्तार। दूसरे विश्व कूटनीति में भारत का प्रभावपूर्ण स्थान और तीसरा, अपनी गुटनिरपेक्षता पर आंच न आने देते हुए रूस के साथ विश्वसनीय मैत्री का दृढ़ीकरण। सेना का प्रभाव बढ़ाकर चीन को संयत रखने का प्रयोग कम-अधिक मात्रा में सफल रहा है। अब स्थिति यह है कि भारत पर पुनः हमला करने से पूर्व चीन को एक बार नहीं सौ बार सोचना पड़ेगा। 1965 और 1971 में पाकिस्तान को पराजित करके भारत ने न केवल अपना मनोबल बढ़ाया अपितु भारत की सैनिक सिद्धता देखकर चीन का हौसला भी पस्त

हुआ है। भारत की ओर चीनी विस्तारवाद अन्य कारणों के अलावा साठ के दशक से अस्सी के दशक तक भारत की सैनिक क्षमता के कारण भी थमा हुआ है। किन्तु चीन के आधुनिक अणवास्त्र और अन्तरिक्ष तकनीक के विकास को देखते हुए अब विश्वास के साथ यह नहीं कहा जा सकता कि भारत केवल सेना के माध्यम से चीन को संयत कर पाएगा।

कूटनीतिक तरीका कितना और कहां तक सफल होगा इस प्रश्न का उत्तर एक गंभीर मौन में विलीन हा जाता है। रूस, अमरीका, जापान और पश्चिमी एशिया के देशों के साथ जिस तीव्र गति से चीन अपने संबंध स्थापित कर रहा है, नेपाल और पाकिस्तान के साथ उसका जिस प्रकार का समीकरण उभर रहा है, उसमें से रास्ता निकालने के लिए भारत को बहुत अधिक साहस, संयम और दूरदर्शिता दिखानी पड़ेगी। इसके लिए खतरा मोल लेकर भी मित्रता का नया संतुलित समीकरण बनाना पड़ेगा। भारतीय क्षेत्र में अमरीकी चालबाजी और एशियाई क्षेत्र में रूसी भालू के इस नए परिप्रेक्ष्य में नाच का सुरताल समझ कर चीन की चाल को नाकाम करने की नई रणनीति बनाए जाने की जरूरत होगी।

इस संभावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि समय आने पर रूस और अमरीका दोनों चीन के विरुद्ध भारत के साथ मैत्री करने से कतरा जाएं। ऐसी स्थिति में भारत क्या करेगा।

भावी शिखर वार्ता के समय चीन भारत के सामने अयुद्ध संधि का प्रस्ताव भी रख सकता है। किन्तु वर्तमान संदर्भ में उसका कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि चीन ने अभी तक यह नहीं माना है कि उसने 1962 में भारत पर आक्रमण किया था। उसका कहना था कि उसने तो भारत से अपनी भूमि मुक्त कराने के लिए चीनी मुक्ति सेना भेजी थीं और वह अपना काम करके चीन वापस चली आईं। उसके कुछ सैनिक अपनी चौकियों में अपनी सीमा की रखवाली करने के लिए तैनात हैं। आर्थिक तबाही के बोझ से दबे चीन का स्वार्थ अमरीका, जापान और रूस जिस मात्रा में पूर्ण कर सकते हैं, भारत में वह क्षमता नहीं है।

जहां भारत चीन के बीच सीमा विवाद का प्रश्न है, उसकी चर्चा की संभावना तक पर भारत के विदेश मंत्री नरसिंह राव ने यह कह कर पर्दा डाल दिया है कि बीजिंग शिखर सम्मेलन में सीमा विवाद को लेकर गत छब्बीस वर्ष से चले आ रहे तनाव के शिथिल होने की कोई आशा नहीं है। क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि इस शिखर वार्ता में इस विषय पर चर्चा न हो और अन्य विषयों की सहमति की संयुक्त विज्ञप्ति जारी करके इस विषय को कम से कम एक दशक के लिए टाल दिया जाय। इस आशंका का कारण है कि तिब्बत भारत के साथ सीमा विवाद को सुलझाने की हर चर्चा तिब्बत के अतीत और भविष्य से सहज ही जुड़ जाती है। तिब्बत चीन की कमजोर कड़ी है। भारत के साथ तिब्बत पर चर्चा करने का अर्थ है चीन का स्वयं को

आक्रमणकारी मान लेना और धर्मशाला में आकर बसे तिब्बती शरणार्थियों की समस्या का समाधान बताने को बाध्य होना।

राजीव की चीन यात्रा के पूर्व वातावरण चाहे जैसा बनाया जाए, देशवासियों में चाहे जैसी मानसिकता उत्पन्न की जाए किन्तु सभी का ध्यान सीमा विवाद और भविष्य में चीन को संयत करने के मुद्दे पर ही टिका हुआ है। प्रधानमंत्री की भावी चीन यात्रा का समाचार प्रकाश में आने के बाद से उससे जुड़ी संभावनाओं पर हुई बहस में जो सुझाव दिए गए हैं कि यदि उन पर विचार किया जाता तो भारत चीन को कूटनीतिक अरदब में डाल सकता था। कुछ सुझाव तो चीन के ही तरकस के तीर के समान थे कि शिखर वार्ता निश्चित करने से पूर्व यदि भारत चीन के सामने तिब्बत की आजादी का तुरुप का पत्ता चीन के सामने फेंकता और उसे शिखर वार्ता की पूर्व शर्त के रूप में प्रस्तुत करता तो संपूर्ण पश्चिमी, उत्तरी और पूर्वी क्षेत्र के सीमा निर्धारण का प्रश्न अपने आप खुल जाता। इस विषय में कूटनीतिक क्षेत्रों में यह आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि यदि रूस के साथ शिखर वार्ता की शर्त के रूप में चीन अफगानिस्तान और कम्पूचिया के तुरुप का पत्ता रूस के सामने फेंक सकता है तो भारत तिब्बत की आजादी की तुरुप चाल क्यों नहीं चला ? यदि भारत ऐसा करे तो चीन को इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि चीन, नेपाल और ब्रहमदेश (बर्मा) के बीच की सीमा रेखा जिस मैकमोहन रेखा को मानता है उसे ही भारत चीन के बीच की सीमा रेखा मानने से इंकार क्यों करता है ? ब्रहमदेश और नेपाल के बीच उसी मैकमोहन रेखा को उपनिवेशवादी क्यों बताता है ?

इन दिनों चीन द्वारा शियाचीन और अरुणाचल आदि भारतीय क्षेत्रों में 'वास्तविक नियंत्रण' और परंपरागत सीमाओं के बारे में की जा रही चर्चा का कर्म समझाने की भी आवश्यकता है। ध्यान रहे, रूस का भी सुझाव चीन के इस तर्क की ओर है। चीन की मैत्री प्राप्त करने के लिए रूस भारत चीन सीमा विवाद को सुलझाने के लिए इस सूत्र का उपयोग कर सकता है। इसका परिणाम होगा भारतीय भूमि चीन को सौंप देना। यह कार्य अघोषित, अलिखित और लम्बा मौन साध करके भी कराया जा सकता है।

चीन मैकमोहन रेखा को अमान्य करता है तो उसके जवाब में भारत भी 1954 में चीन के 'तिब्बतीय क्षेत्र व्यापारिक संधि' को यह कहकर बेमानी बता सकता है कि 'चीन का तिब्बती क्षेत्र' नाम का कोई क्षेत्र है ही नहीं। चीनी अधिग्रहण के पूर्व तिब्बत एक स्वतंत्र संप्रभुता संपन्न मध्यवर्ती राज्य था। 1904 के शिमला सम्मेलन के दस्तावेजों पर तिब्बत ने एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में हस्ताक्षर किए हैं।

शिखर वार्ता के लिए चीन जाने के पूर्व राजीव और भारत सरकार के लिए यह बात ध्यान देने की है कि भारतवासियों की रुचि चीन के साथ व्यापारिक समझौते और संधियों में नहीं है। भारतवासियों की रुचि अपनी हारी हुई भूमि चीन से वापस

लेने में है। उन्हें अपने देश की सीमाएं सुनिश्चित और सुरक्षित चाहिएं। माना नेहरू की भूल नाती राजीव तिब्बत की तुरुप चाल चल कर सुधार सकते हैं। आवश्यक है कि भारत तिब्बत को एक बार पुनः यह अवसर प्रदान करे कि चीन को आक्रमणकारी बताकर अपनी आजादी के लिए वह राष्ट्रसंघ के दरवाजे पर दस्तक दे। यदि आवश्यकता पड़े तो दलाई लामा को भारत की भूमि पर अपनी निर्वासित सरकार का गठन करने में भारत सरकार मदद करे तो तिब्बत की मुक्ति के प्रश्न के साथ अपने अक्षय चिन्ह अरुणाचल, लांगजु, बराहोती, नीति, और सिपकी की मुक्ति का प्रश्न भी जोड़ दे। यह तुरुप चाल रूस और अमरीका सहित अन्य देशों को भी कूटनीतिक मैत्री के अपने पन्ने खोलने के लिए बाध्य करेगा और यह पता लग जाएगा कि वर्तमान में बन रहे विश्व कूटनीति के नए समीकरण और मैत्री की मुहिम में कौन किस सीमा तक किसके साथ है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या राजीव में यह राजनीतिक इच्छा शक्ति और कूटनीतिक साहस दिखाने की क्षमता है ?

18 दिसम्बर 1988

केन्द्र राज्य संबंध–एक कोमल तंतु

'मेरा विचार है कि यह सर्वोत्तम होगा कि राज्यपाल राज्य की स्थानीय राजनीति में हस्तक्षेप न करें। वह वहां की राजनीति से जुड़ा न हो। वह एक ऐसा व्यक्ति हो जो राज्य सरकार को स्वीकार हो। वह दलीय संगठन का अंग ना हो। राज्यपाल राजनीतिक क्षेत्र के बाहर के उन व्यक्तियों को बनाना चाहिए जिन्होंने राजनीति में बहुत भाग न लिया हो क्योंकि राजनीतिज्ञ अधिकाधिक अधिकार क्षेत्र चाहेंगे। राज्यपाल ऐसे लोगों को बनाया जाए जो प्रसिद्ध शिक्षाविद् और अपने-अपने क्षेत्रों में अग्रगण्य हों । ऐसे लोग सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन में सहज स्वाभाविक सहयोग करेंगे। ऐसे व्यक्ति पार्टी के व्यक्तियों की तुलना में अधिक दलनिरपेक्ष दिखाई देंगे और तुच्छ संकीर्ण राजनीति में भाग नहीं लेंगे। ख्यातनामा, नैतिक और प्रतिभावान व्यक्ति को सहज सम्मान मिलता है। उसे लोग अपने अभिभावक के रूप में स्वीकार करेंगे।'

माना नहीं किसी ने

संविधान सभा में केन्द्र राज्य संबंध और राज्यपालों की नियुक्ति पर हुई बहस के समय यह संकेत रेखा पंडित जवाहरलाल नेहरू ने खींची थी। किन्तु ये विचार मात्र विचार ही रहे। इनका क्रियान्वयन न नेहरू जी ने किया, न इंदिरा, न ही मोरारजी और राजीव ने ही। एकाध अपवाद के अतिरिक्त 1950 से अब तक जितने भी राज्यपाल नियुक्त किए गए वे या तो पूर्णतः राजनीतिक ही नहीं, कांग्रेस पार्टी के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध रहे हैं या वे नौकरशाह रहे हैं जो केन्द्रीय सरकार के संकेत पर अपने सांविधानिक दायित्व का निर्वाह करते हैं। चुनाव में पराजित कांग्रेसी उम्मीदवारों को राज्यपाल बनाने की परम्परा नेहरू जी ने ही प्रारम्भ की थी। 1957 में काका साहिब गाडगिल, समाजवादी नेता नारायण गणेश गोरे से पूना में चुनाव हार गए तो नेहरू जी ने उन्हें पंजाब का राज्यपाल बना दिया। केरल के थानु पिल्ले को भी राज्यपाल बनाने का कार्य नेहरू जी ने ही किया था। इतना ही नहीं तो राज्यपालों को सम्बद्ध राज्य में कांग्रेस की राजनीति करने की प्रेरणा भी नेहरू जी की ही दी हुई है। 1952 में श्री श्रीप्रकाश ने नेहरू जी के संकेत पर किसान मजदूर पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी की संयुक्त सरकार नहीं बनने दी थी। यह परम्परा अब तक चल ही नहीं रही है इसका

और अधिक विस्तार हुआ है। पहले से और अधिक पुष्ट हुई है। पहले राज्यपाल केवल विरोधी दलों की संयुक्त राजनीति और सरकार को अस्थिर करने का कार्य करते थे और इंदिरा कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों को केन्द्र और प्रधानमंत्री का गुमाश्ता बनाए रखने का काम करते हैं। गत छत्तीस वर्षों के इस प्रयोग के कारण सत्ता समीकरण बना—केन्द्र सरकार महाजन, राज्य सरकारें ग्राहक और राज्यपाल सत्तारूढ़ दल के कारिन्दा।

केन्द्र सरकार के ढिंढोरची

विभिन्न क्षेत्रों के अग्रगण्य व्यक्तियों को राज्यपाल बनाने की परम्परा प्रारम्भ ही नहीं हुई। राज्य सरकारों की सहमति से राज्यपाल की नियुक्ति की प्रक्रिया भी नहीं चली। सूचना को सलाह और सहमति मानकर प्रधानमंत्री अपनी पसंद का व्यक्ति राज्यपाल बनाकर भेजते हैं। पहले केन्द्र ओर राज्य में एक ही दल की सरकार होने के कारण इस ओर ध्यान नहीं गया और कोई विशेष समस्या भी उत्पन्न नहीं हुई। किन्तु जब कई राज्यों में विरोधी दलों की सरकारें बनने लगीं तो इस प्रक्रिया के कारण राजनीतिक संकट बढ़ने लगा। राज्यों की स्वायत्तता और सरकार की संचालन प्रक्रिया मे राज्यपाल एक सक्रिय राजनीतिज्ञ की तरह केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के पक्ष में हस्तक्षेप करने लगा। 1952 में श्री श्रीप्रकाश के प्रयोग को 1967 में डा० सम्पूर्णानन्द ने राजस्थान में जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी की संयुक्त सरकार न बनने देकर दोहराया। सुखाड़िया के नेतृत्व में अल्पमतीय कांग्रेस की सरकार बनवा दी। कुमुदबेन जोशी, रामदुलारी सिन्हा, के० वी० कृणाराव, बरारी, गोविन्द नारायण सिंह नुरूल हसन आदि राज्यपाल अपने-अपने राज्यों और राज्य सरकारों के प्रवक्ता और सांविधानिक अभिभावक नहीं, केन्द्र सरकार के हितरक्षक अभिकर्ता के रूप में कार्य करते हैं। पन्द्रह अगस्त, छब्बीस जनवरी और अन्य समारोहों में अपनी राज्य सरकार की उपलब्धियों की चर्चा न करके इस बात पर बहुत अधिक बल देते हैं कि केन्द्र सरकार और प्रधानमंत्री राज्य के लिए क्या-क्या कर रहे हैं। मानो वे केन्द्र सरकार के ढिंढोरची हों।

तब और अब

तब में और अब में प्रक्रिया और राजनीतिक नीयत की समानता होते हुए भी यह एक बहुत बड़ा अन्तर आ गया है कि कांग्रेसी ही सही, किन्तु बड़े मन और व्यक्तित्व वाले, तपे तपाए लोग राज्यपाल हुआ करते थे। अब ऐसे कस्बाई राजनेता राज्यपाल बनाए जाते हैं जिनकी इंदिरा कांग्रेस और प्रधानमंत्री की हितरक्षा के अतिरिक्त और कोई गति होती ही नहीं। तुच्छ दलीय राजनीति से प्रेरित व्यक्तियों को उच्चस्तरीय राज्यपाल पद देने का ही यह परिणाम है कि केन्द्र राज्य सम्बन्ध टूटने की

सीमा तक तनावपूर्ण हो गए हैं। राजभवन में बैठकर समानान्तर सरकार चलाते हैं। मुख्यमंत्री के साथ शक्ति परीक्षण करते हैं। राज्य के विकास में बाधा पहुंचाते हैं कि केन्द्र सरकार की तुलना में राज्य सरकार सक्षम और प्रभावपूर्ण दिखाई न दे। वे राज्यों को कमजोर बनाकर केन्द्र के मजबूत होने का आभास निर्माण करते हैं।

राज्यपालों और केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की संयुक्त गतिविधियां सांविधानिक व्यवस्था और मर्यादा पर एक दुःखद टिप्पणी हैं। केन्द्र सरकार किसी भी समिति और आयोग की सिफारिश नहीं मानती। राज्यपाल अधिकार निर्धारण समिति ने 1971 में सिफारिश की थी कि संविधान के अन्तर्गत राज्य करना राज्यपाल का कार्य नहीं है। सरकार चलाना मंत्रिपरिषद का काम है। निर्वाचित विधायकों की मंत्रिपरिषद जनता के प्रति उत्तराई होती है। किन्तु समिति की इस सिफारिश को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया गया। केरल में रामदुलारी सिन्हा, आंध्र में कुमुदबेन जोशी, बिहार में गोविन्द नारायण सिंह और नागालैंड में के० वी० कृष्णराव ने यह सिद्ध कर दिया है कि आजकल सरकार मुख्यमंत्री और उनकी मंत्रिपरिषद नहीं राज्यपाल चलाते हैं। सदन में बहुमत से लेकर सरकार की आयु तक का निर्धारण करने का कार्य अब राज्यपालों ने संभाल लिया है। नागालैंड विधानसभा भंग किए जाने के संदर्भ में राज्यपाल के व्यवहार को गुवाहाटी उच्च न्यायालय का निर्णय प्रकाश में न आता तो यह पता ही नहीं चलता कि राज्यपाल इंदिरा कांग्रेस के शस्त्र सज्ज सैनिक और राजनीतिक ढाल की तरह कार्य करते हैं। गृहमंत्री बूटा सिंह द्वारा नागालैंड में राष्ट्रपति शासन लागू किए जाने का संकेत दिए जाते ही राज्यपाल ने विधान सभा भंग किए जाने की सिफारिश कर दी थी। विधान सभा अध्यक्ष द्वारा दल में विभाजन स्वीकार कर लेने को राज्यपाल ने अस्वीकार कर दिया। संविधान की रक्षा करने के लिए नियुक्त राज्यपाल ने संविधान की धज्जियां उड़ा दीं। आंध्र में कुमुद जोशी और केरल में रामदुलारी सिन्हा ने भी यही किया है। किन्तु उन्हें न राष्ट्रपति टोकते हैं, न प्रधानमंत्री रोकते हैं।

सरकारियां आयोग की सिफ़ारिश

केन्द्र राज्य संबंधों का निर्धारण करने के लिए गठित सरकारिया आयोग ने अभी-अभी सिफारिश की है कि यदि केन्द्र राज्य संबंध मधुर और सामान्य बनाए रखने हैं तो राज्यपालों की नियुक्ति राज्य सरकारों की सहमति से की जाय। विरोधी दलों द्वारा शासित राज्यों में केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त न किया जाए। राज्यपाल पार्टी को श्रेय दिलाने वाले व्यक्ति नहीं होने चाहिए कि उनके झरोखे से केन्द्र सरकार राज्य सरकारों का घरेलू दृश्य देखें।

सरकारिया आयोग की रपट पर संसद में बहस तो हुई कि उसकी सिफारिशों को बस्ताबंद करके रख दिया गया। केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच विवादों और

मतभेद के मुद्दों को सुलझाने के लिए अन्तर्राज्यीय परिषद का गठन करने की विरोधी दलों, विशेषकर भाजपा के लाल कृष्ण आडवाणी की सलाह मानना तो दूर रहा, गृह मंत्री ने उसे ध्यान देकर सुना तक नहीं।

इसका परिणाम ? परिणाम यह हो रहा है कि राज्य सरकारें अपनी स्वायत्तता खोती जा रही हैं। केन्द्र सरकार की ग्राहक से अधिक की उनकी हैसियत नहीं है। उनका कार्यकाल केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की राजनीतिक सुविधा असुविधा पर निर्भर है। न वे अपनी प्राकृतिक सम्पदा और वित्तीय संसाधनों का अधिकारपूर्ण उपयोग कर सकते हैं, न प्रशासनिक तंत्र का। नौकरशाही राज्य सरकारों के साथ सहयोग नहीं करती। यह राज्यपालों अर्थात् केन्द्र सरकार के संकेत पर काम करती हैं। केन्द्र और राज्य के बीच विश्वास और हित का संकट पैदा हो गया है। यह संकट केवल राजनीतिक वर्चस्व का ही नहीं, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का भी है। क्षेत्रीयता बल पकड़ रही है। अलगाववाद बढ़ रहा है। राज्यों का सम्यक और समन्वित विकास न होने और क्षेत्रीय असंतुलन के कारण उत्पन्न कुण्ठाएं अलग राज्य की मांग करने लगी हैं। यदि दार्जिलिंग की ओर समन्वित ध्यान दिया गया होता तो गोरखा परिषद का गठन करने की जरूरत न होती। यदि छोटा नागपुर की उपेक्षा न की गई होती तो वनांचल राज्य बनाने का आंदोलन न उभरता। उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों की ओर यदि विशेष ध्यान दिया गया होता तो वहां के लोग उत्तरांचल राज्य की आवश्यकता का अनुभव न करते। यदि प्रधानमंत्री ने अपने चुनाव क्षेत्र को ही देश न मानकर सम्पूर्ण देश को अमेठी, जगदीशपुर, और रायबरेली माना होता तो राज्यों के मुख्यमंत्री केन्द्र के दरवाजे पर भिखारी बने न खड़े होते। यदि केन्द्र राज्य संबंधों पर इसी प्रकार तनावपूर्ण और अविश्वास का माहौल छाया रहा और केन्द्र में सत्तारूढ़ दल अपने प्रति प्रतिबद्ध राज्यपालों के द्वारा इसी प्रकार राज्यों में समानान्तर सरकार चलाता रहा तो वह दिन भी आ सकता है कि राज्य सरकारें और राज्यों की जनता केन्द्र सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके अपने पूर्ण स्वायत्त राज्य की स्थापना की ओर कदम बढ़ा दे। केन्द्र राज्य सम्बन्ध भारतीय गणतंत्र का अत्यन्त ही संवेदनशील और कोमल तंतु है। इसके लिए दल निरपेक्ष होना चाहिए। दल सापेक्षता सम्बंधों को संकट में डालेगी।

1 जनवरी 1989

1988 का अशुभ अंत

भारतीय नव वर्ष अभी आरंभ होना है किन्तु ईस्वी सन् 1988 का अन्त और 1989 का आरंभ हो गया। भारत की दृष्टि में 1988 का आरम्भ मद्रास में इंका के अधिवेशन के साथ हुआ और अन्त राजीव की चीन यात्रा और पाकिस्तान यात्रा से। 'गरीबी हटाओ' के साथ 'बेराजगारी मिटाओ' का नारा जोड़कर राजीव ने इंका की दरबारी राजनीति पर इन्दिरा जी की राजनीति का मुलम्मा पूरी तरह मढ़ दिया था। मद्रास अधिवेशन के बाद राजीव को एकमेवाद्वितीय बताकर उनकी स्तुति शुरू कर दी गई। पूरे वर्ष बोफोर्स के तोपों के सौदे में दलाली की बारूद बरसती रही। पावस अच्छा रहा किन्तु उसमें से विरोधी दलों की फूट का पानी भी खूब बरसा। राजीव के प्रति इंकाइयों के मोहभंग, राजनीतिक मजबूरी और विद्रोह का माहौल बना तो विरोधी दल भी अपनी विश्वसनीयता को स्वयं ही पलीता लगाने का कोई भी अवसर नहीं चूके। अपनी छवि बनाने और इंका को गांधी जी की संस्कृति से जोड़ने के लिए स्वाधीनता की दौड़ और दाण्डी मार्च कराया गया। उपचुनावों में इंका हारी तो पुराने सत्ता के दलालों प्रणव मुखर्जी, विद्याचरण शुक्ल, अंतुले, नन्दिनी सतपथी और चेन्न रेड्डी आदि को इंका में वापस बुलाया गया। महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार के मुख्यमंत्री बदले गए। दो लाख रुपये प्रति घण्टा व्यय करके, प्रधानमंत्री ने जापान, सीरिया, जर्मनी, हंगरी, जोर्डन, यूगोस्लाविया, स्पेन, भूटान चीन और पाकिस्तान की यात्रा की।

झंझावातों से भरा वर्ष

संसद में मानहानि विधेयक पेश कर के समाचार पत्रों की आजादी और विचार स्वातंत्र्य का अपहरण करने का प्रयास किया गया। मानहानि विधेयक वापस लेना पड़ा तो समाचार पत्र पंजीयन विधेयक 1988 संसद में पेश किया गया। जोधपुर के सिख बंदियों की रिहाई, स्वर्ण मंदिर मे काली आंधी कार्रवाई, आतंकवादियों की गिरफ्तारी और मुठभेड़ के बावजूद पंजाब में हत्या, हिंसा ओर आतंक में कोई कमी नहीं आई। सुरजीत सिंह बरनाला को अपने राजनीतिक कार्य के लिए मजहबी सजा भोगनी पड़ी। कानपुर से केरल तक दहेज की आग में कुआरी कन्याएं जलीं ? तीन फरवरी को कानपुर की तीन बहनों —पूनम, कामिनी, अलका और चार नवम्बर को पालघाट

(केरल) की चार बहनों —शान्ता, सुमति, कनक लता और शशिकला ने अपने पिता को दहेज न दे पाने की असमर्थता देखकर एक साथ आत्महत्या कर ली। सैकड़ों बहुएं जली और जला दी गईं। जहांनाबाद सरीखे हत्याकांड भी हुए। प्रेमी अजीत सेठ ने अपनी प्रेमिका इंदु अरोड़ा के दो बच्चों को 24 जून को दिल्ली में जला दिया। दिल्ली के ही राकेश वैष्णवी दहेज के भय से अपनी मासूम सुकुमार बेटी को चण्डीगढ़ में एक पार्क में छोड़ आए। राजीव ने दार्जिलिंग के गोरखा नेता सुवाष घीसिंग और त्रिपुरा के आतंकवादी राखाल से समझौता किया। भारत सरकार ने जितनी बार अर्थव्यवस्था मजबूर होने का दावा किया महंगाई ने उतनी ही ऊंची छलांगें लगाईं। सामाजिक और साम्प्रदायिक द्वेष बढ़ा। हरिजनों और सवर्णों के बीच शत्रुता का बीज बोया गया। मंदिरों में हरिजन प्रवेश को राजनीतिक हुण्डी के रूप में भुनाया । पिछड़े और वनवासी क्षेत्रों का प्रधानमंत्री ने दर्शन दौरा किया। हर जगह एक सी झोंपड़ी, एक से प्रश्न, एक से उत्तर, और एक सा आश्वासन। ऐसा लगा कि एक ही लोकेशन पर फिल्माई गई कोई फिल्म दिखाई जा रही हो। पिछड़े इलाकों में सम्वाद बोलकर राजीव के दिल्ली आते ही वे लोग पहले से अधिक बेचारे हो गए। प्रकृति के प्रकोप से बिहार में भूचाल आया। भयंकर रेल, बस और विमान दुर्घटनाएं हुईं। देश सूखे से उबरा तो बाढ़ के पानी में डूब गया। कई महापुरुषों की जन्मशताब्दियां मनीं और कईयों की मनाई जा रही हैं।

प्रधानमंत्री राजीव दलाली और भ्रष्टाचार का संताप भोग ही रहे थे कि रूस के राष्ट्रपति गोर्बाचोव 'डूबते को तिनके का सहारा बन' कर भारत यात्रा पर आए। वार्ताओं, भाषण, भोज और समझौतों का दौर चला। गोर्बाचौव मास्को वापस गए तो राजीव बीजिंग की शांति यात्रा पर। चीन से वापस आकर पाकिस्तान गए। पाकिस्तान से लौट कर आए तो तमिलनाडु के चुनाव में जुट गए। अर्थात जिस तमिलनाडु में इंका का महाधिवेशन करके राजीव ने 1988 की अपनी राजनीतिक यात्रा का आरम्भ किया था उसी तमिलनाडु में अपने राजनीतिक भविष्य की तलाश में 1988 का अन्त और 1989 का आरंभ किया। अन्त में विजयवाड़ा में इंका विधायक मोहन रंगाराव की हत्या की राजनीतिक हुण्डी भुनाने के लिए इंका समर्थकों ने अग्निकांड और हिंसा करके अपनी उपस्थिति का अहसास कराया। इस हिंसा में 33 निर्दोषों की जानें गई।

सफलता का भ्रम

यह है 1988 का अति संक्षिप्त राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक लेखाजोखा। किन्तु 1988 की महत्वपूर्ण घटना आंकी जायेगी राजीव की चीन यात्रा। इस यात्रा के पूर्व बहुत गंभीर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बहस चली। आशंकाओं की अभिव्यक्ति और संभावनाओं की खोज की गई। राजीव की चीन यात्रा के बाद सफलता की सुख भ्रांतियों का दौर चला। कहा जा रहा है कि 'प्रधानमंत्री राजीव गांधी की चीन यात्रा

सफल रही। देखिए, कितनी देर तक चीन के प्रधानमंत्री भारत के प्रधानमंत्री राजीव का हाथ अपने हाथ में थामे रहे, चीन नेताओं ने किसी भी अवसर पर कभी भी माओत्सेतुंग का नाम नहीं लिया, पंचशील और सहअस्तित्व के सिद्धान्त में आस्था व्यक्त की। सीमा विवाद सुलझाने के लिए संयुक्त कार्यदल बनाने पर सहमति हो गई।

राजीव की चीन यात्रा का यथार्थ छिपाने के लिए शब्दों की दलाली की जा रही है। कहा जा रहा है कि 'जो दृष्टि-सत्य है उसे मत देखिए।' प्रधानमंत्री राजीव की अगवानी चीन के एक अपेक्षाकृत कनिष्ठ मंत्री ने की। उनके स्वागत में बीजिंग की सड़कों पर 1954 में नेहरू जी की यात्रा के समय वाली दर्शनार्थी भीड़ नहीं जमा हुई, उनकी यात्रा के समाचारों को चीन के जनसंचार माध्यमों ने ऊट पटांग ढंग से प्रसारित किया, किन्तु उन सबसे हमें कोई रहस्यमय अर्थ नहीं पढ़ने चाहिएं। ये सारी बातें राजीव की पहली चीन यात्रा में केन्द्रीय महत्व की बातें हैं। असली मसला था चीन जाकर वास्तविक समस्याओं को लेकर वे कितनी जमीन तोड़ सकते हैं ?

उलझे प्रश्न

किन्तु क्या वह जमीन टूटी ? भारत चीन के बीच समस्याओं की वह जमीन कौन सी है ? यह प्रश्न पूछेंगे तो आपको विघ्न संतोषी, चालाक और नाबालिग बताकर बदनाम किया जाएगा। कहा जा रहा है कि 'इस प्रकार का सवाल पूछना एक सार्वभौम राष्ट्र की वयस्कता के विपरीत है, कि वर्तमान को सुखद बनाना है तो अतीत का अपमान और संताप भूल जाओ। अतीत को भूल कर वर्तमान बनाने का सूत्र समझाया जा रहा है। समझौता-शौकीन लोग भारत राष्ट्र की प्रभुसत्ता की सौदेबाजी का औचित्य सिद्ध करने में अपनी तर्क बुद्धि की पराकाष्ठा कर रहे हैं। मात्र संयुक्त कार्य दल बनाए जाने को बहुत बड़ी उपलब्धि बताया जा रहा है। जबकि चीन लेन देन के आधार पर सीमा समस्या का समाधान करने की अपनी रट पर कायम है। सरकारी नीति विशारद और 'स्वतंत्र' बुद्धिजीवी इस सवाल का जवाब देने में यह कह कर कतरा रहे हैं कि 'इस संबंध को भारतीय जनमानस को बच्चों की तरह नहीं बालिगों की तरह सोचना होगा। यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है कि भारत चीन सीमा को दोतरफा समस्या मान लिया है। इस संदर्भ में भारत को अपनी बराबरी का स्वीकार कर लिया है । सीमा के मामले में भारतीय जनता को जितनी जल्दी यह मालूम हो जाये कि चीन का भी कुछ पक्ष है, उतना ही अच्छा !'

राष्ट्रीय स्वाभिमान की ऊर्जा को नाबालिग बताकर देश की भूमि को लेन-देन वाली दोस्ती खरीदने के लिए गंवाने को वयस्कता सिद्ध करने की इस सोच को क्या नाम दें ? जिस 1954 के वातावरण के पुनरागमन का अभिवादन किया जा रहा है उस समय भी हम यह नहीं देख पा रहे थे कि चीन भारत की सीमाओं को कुतर रहा

था। सीमाओं की अनुलंघनीयता, अनाक्रमणता, आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप, समानता और शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की जिस पंचशील संधि पर चाऊ और नेहरू ने 1954 में हस्ताक्षर किए थे, 1962 की 20 अक्तूबर को आक्रमण करके चीन ने उसके परखचे उड़ा दिये थे।

मूल भूमि

भारत चीन संबंधों की मूल भूमि क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्व विदेशमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी लिखते हैं कि 1979 मे चीन जाने का मेरा उद्देश्य वर्षों से ताक पर रखे सीमा प्रश्न को वार्ता की मेज पर लाना और उसका एक ऐसा हल निकालने का प्रयास करना था कि जिस से भारत राष्ट्र के आहत स्वाभिमान और सम्मान को कुछ राहत मिले। यदि तिब्बत को स्वतंत्र रहने दिया जाता तो भारत और तिब्बत के बीच किसी प्रकार का सीमा विवाद ही न पैदा होता। किन्तु साम्यवादी चीन ने 1949 में ही तिब्बत पर अपने पारम्परिक अधिकार के दावे को दोहरा कर उसकी मुक्ति का बाकायदा अभियान छेड़ दिया। भारत सरकार ने तिब्बत में चीन द्वारा सेना भेजने का विरोध किया, बल प्रयोग की निन्दा की, किन्तु चीन ने इसकी रत्ती भर भी परवाह नहीं की। यदि तिब्बत स्वतंत्र रहता तो न तो भारत चीन के बीच कोई सीमा विवाद खड़ा होता और न 1962 का युद्ध होता।

सीमा के संबंध में यदि चीन के कुछ दावे थे तो उन्हें 1949-50 में ही भारत के सामने रखना चाहिए था किन्तु इस समय उसने भारत चीन सीमा को स्थायित्व प्रदान करने की इच्छा का स्वागत किया। जब भारत ने कहा कि भारत और तिब्बत के बीच जो मान्यता प्राप्त सीमा है, वह अलंघ्य रहनी चाहिए तो चीन चुप रहा। सितम्बर 1951 में चीनी प्रधानमंत्री ने भारतीय राजदूत को आश्वासन दिया कि तिब्बत में भारतीय हितों की रक्षा की जाएगी। उन्होंने यह भी कहा कि भारत और चीन के बीच कोई सीमा विवाद नहीं है। 1953 में चाऊ एन लाई ने यह आश्वासन दोहराया कि तिब्बत में भारत के आर्थिक तथा सांस्कृतिक हितों की रक्षा करने में कठिनाई नहीं है। जब उससे कहा गया कि उसके नक्शे में भारत का भू भाग दिखाया गया है तो उसने कहा कि वे नक्शे पुराने और अशुद्ध हैं।

नीयत पर संदेह

1979 में चीन के साथ यह तय हुआ था कि सीमा प्रश्न को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने के लिए वार्ता जारी रहेगी। किन्तु इस बीच सीमा पर यथास्थिति कायम रखी जाएगी और किसी भी प्रकार की गड़बड़ नहीं होने दी जाएगी किन्तु 1980 के बाद से ही उत्तरी सीमा पर चीनी आक्रमण की खबरें आने लगीं। सुमदुरांग चू घाटी में चीन का अतिक्रमण इतना गंभीर था कि भारत सरकार को उसे आक्रमण कह कर

कूटनीतिक स्तर पर विरोध करना पड़ा। सिक्किम को भारत का अभिन्न अंग न मानना भी चीन की नेकनीयती में भरोसा पैदा नहीं करता।

चीन जब लेन-देन के आधार पर समझौते की बात करता है तो हमें समझ लेना चाहिए कि सारा देना भारत को करना है और सारा लेना चीन की तरफ से होगा। क्षेत्रवार समझौता करने के लिए राजी होने की बजाय चीन हमेशा एकमुश्त समझौते पर जोर देता है और लद्दाख पर अपने नाजायज कब्जे को मनवाने के लिए उत्तर पूर्व में नए-नए झंझट खड़े करता रहता है।'

देश के जनमानस में राजीव की चीन यात्रा की सफलता की सुखभ्रांति पैदा करने वाले भारत-चीन सीमा विवाद के इतिहास पर मिट्टी डाल देते हैं। जब तक नेहरू जी चीन यात्रा पर नहीं गए थे उन्हें यथार्थ का अहसास था। भारत चीन तिब्बत के संबंधों का यह यथार्थ 7 दिसम्बर 1950 को लोकसभा में बताते हुए उन्होंने कहा था कि 'किसी भी देश को अपनी सीमा क्षेत्र के बाहर किसी भी इलाके में अपनी प्रभुता का अधिकार जमाने की बात करने का अधिकार नहीं है। कहने का मतलब यह कि तिब्बत किसी भी हालत मे चीन का नहीं है। तिब्बत की जनता की भी अन्ततः यही इच्छा होगी कि इस भावना को मजबूत किया जाए और इसके अवैध संवैधानिक तर्क न दिये जाएं। हालांकि यह एक अलग वैध मुद्दा है कि तिब्बत की जनता अपने अधिकारों की रक्षा के लिए मजबूत है कि नहीं। यह भी एक अलग मुद्दा है कि हम लोग या फिर कोई और तिब्बत को उसके हक दिलाने लायक मजबूत या शक्तिशाली है कि नहीं ? लेकिन यह एक सही और उचित बात है। और मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि चीन सरकार अपनी सीमा से आगे बढ़कर तिब्बत पर अपनी प्रभुता का सिक्का जमा रही है।'

त्रासदी

इसके पूर्व 7 नवम्बर 1950 को सरदार पटेल ने नेहरू जी को एक पत्र लिखकर चीन और तिब्बत संबंधी भारत की नीति के प्रति आगाह किया था कि 'मैंने बड़ी सावधानी के साथ विदेश मंत्रालय तथा पीकिंग स्थित अपने राजदूत के माध्यम से चीन सरकार से पत्राचार किया। मैंने इस पत्र व्यवहार के जरिए चीन सरकार को अपने पक्ष मे राजी करने का प्रयास किया था, पर मुझे यह कहते हुए बड़ा खेद है कि इस प्रयास का कोई परिणाम नहीं निकला। चीन सरकार ने अपने शांतिपूर्ण इरादे का संकेत देकर हमें धोखा देने की कोशिश की। मेरे अपने ख्याल से ऐसे महत्वपूर्ण समय में उन्होंने तिब्बत समस्या के शांतिपूर्ण समाधान के नाम पर हमारे राजदूत के आत्मविश्वास को डिगाने की कोशिश की। मेरे निर्णय के अनुसार चीन की अंतिम कार्रवाई विश्वासघात से थोड़ा ही कम थी। इस मुद्दे की त्रासदी यह है कि तिब्बती हम पर भरोसा करते हैं वे हमसे मार्गदर्शन चाहते हैं। पर हम उन्हें चीनी कूटनीति के

घोटालों और कदाचार से मुक्ति दिलाने में नाकाम हैं।'

बदले में पंचशील सिद्धान्त

भारत चीन संबंधों का गत चार दशकों का इतिहास अभी खोज का विषय नहीं बना है। उसके कई प्रत्यक्षदर्शी अभी जीवित हैं। राजनयज्ञ लेखक और दस्तावेज दोनों बताते हैं कि 'यद्यपि चीन ने भारत की सीमा के बारे में विधिवत कोई आश्वासन नहीं दिया, फिर भी भारत ने अपनी सद्‌भावना प्रकट करने के लिए 29 अप्रैल 1954, को तिब्बत को विधिवत चीन का भाग मान लिया और 1914 की शिमला संधि से उसे जो विशेषाधिकार प्राप्त हुए थे उनका समर्पण कर दिया। इसके बदले में माओ ने भारत के साथ सीमाओं की अनुल्लंघनीयता, अनाक्रमता, आन्तरिक मामलों में अहस्तक्षेप, समानता और शांतिपूर्ण सह अस्तित्व अर्थात पंचशील संधि पर हस्ताक्षर किए।

25 जून 1954 को चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई भारत के राजकीय दौरे पर आए। नेहरू जी ये समझे कि चीन के प्रधानमंत्री भारत के प्रति मैत्री के दूत बन कर आए हैं। जबकि वास्तविकता यह थी कि वे तिब्बत में भारत के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध आश्वस्त होना चाहते थे। चीन के मन में भय था कि अमरीका भारत को फुसलाकर चीन के विरुद्ध अपनी मोर्चाबंदी में शामिल कर सकता है। चाऊ एन लाई ने नेहरू जी को फंसा लिया और भारत इस सीमा तक चीन के साथ चला गया कि उसने तिब्बत में चीनी सैनिक सामग्री भेजने के लिए कलकत्ता के बंदरगाह के इस्तेमाल की अनुमति दे दी।

नेहरू जी 18 अक्तूबर, 1954 को चीन यात्रा पर गए, मगर उससे पहले 17 जुलाई को चीन ने नीती दर्रे के दक्षिण में उत्तर प्रदेश के बाराहोती गांव पर अपना दावा पेश किया और उसके अधिकारियों ने उस पर कब्जा करने के लिए वहां घुसने की कोशिश की। इससे भारत सरकार को समझ लेना चाहिए था कि चीन भारत के साथ अपनी सीमा के विवाद की शुरूआत कर रहा है।

नेहरू का राष्ट्रघात

नेहरू जी की चीन यात्रा के बाद 1955 में 18 से 27 अप्रैल तक वाण्डुंग सम्मेलन के अवसर पर चीन के प्रधानमंत्री ने स्पष्ट कहा था कि 'चीन ने अपने पड़ोसियों के साथ सीमा रेखा अभी तय नहीं की है और वह ऐसा करने के लिए तैयार है।' यह भी स्पष्ट संकेत था कि चीन पंचशील के अंतर्गत जिन सीमाओं की पवित्रता की रक्षा का वचन दे रहा है वे उसने अभी तय ही नहीं किए हैं।

भारत के साथ अपनी सीमाओं का निर्धारण करने के लिए उसकी दोस्ती और शांति पूर्ण सहअस्तित्व के हिमायती चीन ने 8 सितम्बर 1962 को मैकमोहन रेखा को

पार कर लिया। नेहरू जी उस समय राष्ट्रमंडल सम्मेलन में भाग लेने के लिए लंदन गए हुए थे। किन्तु भारत पर आक्रमण का समाचार पाकर भी वे स्वेदश नहीं लौटे। इतना ही नहीं, प्रतिरक्षा मंत्री कृष्ण मेनन भी विदेश की सैर पर निकल गए। विदेश से वापस आकर कोलंबो के लिए प्रस्थान करते समय सेना से मात्र इतना कह गए कि डटे कर मुकाबला करो। उस समय तक चीन की सेनाएं भारत की 20,000 वर्ग मील भूमि पर कब्जा कर चुकी थीं।

वार्ताओं का दौर

1962 में भारत चीनी आक्रमण, दोनों देशों के बीच राजनयिक संबंधों का भंग होना, इंदिरा जी द्वारा पुनः राजनयिक और राजदौत्य संबंधों की स्थापना। 1979 में श्री अटल बिहारी वाजपेयी की चीन यात्रा और तब से अधिकारी स्तर की आठ वार्ताएं साक्षी हैं कि चीन भारत सीमा विवाद सुलझाने के लिए भारत जितना आतुर है, चीन उतना ही उदासीन। चीन समय की शिला के नीचे समस्या को दबा कर लेन-देन के आधार पर समाधान निकालना चाहता है। इस नीति के तहत वह अपनी चाल चल रहा है। चीन के इरादे को स्पष्ट करते हुए श्री नेमीशरण मित्तल ने स्मरण दिलाया है कि 'अंततः 1980 में देंग शियाओ पेंग के शांति प्रस्ताव आए जिनमें कहा गया था कि दोनों राजनीतिक यथार्थ को दृष्टि में रखकर ऐतिहासिक ओर कानूनी दावों के आधार पर सीमा विवाद को अनंतकाल तक घसीटने की 7 नवम्बर 1959 की वास्तविक नियंत्रण रेखा पर लौट जाएं और यथास्थिति बनाए रखें।

इस वर्ष सितम्बर अक्तूबर में चीन के उपप्रधानमंत्री ने तो सारी स्थिति साफ ही कर दी है। उन्होंने कहा है कि वे भारत के प्रधानमंत्री को इसलिए बुला रहे हैं जिससे उन सिद्धान्तों के बारे में कोई समझौता हो सके जिनके आधार पर सीमा विवाद हल किया जा सके। अब बात यथास्थिति के सिद्धान्त पर आ गई है। यह कोई खतरनाक बात नहीं है। कम से कम आज की स्थिति में कि सोवियत संघ और चीन के बीच सीमा विवाद को हल करने के लिए सोवियत संघ ने दोनों देशों के बीच प्राकृतिक भोगोलिक आधार को अर्थात जल प्रवाह के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है जिससे चीन को लाभ मिलने वाला है। भारत के प्रधानमंत्री चीन से कह सकते हैं कि सोवियत संघ और चीन के बीच के सिद्धान्त को भारत और चीन के बीच भी अपनाया जाय। यह वही सिद्धान्त है जिसके आधार पर मैकमोहन रेखा खींची गई थी उसमें दोनों देशों के बीच की सबसे ऊंची पहाड़ी के उत्तर का भाग चीन के पास छोड़कर दक्षिण का भाग भारत को दिया गया था, इससे दोनों देशों की सुरक्षा बनी रह सकती है।'

स्वाभिमान की वापसी की तलाश

सभी भारतीयों की यह कामना है कि भारत के आहत स्वाभिमान को राहत और

उसकी खोई भूमि वापस मिले। लेकिन चीन के तौर तरीकों को देखते हुए भारतीयों को भरोसा नहीं होता। 1954 की ही तरह चीन आज भी शांति और मैत्री की बातें कर रहा है तो तिब्बत में सेना और शस्त्रों का जमाव भी कर रहा है। भारत-चीन सीमा के लद्दाख, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश और अरुणाचल की सीमा पर चीन क्रमशः चौदह हजार पांच सौ और तीस हजार वर्गमील भूमि पर अपना कब्जा और दावा कर रखा है।

चीन ने तिब्बत में पांच लाख से भी अधिक अपने सैनिक तैनात कर रखे हैं। सीमावर्ती इलाके में सैनिक सड़कों का जाल बिछा दिया गया है और हर सैनिक जिले में रक्षक सेनाओं में भारी वृद्धि कर दी गई है। तिब्बत में चीन के 9 सैनिक वायु अड्डे हैं। लगभग 15 राडार केन्द्र हैं और तीन परमाणविक अड्डे भी हैं।

चीन ने आण्डो और गोमो क्षेत्र में परमाणु प्रक्षेपास्त्रों की संख्या बढ़ाने का निश्चय किया है जबकि तिब्बत के 750-800 वर्गमील के इलाके में पहल से ही सौ से अधिक अणु प्रक्षेपास्त्रों की स्थापना कर रखी है। हांगकांग के एक समाचार पत्र 'शिन काओ ' की एक खबर के अनुसार चीन 80 एम० आर० वी० एम (जिनकी प्रहार क्षमता 800 मील है) और बीस आई० बी० एम० (जिनका रेंज 1500 और साढ़े 17 सौ मील है।) का फैलाव नांग चू में कर रखा है। नांग चू ल्हासा से 320 किलोमीटर उत्तर में है। ब्रिटेन के अधिकृत प्रकाशन 'जेंसवेपन सिस्टम' ने खबर दी है कि चीन द्वारा तिब्बत में लगाए गए एम० आर० वी० एम० की क्षमता 2485 किलोमीटर है। नांग चू के सैनिक अड्डे को आधुनिकतम हथियारों और प्रक्षेपास्त्रों से सुसज्जित कर आधुनिकतम बनाया जा रहा है। इस अड्डे पर लगे हथियारों की पहुंच की क्षमता भारत के अलावा दक्षिण पूर्व एशिया के कई देशों तक है।

ये तथ्य, ये इरादे, यह इतिहास और राजीव की चीन यात्रा के संदर्भ में उत्पन्न की जा रही सफलता की सुख की भ्रांति के बीच यदि कहीं कोई तालमेल है तो यह मान लेना चाहिए कि उनकी चीन यात्रा सफल रही। यदि तिब्बत की स्वायत्तता और जनाधिकार की हत्या भारत चीन सीमा विवाद का समाधान है तो राजीव ने अवश्य कोई नई जमीन तोड़ दी है। यदि लेन-देन और समर्पण को मैत्री, शांति, और शक्तिमत्ता मान लिया जाय तो निश्चय ही राजीव ने राष्ट्रीय आत्म सम्मान और भारत की सार्वभौम सत्ता की गरिमा को उच्चतम शिखर तक पहुंचा दिया है। यदि तिब्बत में लगाए गए भारतमुखी चीनी प्रक्षेपास्त्रों का उद्देश्य भारत की भूमि पर शांति की पुष्पवर्षा करना है तो यह मान लेना चाहिए कि तिब्बत पर चीनी दावे को दोहराकर राजीव ने पुराने इतिहास को नए शब्दों में लिखकर भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को विश्वसनीय आश्वासन दिया है। यदि चीनी नेताओं द्वारा मैकमोहन रेखा को उपनिवेशवादी कह कर अस्वीकार कर दिया जाना भारत चीन सीमा विवाद के समाधान में आशा की किरण या रजत रेखा है तब तो भारत चीन सीमा विवाद नाम

की कोई समस्या रह ही नहीं जाती। यदि वास्तविक नियंत्रण रेखा की यथास्थिति ही भारत की भावी सीमा होना है तो राजीव की चीन यात्रा पूरी तरह सफल रही और यह प्रश्न उठाने वाले सचमुच नाबालिग हैं। उन्हें एक सार्वभौम और वयस्क राष्ट्र के देशभक्त नागरिक के नाते जीना और सोचना नहीं आता। किन्तु इसका निर्णय आज नहीं होगा। इसका निर्णय तो 1954 और 1962 की तरह समय ही करेगा कि कौन नाबालिग है और कौन बालिग और कौन यथार्थ की ओर से आंख मूंद कर राष्ट्रीय अस्मिता के साथ सौदेबाजी कर रहा है ? यदि तिब्बत की स्वायत्तता की बात करना बचकाना सोच है तो भारत की सीमा को चीन की इच्छा और इरादे का मोहताज बनाने वाले विचारों और विचारकों को किस श्रेणी की सोच में रखा जाय ?

सर्वमान्य सिद्धान्त

यह न भूलें कि स्वाभिमान भारत का आहत हुआ है चीन का नहीं, भूमि चूंकि भारत की दबी हुई है, चीन की नहीं, अपनी इंच इंच भूमि वापस लेने का सर्वसम्मत संकल्प भारतीय संसद का है, चीन का नहीं। आक्रमण चीन ने किया था भारत ने नहीं। पहले चीन 1949 की स्थिति में वापस जाए। फिर भारत चीन सीमा का निर्धारण सर्वमान्य सिद्धान्तों के आधार पर किया जाए। विश्व शांति और विश्व के बदलते समीकरण के नाम पर भारत को दबाव में डालकर अपनी भूमि गंवा देने के लिए विवश करना राजीव की चीन यात्रा की सफलता का वातावरण बनाना यदि वयस्कता है तो भारत का अनन्तकाल तक नाबालिग रहना ही अच्छा है।

जिस बिन्दु पर 1988 ने अपने स्वर की तान तोड़ी है वह भारत के लिए अशुभ है। यदि सतर्क न रहा गया तो 1989 को बहुत कुछ गंवाना पड़ सकता है। आज के ये शांति और समझौते के झण्डावाहक पूर्व की भांति कल पश्चात्ताप करेंगे, राजीव को कोसेंगे किन्तु तब तक देश बहुत कुछ गंवा चुका होगा।

8 जनवरी 1989

अपराध के राजनीतिकरण की कांग्रेसी कला

जाते जाते 1988 विजयवाड़ा और आंध्र के कई जिलों को मौत और हत्या के दरिया में डुबा गया। दो गुण्डा गिरोहों की अपनी संप्रभुता स्थापित करने की लड़ाई में एक गिरोह ने दूसरे गिरोह के नेता की हत्या करके अपना बदला चुकाया। क्योंकि मारे गए मोहन रंगाराव इंका के विधायक और कुप्पू जाति के थे, इसलिए स्वाभाविक रूप से राजीव की इंदिरा कांग्रेस के कारिन्दों ने अपनी सूखी राजनीतिक रोटी को रक्त में डुबो कर स्वादिष्ट बनाया। इंका के मोहन रंगाराव किसी राजनीतिक या आर्थिक मांग की पूर्ति के लिए अनशन नहीं कर रहे थे। उनकी मांग थी कि उनकी जिन्दगी को खतरा है, सरकार उनकी रक्षा करे। आंध्र सरकार ने दो सशस्त्र सुरक्षा प्रहरी उनको दिए। रंगाराव के जीवन के लिए संकट की गंभीरता को समझ पाने या उसके घनत्व के अहसास में कमी रही होगी, लेकिन उनकी मांग की उपेक्षा नहीं की गई। रंगाराव की राजनीतिक यात्रा, इंका, तेलुगूदेशम और फिर इंका थी। उनकी संदिग्ध गतिविधियों के कारण पूर्व प्रान्तीय अध्यक्ष श्री वेंगलराव ने उन्हें एक पार्टी से निकाल दिया था। आन्तरिक गुटबाजी के दबाव में उन्हें इंका में पुनः वापस लिया गया। क्षेत्रीय और जातीय दादागिरी की प्रभुता स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा ने उनकी जान ले ली।

प्रतिशोध जनित विद्वेष

क्रूर हत्या के कारण मौत का परिणाम करुणा और प्रतिशोध में बदल जाता है। रंगाराव की हत्या में से करुणा भले ही न प्रगटी हो लेकिन प्रतिशोध अवश्य जन्मा है। उसी प्रतिशोध ने नवम्बर 1984 के हत्याकांड का इतिहास आंध्र में दोहराया। हत्या से असम्बद्ध और मासूम लगभग पचास लोग मारे गए। सरकारी और निजी प्रतिष्ठान जलाए गए। जातीय विद्वेष भड़काया गया। राजनीतिक बदला लेने का माहौल बनाया गया। गृहयुद्ध की धमकी दी गई। केन्द्र सरकार के वरिष्ठ मंत्री इंका के केन्द्रीय और प्रान्तीय नेता विजयवाड़ा की आग पर अपनी राजनीतिक रोटी सेंकने और हत्या के खून में अपनी गोटी लाल करने विजयवाड़ा भेजे गए। राज्य सरकार ने उपद्रवग्रस्त इलाकों में सुरक्षा बल और सेना तैनात करने का अनुरोध किया तो प्रथमतः उसे अनसुना कर दिया गया। हैदराबाद से विजयवाड़ा जाने के लिए बसों में बैठ गए केन्द्रीय सुरक्षा बलों को अपनी बैरकों मे वापस जाने का निर्देश दिया गया तो वे बसों

से उतर कर बैरक में चले गए। विजयवाड़ा और उसके आसपास युवा इंकाई अपराधी तत्वों के सहयोग से लूटपाट करते रहे, राजीव की केन्द्रीय सरकार रामाराव की राज्य सरकार के बदनाम हो जाने तक हत्या और आगजनी का आनन्द लेती रही। केन्द्रीय मंत्री इंका के कार्यालय में बैठकर योजनाबद्ध ढंग से हिंसा कराते रहे।

आंध्र में हुए हत्याकांड का सर्वाधिक दर्दनाक पहलू यह है कि इंका के एक वरिष्ठ नेता ने दक्षिण भारत की राजनीतिक समीक्षा करते हुए कहा कि 'रामाराव को हमने हिंसा की राजनीति के पिंजड़े में बंद कर दिया है। खम्मा के खिलाफ कप्पू जाति को खम्म ठोंककर खड़ा कर दिया है। रामाराव को आंध्र में बांधकर रख देने से अब वे तमिललाडु के चनाव को प्रभावित नहीं कर सकेंगे। हर जगह विजयवाड़ा में उनके दल का हाथ होने की सफाई देते घूमेंगे। जब तक देशवासियों को पता चलेगा तब तक तमिलनाडु के चुनाव सम्पन्न हो चुके होंगे, और समय के साथ साथ देशवासी सब कुछ भूल जायेंगे।'

मोहन रंगाराव की हत्या होने के बाद तेलुगू देशम के कई लोग फरार हैं। देवीनेनी नेहरू गिरोह अपना प्रभाव क्षेत्र बनाए रखने के लिए हर संभव प्रयास कर रहा है। नेहरू गिरोह ने रंगाराव गिरोह का कांटा जिस कांटे से निकाला है, रंगाराव गिरोह भी उसी कांटे से नेहरू गिरोह का कांटा निकालने का प्रयास पहले ही कर चुका है। भूमिगत अपराध जगत की यही संस्कृति और तकनीक है। पुलिस और प्रशासन इसीलिए होते हैं कि इस भूमिगत संसार के लोगों पर नजर रखें। इस हादसे का एक दुखःद और चिन्ताजनक पक्ष यह है कि भूमिगत संसार के अपराधियों की प्रतिद्वंद्विता को राजनीतिक रंग दिया गया। हत्या, मौत अग्निकांड और अपराधिकर्मियों की शत्रुता का राजनीतिक लाभांश लूटने का सुनियोजित प्रयास किया गया।

यह राजनीति भी बहुत विचित्र चीज है। राजनीति का अपराधीकरण कर दिये जाने से उसका वैचित्र्य और अधिक बढ़ जाता है। अपराध का राजनीतिकरण करने की कला कोई इंका से सीखे। इस कला पर उसका एकाधिकार है। इंकाई इस विधा के विशेषज्ञ हैं। इस विधा में पारंगत होने की कांग्रेसी साधना का इतिहास बहुत लंबा है।

देश की आजादी की लड़ाई के पूर्व और आजादी प्राप्त होने के बाद ऐसी अनेक घटनाएं और ऐसे अनेक हत्याकांड हुए हैं, कांग्रेसियों ने खुले आम जिनकी राजनीतिक हुण्डी को भुनाया है। भारत की आजादी की लड़ाई के समय और विभाजन के बाद की विभीषिकाओं की पुरानी पूरी कहानी विस्तार से बता पाना संभव नहीं है, किन्तु इस प्रक्रिया की पुरातनता का अनुमान लगाने की सुविधा के लिए महात्मा गांधी हत्याकांड का उल्लेख किया जा सकता है। महात्मा गांधी की गोडसे द्वारा की गई हत्या के पूर्व मेरठ में हुई कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में यह चिन्ता व्यक्त की गई थी कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ लोकप्रिय हो रहा है। यदि उसकी बाढ़ रोकी न गई तो यह कांग्रेस को डुबा देगी। गांधी हत्याकांड ने चिन्तित कांग्रेसियों को चिन्तामुक्त होने का

अवसर प्रदान किया। नेहरू जी ने गांधी जी की हत्या करने के आरोप में संघ पर प्रतिबंध लगा दिया। एक राष्ट्र भक्त संस्था को हत्यारों का गिरोह सिद्ध करके अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के इस कांग्रेसी षड्यंत्र का जब देशवासियों को पता चला तब तक बहुत देर हो चुकी थी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अपनी निर्दोषता सिद्ध करने में लगभग दो दशक लगे। इस बीच गांधी भक्तों ने उस मुस्लिम लीग को गले लगा लिया जिसने भारतमाता का गला काटकर भारत की सीमा पर स्थाई शत्रु पाकिस्तान का निर्माण किया था। किन्तु देशवासियों ने इसका हिसाब कांग्रेस से नहीं मांगा। उन्होंने कांग्रेस के इस कथन पर विश्वास कर लिया कि केरल और दक्षिण भारत के मुस्लिम लीग उस मुस्लिम लीग से भिन्न है जिसने देश का विभाजन कराया था। लेकिन मुस्लिम लीगियों ने तत्काल यह कहकर इसका खण्डन कर दिया था कि यह वही जिन्ना की मुस्लिम लीग है। उसकी नीतियां और सिद्धान्त भी वही हैं। राष्ट्र पिता कहे जाने वाले गांधी जी की हत्या जन्य राष्ट्रीय शोक संताप का राजनीतिक लाभ उठाने का यह सिलसिला विजयवाड़ा के हत्याकांड तक सतत रूप से जुड़ा हुआ है।

उनका अपराध

इंदिरा जी की हत्या तो अभी कल की घटना है। केवल चार वर्ष हुए हैं उसे। आज की युवा पीढ़ी ने उसे अपनी आंखों से देखा ही नहीं, शरीर और मन से भोगा भी है। क्या गुनाह किया था उन हजारों लोगों ने जिन्हें 'इंदिरा माता जिन्दाबाद' और राजीव भैया जिन्दाबाद का नारा लगाने वाले इंकाई युवकों और असामाजिक अपराधी गुंडा गिरोहों ने पैट्रोल छिड़ककर जला दिया, छुरा भोंक कर मार दिया। इंदिरा जी की हत्या में प्रत्यक्ष हाथ होने के आरोपी और उनके सुरक्षा प्रहरी सतवन्त सिंह और केहर सिंह अभी तक जीवित हैं। न्याय पाने की कोशिश कर रहे हैं। कई छिपे तथ्य सामने आने को हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने उनको फांसी पर लटकाए जाने का आदेश रोक दिया है। लेकिन इंदिरा जी की हत्या तक से अनजान लोगों को किसी अदालत में जाने का अवसर भी नहीं दिया राजीव इंका के राजनीतिक गुंडों ने।

यह बात केवल यहीं तक नहीं रुकती। हत्या, हिंसा, और अग्निकांड का राजनैतिक लाभ उठाने की विधा इंकाइयों को विरासत में मिली है। इंदिरा जी का शव देश के कोने कोने में फिल्म के द्वारा घुमाया और दिखाया गया है। मासूम बेटे के लिए मां की मौत और हत्या के नाम पर वोट मांगाा गया। इंदिरा जी की हत्या के बाद राष्ट्रीय शोक के तेरह दिन बड़ी कठिनाई से पहाड़ जैसे क्षणों की तरह बीते थे इंकाइयों के लिए। सिखों के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी साम्प्रदायिक उन्माद, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को चीरकर उसे जोड़ने का राजनीतिक छल 1985 के लोकसभा चुनाव में कुछ कम नहीं हुआ। उस चुनाव में चार सौ से अधिक सीटों पर इंका की विजय

राष्ट्रीय समझ की नहीं, साम्प्रदायिक उन्माद और प्रतिशोध की राजनीति की विजय थी। इस प्रक्रिया का गरीबी, बेरोजगारी, हरिजन हत्याकांड, राजनीति, समझौतों, सूखा, बाढ़, भूकम्प, रेल, बस, विमान दुर्घटनाओं, महामारी, बहू दहन, बलात्कार, भ्रष्टाचार, घूस, दलाली, सांप्रदायिक, भाषाई क्षेत्रीय विद्वेष और अपहरण तक का समान रूप से राजनीतिक लाभ के लिए प्रयोग किया जा रहा है।

सचमुच यह विधा कांग्रेस कुल की बपौती है। कांग्रेसी कुनबे की बगुलाभगत राजनीति का नमूना देखिए। विरोधी दल पंजाब के आतंकवादी हत्याओं की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करने के लिए बंद, धरना और प्रदर्शन करते हैं तो छुटभैये कांग्रेसियों की बात छोड़िये, प्रधानमंत्री जी सीधा आरोप लगाते हैं कि विरोधी दल पंजाब में हो रही हिंसा, हत्या और राष्ट्रीय एकता पर आए संकट का राजनीतिक लाभ उठाना चाहते हैं।

हरिजनों की सामूहिक हत्या, हैजे की महामारी में हजार मौतों, बाढ़, अकाल और सूखे से पीड़ित लोगों, गरीबी की मार से मर रहे गरीबों, सांप्रदायिक दंगों, असामाजिक गुण्डागर्दी, बढ़ती कीमतों , रुपये के घटते मूल्य, दिवालिया अर्थव्यवस्था सरकारी बजट की कमियां, हरिजनों, और पिछड़े वर्ग के साथ भेदभाव अशिक्षा, भाषाई शत्रुता, भ्रष्टाचार, जांच आयोग की जांच रपटों के प्रकाशन, न्यायपालिका के सम्मान, संसद की प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय अस्मिता के जुड़े सवाल उठाए जाने को प्रधानमंत्री, गृहमंत्री, उनके सांसद, विधायक और इंकाई छुठभैये राजनीति प्रेरित बताकर समस्याओं का राजनीतिक लाभ उठाने का दूषित इरादा सिद्ध करते हैं। अर्थात वे चाहते हैं कि इंका के प्रधानमंत्री और इंकाई देश को तोड़ें तो देशवासी चुप रहें। हरिजन हत्या और बलात्कार हो तो मुंह न खोलें। अकाल, सूखा, और बाढ़ आए तो हरिजनों की पीड़ा को मुखर न करें। दलाली और भ्रष्टाचार के प्रश्न पर मौन साध लें। सांप्रदायिकता की समस्या का समाधान करने का अनुरोध न करें। महामारी में हजारों लोग मर जाएं, इंकाई गुण्डे मासूम नागरिकों की हत्या करे दें, तस्कर और काले धन वालों को सरकारी संरक्षण मिले, विमान अपहर्ताओं को राजनीतिक प्रतिष्ठा दी जाए, भारतीय फुटपाथों पर देश के नौनिहाल गर्मी, वर्षा और ठण्ड की मार सहते पड़े हों तो कोई सांस तक न ले। यदि कोई ये प्रश्न पूछेगा, यदि कोई सरकारी असफलता के विरुद्ध आंदोलन करेगा, यदि कोई देशवासियों को राजनीतिक प्रशिक्षण देगा, यदि कोई जन्माधिकारों की बात करेगा तो उसे तुच्छ राजनीति से प्रेरित देश के संकट का राजनीतिक लाभ उठाने वाला राष्ट्र का शत्रु घोषित कर दिया जाएगा ?

राजनीतिक लाभ

क्या होता है राजनीतिक लाभ उठाना ? विरोधी दलों और मतदाताओं का लोकतांत्रिक दायित्व और अधिकार क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर राजीव की मां

श्रीमति इंदिरा गांधी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में हुए नारायणपुर काण्ड के प्रकरण और बिहार बेलछी कांड के समय दे चुकी हैं।

नारायणपुर जाकर प्रधानमंत्री श्रीमति इंदिरा गांधी ने कहा था कि इस घटना का राजनैतिक लाभ उठायेंगी। अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी की असफलता का राजनीतिक लाभ उठाना लोकतांत्रिक सत्कर्म है। नारायणपुर का लाभ उठाकर उन्होंने बनारसी दास गुप्ता की सरकार को भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया था। बिहार के बेलछी हरिजन हत्याकांड का राजनैतिक लाभ उठाने के लिए 1977 में पराजित इंदिरा जी बरसते पानी में हाथी पर सवार होकर बेलछी गई थीं। वहां उपस्थित लोगों के बहाने समस्त देश से कहा था कि देख लिया मुझे हराने का नतीजा। 1980 के चुनाव में प्याज की बढ़ती कीमतें और देश के सुरक्षा कोष में दिए गए सोने और मंगलसूत्र को बेच देने का निराधार आरोप लगाकर देशवासियों की भावनाओं का राजनीतिक शोषण विरोधी दलों ने नहीं, इंदिरा जी और उनके कुनबे ने किया था।'

1988 जाते जाते राजीव के इंदिरा कांग्रेसियों ने उनके राजनीतिक चरित्र को एक बार फिर उखाड़ दिया। जो लोग मार दिये गए वे तो मुक्त हो गए। जो लोग इंका और अपराधी गिरोहों द्वारा लगाई गई आग में जला दिए गए वे अब प्रत्यक्ष अपनी व्यथा कथा बताने नहीं आएंगे। लेकिन हमारा अपना अहसास तो हमारे पास है। हमारी अपनी आंखें भी तो कुछ देख रही हैं।

15 जनवरी, 1989

न्याय की राजनीतिक हत्या

अतिशय दुख और अतिशय सुख के क्षणों में व्यक्ति केवल सत्य बोलता है। सत्य के अतिरिक्त उसके मन में और कोई बात आती ही नहीं। ऐसे क्षणों में उसे अपनी अस्मिता का भी अहसास नहीं रहता। इंदिरा गांधी हत्याकाण्ड के अपराध में फांसी के फंदे में टांग दिए गए केहर सिंह, सतवन्त सिंह, और हत्या क अभियोग से मुक्त कर दिए गए बलबीर सिंह के साथ जो कुछ हुआ है उस पर न्यायिक प्रक्रिया की समग्रता के संदर्भ मे विचार किया जाना चाहिए। सतवंत सिंह को कुछ और कहना था, वह कह नहीं पाया, इसका उसे दुख तो था लेकिन दया की भीख नहीं मांगी, वह मौत का दण्ड भोगने के लिए मन से तैयार था, इन्दिरा जी की मौत उसकी ही गोली से हुई थी कि नहीं, यह और बात है। लेकिन हत्या के समय वह वहां मौजूद था। यदि भारत-तिब्बत सीमा सुरक्षा के उन दो जवानों पर मुकदमें की जांच पड़ताल होती, जिन्होंने मुख्य हत्यारे बेअंत सिंह को गोली मारकर मार डाला था तो हो सकता था कि इंदिरा हत्याकाण्ड संबंधी कुछ ऐसी साजिशों और शातिरों का पता चलता, जिनके कारण इंदिरा जी की हत्या की गई और जो अभी ने प्रकाश में नहीं आए हैं।

अहम् प्रश्न

केहर सिंह, सतवंत सिंह की फांसी और बलबीर सिंह की मुक्ति और मुकदमे के साथ कुछ अहम प्रश्न जुड़े हैं। प्रत्यक्ष मौत के सामने खड़े केहर सिंह के मुंह से भारत राष्ट्र के राष्ट्रीय समाज के मन का सत्य बोलता था। वह सत्य जिसे झुठला कर पंजाब के आतंकवादी और दिल्ली दरबार के संस्कृति से जुड़ी राजनीति आत्मप्रवंचना द्वारा देश को बांटने और तोड़ने का कार्य जानबूझकर और कभी अनजाने किया करती हैं। केहर सिंह के इस अन्तिम वक्तव्य में उसकी 'सिखी' और हिन्दू समाज के प्रति एकात्मभाव दोनों मुखर हो उठे थे कि 'किसी सिख के लिए इससे बड़ा गौरव और कोई नहीं हो सकता कि वह अकाल तख्त ओर हरीमन्दिर साहब के लिए अपनी जान दे दे। मेरी इच्छा है कि मैं बार-बार जन्म लूं और इस उद्देश्य के लिए मरूं। गुस्से या दुख में किसी निर्दोष व्यक्ति से बदला न लें। कोई व्यक्ति ऐसा काम न करे जिस से कौम का नाम बदनाम हो। किसी की हत्या न की जाए। हिन्दू सिखों के गौरव हैं। उनकी रक्षा करना प्रत्येक सिख का कर्त्तव्य है। गुरुओं द्वारा किए गए महान

त्यागों को स्मरण रखें। मैं उन लोगों का आभारी हूं जिन्होंने इस कठिन समय में मेरा साथ दिया। उच्चतम न्यायालय द्वारा मेरे विरुद्ध किए गए निर्णय पर मुझे कोई खेद नहीं है।'

इस वक्तव्य में आक्रोश नहीं, अहसास है। प्रतिक्रिया नहीं, प्रतीति है। अकाल तख्त के प्रति आस्था और उसके मूल उद्देश्यों का दस्तावेज है। केहरसिंह का यह मृत्यु वक्तव्य! यह भय-वश नहीं, हृदय की अतल गहराई में से निकली भावना है। उस समय केहर सिंह भयमुक्त थे। मौत सामने खड़ी थी। मरना निश्चित था। ऐसे क्षण केवल सत्य ही शब्द बनकर बाहर निकलता है। और वह सत्य केहर सिंह के मुंह से जीवन और मृत्यु के उस क्षीण अन्तराल के समय काल-प्रश्न क उत्तर के रूप में प्रगटा कि हिन्दू-सिखों के गौरव हैं, इस गौरव की रक्षा करने के लिए अकाल तख्त और हरिमंदिर साहब के प्रति जन्म-जन्मांतर समर्पित होते रहना हर सिख की साध होनी चाहिए। केहर सिंह की यह अन्तिम इच्छा 'अकाल पुरुख' के आदेश जैसा है। यह सिखी का उद्देश्य स्पष्ट करता है।

दूसरे अभियुक्त बलबीर सिंह अभियोग से बरी हुए तो भारतीय न्यायपालिका और न्याय की पताका गौरीशंकर-शिखर से भी ऊपर आकाश में लहरा उठी। सर्वोच्च न्यायालय में प्रतिष्ठित न्याय के देवता की परिक्रमा की गई। न्याय को भरोसा मिला कि यदि कोई अन्याय करेगा तो निर्णय का कवच उसको बचा लेगा।

लोकतंत्र की गरिमा

इंदिरा गांधी हत्याकाण्ड के संदर्भ में लोकतंत्र की महिमा भी उजागर हुई कि कोई हत्यारा ही क्यों न हो, उसे अपना बचाव और पक्ष प्रस्तुत करने का पूरा अवसर और अधिकार है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय भारत के राष्ट्राध्यक्ष को भी निर्देश दे सकता है कि वह संविधानिक प्रक्रिया का उल्लंघन न करके संविधान प्रदत्त अपने अधिकारों का उपयोग करे। न्यायालय के ही आदेश से फांसी और मौत का मनुष्य द्वारा निश्चित दिन और समय भी बदला और टाला जा सकता है। मनुष्य को न्याय पाने का बार-बार अवसर केवल लोकतंत्र में ही मिल सकता है। समाज, शासन, शासनाध्यक्ष और राष्ट्राध्यक्ष द्वारा किये गय न्याय-अन्याय की खुली समीक्षा निर्णय और आदेशों तथा उनके गुण-दोष पर सार्वजनिक बहस केवल लोकतंत्र में ही हो सकती है। यह तानाशाही किसी एकाधिकारवादी शासन या अधिराज्य का गुणधर्म नहीं है। इसीलिए तो इसे हजार व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ माना गया है। जीवन और मृत्यु के बीच इतने लंबे संघर्ष का अवसर इतने गलियारे, इतने अवरोध और किसी व्यवस्था मे नहीं है कि मौत सामने और समीप खड़ी होकर भी जिन्दगी को जब चाहे तब तरीके से छू तक नही पाती। न्यायपालिका लोकतंत्र के इस महिमामय धवल चन्द्र में कहीं-कहीं जो दाग दिखाई देते हैं वे लोकतंत्र के नहीं, इस व्यवस्था के संचालकों के

मन, उनकी मानसिकता, परिस्थितिजन्य भटकाव, प्रतिशोध की भावना और सत्ता-राजनीति की तुच्छता के दाग हैं। न्याय ओर निर्णय जब कानूनी तकनीक ओर व्यवस्था का बंदी बन जाता है तो वही होता हे जो केहर सिंह के विषय मे हुआ। सब कुछ करने के बाद भारतीय न्यायालय और न्यायाधीश कानून के तकनीकी अंधकार से उबर नहीं पाए। कानून और न्याय के स्तर पर समान व्यवहार नहीं किया गया। परिस्थितियों और राजनीतिक व्यवस्था के दबाव मे वे दस्तावेज नहीं देखे, उन साक्षियों को नहीं सुना जो यह सिद्ध कर सकते थे कि इंदिरा गांधी की हत्या से केहर सिंह का दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं था।

इंदिरा गांधी हत्याकाण्ड मुकदमे में केहर सिंह का मामला एकदम भिन्न है। वह हत्या स्थल पर उपस्थित नहीं था, उसके विरुद्ध कोई दस्तावेजी प्रमाण नहीं था, उसका पूर्व व्यवहार भी संदेहजनक नहीं था, केवल बेअंत सिंह की पत्नी विमल खालसा ने यह कह दिया कि केहर सिंह उसके घर आता-जाता था और बेअंतसिंह से बातें किया करता था, मात्र इतने को पुष्ट प्रमाण मान कर उसे इंदिरा जी की हत्या का अपराधी घोषित करके मौत की सजा दे देना कहां का और कैसा न्याय है?

जवाब की तलाश

केहर सिंह को फांसी दिए जाने के संदर्भ में उठ रहे संदेहों का निराकरण न किया जाना लोकतंत्र का अनादर और लोकमानस को निराश करेगा और न्यायपालिका को न्याय की हत्या करने के अपराध के कटघरे में खड़ा कर देगा। संपूर्ण देश के मन में घुमड़ रहा यह सवाल जवाब पाने की प्रतीक्षा में है कि इंदिरा गांधी की हत्या की साजिश और अभियुक्तों की जांच करने के लिए गठित ठक्कर-नटराजन आयोग ने अपनी रपट में यदि साजिशों और शातिरों का उल्लेख किया है तो वह साजिश क्या है और वे शातिर कौन हैं? क्या आयोग ने केहर सिंह को साजिश मे शामिल बताया है? इंदिरा गांधी की हत्या के कारणों को गोपनीयता का अभेद्य लौह कवच क्यों पहना रखा है। केहर सिंह के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं था तो भी उसे फांसी क्यों दी गई? और 1984 में इंदिरा जी की हत्या के बाद हुए हत्याकाण्ड की जांच के लिए गठित रंगनाथ मिश्र आयोग की रपट का अध्ययन करके जैन बनर्जी समिति ने जिन अपराधियों पर कार्रवाई करने की सिफारिश की थी, उन्हें क्यों छोड़ दिया गया। यदि केहर सिंह का बेअंत सिंह से संबंध था, उसके यहां आता जाता था तो बेअंत सिंह के मित्र, रिश्तेदार और उसके यहां आने-जाने वाले और भी लोग होंगे, इस न्याय और निर्णय के अन्तर्गत उन सबको अपराधी ठहरा कर फांसी क्यों नहीं दे दी गई? केहर सिंह का प्रकृति प्रदत्त जीवन जीने का सहज अधिकार छीन लेना न्यायाधीशों के विवेक और न्याय की प्रक्रिया पर एक भद्दा ओर बदनुमा दाग है। इससे न्यायपालिका की धवलकीर्ति धूमिल हुई है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने ही इस निर्णय

को स्वयं नकार दिया कि 'फांसी की सजा दुर्लभ मामलों में से सर्वाधिक दुर्लभ मामलों मे दी जानी चाहिए। क्या केहर सिंह का मामला सर्वाधिक दुर्लभ मामला था? एक अर्थ में अवश्य ही वह सर्वाधिक हो सकता है कि उसके विरुद्ध लगाए गए आरोप दुर्लभता की सीमा तक निराधार और काल्पनिक थे। शायद उसके विरुद्ध साक्ष्य और सबूत की दुर्बलता के कारण ही फांसी की सजा दी गई।

इसी कारण देशवासियों और न्यायिक प्रक्रिया से जुड़े लोगों के मुंह से समवेत स्वर में यह आवाज निकली कि 'किसी निर्दोष व्यक्ति को फांसी पर चढ़ाना किसी भी रूप में राजनीतिक हत्या से कम नहीं है। केहर सिंह को नहीं, न्याय को फांसी के फंदे में लटका कर मौत की सजा दी गई है।' इसी कारण केहर सिंह का बेटा राजिन्दर सिंह फांसी और मौत के उस माहौल में बेचैन होकर बोला था, 'क्या करें न्यायाधीश! अब तो राजीव ही एक मात्र न्यायाधीश हैं। उनकी मां मारी गई। मैं नहीं जानता था कि उन्हें किसने मारा?'

हम यह भी नहीं जाने कि किसी एक सिख के अपराध के लिए वह सभी सिखों से बदला लेना चाहते हैं। लेकिन सिखों के साथ यह पहले भी हुआ है, आज भी हो रहा है और ऐसी ही आसार रहे तो आगे भी यह होता रहेगा।' केहर सिंह को फांसी दिए जाने को अमानुषिक और न्यायिक हत्या बताया गया है। कई संवेदनशील लोगों ने यह भी कहा है कि 'राष्ट्रीय सद्भावना बनाने का एक और अवसर गंवा दिया गया।' यह कार्य राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री कर सकते थे। ऐसा करने का आधार भी था। किन्तु यह समयोचित कार्य न करके राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री ने मासूमियत और निर्दोषिता को बागी बनने के लिए विवश कर दिया। राष्ट्रपति जी ने यदि राजनीतिक नहीं, अपने मानवीय और राष्ट्रीय विवेक से काम लिया होता तो एक साक्ष्यविहीन अभियोग में फंसाए गए एक निर्दोष व्यक्ति को क्षमा दान देकर उसकी प्राण रक्षा का प्रभुप्रदत्त कर्तव्य का पालन करने का पुण्य कर्म किया होता। यदि इंदिरा जी की हत्या अमानुषिक थी तो उस हत्या से पूरी तरह असंबद्ध किसी निर्दोष को मौत की सजा देने का निर्णय और उस गलत निर्णय का अपने अधिकारों और विवेक का उपयोग करके परिष्कार न करना क्या उससे भी बड़ा जघन्य और अमानुषिक अपराध नहीं है?

न्याय के प्रति अपराध

इस सन्दर्भ में ध्यान देने की बात यह भी है कि सतवन्त सिंह को क्षमा दान देने की मांग किसी ने नहीं की, स्वयं सतवंत सिंह ने भी नहीं, वह कुछ नए तथ्य् प्रस्तुत करने का मात्र अवसर चाहता था। बेअन्त सिंह को मार दिया गया था, बलबीर सिंह को मुक्त कर दिया गया था, और केवल केहर सिंह को दी गई सजा को लेकर देववासी उद्वेलित हुए, यदि पंचों में परमेश्वर और जनता में जर्नादन होने की भारतीय मान्यता में भगवततत्व है तो केहर सिंह को दी गई फांसी ईश्वरीय सृष्टि, 'सहज न्याय

और प्रत्यक्ष ईश्वर के प्रति निश्चित रूप से अपराध है। अन्यथा संपूर्ण देश इस निर्णय और न्याय को अन्याय और आमनुषिक होने की संज्ञा प्रदान न करता। देश का सामूहिक विवेक किसी भी व्यवस्था, प्रक्रिया, कार्य और निर्णय से बड़ा होता है। केहर सिंह को दी गई फांसी के बाद देशवासियों का मन अपराध बोध से भर जाना सहज है। न्यायाधीशों और राष्ट्रपति पर राजनीतिक नेतृत्व का प्रभाव न्यायिक प्रक्रिया पर काला धब्बा बन कर चिपक गया और लोकतंत्र का महिमामय रथ चक्र दलीय सत्ता राजनीति के दलदल में फंस गया।

22 जनवरी 1989

अभी कितना पतन और होना है ?

देश के कुछ बुद्धिजीवियों ने एक सीधा सवाल पूछा है कि यह बताइए कि दुनिया के किस देश में भ्रष्टाचार नहीं है? भ्रष्टाचार एक विश्वव्यापी समस्या है। यह मनुष्य के साथ सहज रूप में जन्म लेता और जुड़ा है तो फिर भारत में भ्रष्टाचार विरोधी शोर मचाने की क्या तुक है?

पहले बहस इस प्रश्न पर होनी चाहिए कि यह सवाल बेतुका है या भ्रष्टाचार के विरूद्ध उठ रहा शोर? बहस लम्बी हो जाएगी, इसलिए इस सम्बन्ध में मात्र इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस देश के बुद्धिजीवी भ्रष्टाचार और चरित्रहीनता को विश्व का हवाला देकर प्रतिष्ठा प्रदान करने लगते हैं उसका भविष्य और उसकी राष्ट्रीय अस्मिता स्वतः संदिग्ध बन जाती है। भ्रष्टाचार के यथार्थ को स्वीकार करने और उसमें रम जाने की मानसिकता में बहुत बड़ा अन्तर हैं। स्वीकार में साहस है, रम जाने में घुटने टेक समर्पण और पराजय। कुछ प्रश्न बुद्धिजीवियों से कि क्या देशवासी यह मान लें कि यहां के बुद्धिजीवी अपनी बुद्धि बेचकर पेट पालने वाले व्यवसायी हैं? क्या रोटी और पैसे को चरित्र और नैतिकता पर वरीयता देना मानवीय संचेतना के साथ मेल खाता है? अंधकार एक यथार्थ है, किन्तु क्या इस यथार्थ को स्वीकार और प्रकाश के अस्तित्व को अस्वीकार करके अंधेरे में बैठे रहने को बुद्धिजीविता और पराक्रम कहा जाएगा?

कारणों की तलाश

भ्रष्टाचार के कारणों की तलाश करनी चाहिए। विश्व के परिप्रेक्ष्य में इस पर विचार भी किया जाना चाहिए। उन सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक व्यवस्थाओं, परिस्थितियों और मानसिकताओं का अध्ययन किया जाना चाहिए जिनके कारण भ्रष्टाचार का जन्म होता है, जो उसका पालन-पोषण करके उसे प्रतिष्ठा प्रदान करती है। किन्तु उसे सहज सार्वजनिक रिवाज और विश्वव्यापी समस्या बताकर सहन कर लेने या जीवन का अंश मानकर अपना लेने की सलाह देना चरित्र और चिंतन के अवमूल्यन की पराकाष्ठा है। एक ऐसी मानसिक पराजय है जो व्यक्ति को पाप का कीड़ा बना देती है। क्या यह तर्क मान लेना किसी भी सभ्य, विकसित और विकासमान समाज के लिए हितकर होगा क्योंकि अमरीका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस,

जर्मनी और जापान आदि उन्नत देशों में भी हत्याएं होती हैं, बलात्कार होते हैं, भ्रष्टाचार चलता है, अश्लीलता उनके जीवन का अंग है इसलिए यदि भारत में ऐसा कुछ होता है तो सभ्य समाज और विश्व का अंग होने के नाते इसे सहज भाव से अंगीकार कर लेना चाहिए? क्षा इन सबको केवल इसलिए मान लेना चाहिए कि वे भौतिक और वैज्ञनिक विकास के शिखर पर हैं और यदि उनके विकास में भ्रष्टाचार बाधक नहीं बनता तो भारत उसमें परहेज क्यों करे?

इस प्रकार के तर्क भारत केवल भारत में ही दिए और सुन जा सकते हैं। दुनिया के किसी भी देश का कोई भी नागरिक इस निर्लज्जता के साथ अश्लीलता, चारित्रिक पतन और भ्रष्टाचार का डंके की चोट पर समर्थन और स्वीकार नहीं करता।

हम भ्रष्टाचार का यर्थाथ स्वीकार करते हैं। भ्रष्टाचार है, चारित्रिक है, किन्तु क्या यह भी यथार्थ है कि हमारे देश का चिंतन भी पूरी तरह सड़ गया है? क्या उसमें रूकावट आ गई है? क्या उसमें शरीर के भीतर निवास कर रहे जीवन और आत्मा का सत्य उद्‌भासित करने का सामर्थ्य नहीं रहा। क्या उसकी दृष्टि क्रीम-पाउडर का कवच भेद पाने में असमर्थ हो गई है?

अन्य देशों के उदाहरण

जिस विश्व का उदाहरण देकर कुछ भारतीय बुद्धिजीवी जीवन की दुर्गन्ध को सुगन्ध मानकर स्वीकार कर लेने की सलाह देते हैं वह इस मानसिकता और सोच का समर्थन नहीं करता। यदि ये बुद्धिजीवी हैं तो इस संदर्भ से जाने जा रहे हैं कि दुनिया के देशों का कुछ अध्ययन अवश्य किया होगा। अमरीका में भ्रष्टाचार है, किन्तु वहां के नागरिक ओर सरकार उसे विश्वव्यापी समस्या बताकर स्वीकारं नहीं करते। इस समय अमरीकी प्रशासन के राष्ट्रपति रीगन के एक दर्जन से अधिक उच्चस्तरीय सहयोगी भ्रष्टाचार के अपराध में जेलों में दण्ड भोग रहे हैं। पूर्व राष्ट्रपति रीगन ने उन्हें अपने अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति के रूप में नियुक्त किया था। पश्चिमी जर्मनी के पूर्व उद्योग मंत्री भ्रष्टाचार के अपराध में चार साल की कैद की सजा भुगत रहे हैं। जापान के एक भूतपूर्व प्रधानमंत्री अपनी भ्रष्टाचार और अनैतिकता के अपराध में छह वर्ष का कारावास भोग रहे हैं। इंग्लैण्ड में प्रोफ्यूम काण्ड के बाद कई ऐसे काण्ड हुए हैं कि भ्रष्टाचार और दुष्चरित्रता से जुड़े मंत्रियों को उनके पद से हटाकर सार्वजनिक प्रताड़ना दी गई। अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन को वाटरगेट काण्ड के कारण दी गई सजा दुनिया में देशों के सामने एक ज्वलंत उदाहरण हैं जापान के विधि मंत्री का पद छोड़ना पड़ा है। ट्यूनीशिया के पूर्व प्रधानमंत्री मुहम्मद मजाली को भ्रष्टाचार करने के अपराध में पन्द्रह साल की सजा मिली है। कजाकिस्तान (रूस) के पूर्व परिवहन मंत्री को रूस के सर्वोच्च न्यायालय ने भ्रष्टाचार करने के अपराध में 12 वर्ष और रूस के महासचिव ब्रेझनेव के दामाद यूर चर्बानोब को पद का दुरूपयोग करने के लिए 12

वर्ष का दण्ड दिया गया हैं। दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति का उदाहरण अभी एकदम ताजा है। राष्ट्रीय टेलीवीजन पर जाकर उन्होंने अपनी असावधानी स्वीकार की। अपने सचिव की गलती के लिए उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। अपनी असावधानी के दण्डस्वरूप अपनी सम्पत्ति सरकार को सौंपकर वह अपने गांव को चले गए। वहां के दो पूर्व मंत्रियों को भी दण्डित किया गया है। किन्तु भारत के सत्ता पुरूष द्वारा सुरक्षा सौदों में दी गई 64 करोड़ की दलाली खाने वाले का नाम बताने से बहानेबाजी की जा रही है। दलालों का नाम पूछने वालों को देश का दुश्मन और विदेशी एजेंट कहा जा रहा है।

भारत में सजा क्यों नहीं

भारत के सत्तामुखी बुद्धिजीवी इस सवाल का जवाब नहीं देते कि गत चालीस वर्षों में केन्द्र और राज्यों में बने हज़ारों मंत्रियों, सांसदों और विधायकों में से, बहुत हाय-तौबा के बाद, कृष्णामाचारी और कृष्णमेनन को मंत्रिपद से हटाने के अलावा किस एक को भी भ्रष्टाचार और अनैतिकता के अपराध के लिए कैद की सजा क्यों नहीं दी गई, जबकि इनमें सैकड़ों लोग ऐसे थे और आज भी हैं, जिनका दूसरा मजहब भ्रष्टाचार है। कृष्णमाचारी को भी बाद में मंत्रिपद दे दिया गया। ये बुद्धिजीवी अपने स्वार्थवश जब सत्तापुरूष का पक्ष लेते हैं तो इस यथार्थ को क्यों भूल जाते हैं कि भारत में राजनीतिक कवच, राजनीतिक नेतृत्व और शासनतंत्र को भ्रष्टाचार करने की सुविधा और संरक्षण प्रदान करता है।

इस विषय में एक राजनीतिक समीक्षक ने अजीब और सटीक टिप्पणी की है कि भारत में राजनीति का अपराधीकरण और अपराध का राजनीतिकरण हो गया है। यहां अपराधी और राजनीतिज्ञ दो जुड़वां भाइयों की तरह हैं। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चलता! अब इसमें एक तीसरा भाई बुद्धिजीवी भी शामिल हो गया है जो अपने तर्क द्वारा उनके भ्रष्टाचार को अपरिहार्य बताकर उसका औचित्य सिद्ध करता रहता है और बदले में कोई पुरस्कार या पदक प्राप्त कर लेता है। यदि ऐसा न होता तो भ्रष्टाचार के पापों से घिरे प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, मंत्री, विधायक, प्रशासनिक अधिकारी, और तस्कर बेपरवाह और मुक्त भाव से अपना धंधा न करते। सोने, अफीम और गांजे का तस्करी और देश के विरूद्ध जासूसी करने के आरोप में लोगों के पकड़े जाने के समाचार आए दिन आते हैं लेकिन यह समाचार नहीं आता कि उन आर्थिक अपराधियों, तस्करों और जासूसों का क्या हुआ? जासूस काण्ड में कई लोग पकड़े गए, किन्तु सजा कितनों को मिली, यह अज्ञात है। हाजी मस्तान जैसे अनेक कुख्यात तस्कर आज के प्रतिष्ठित राजनेता हैं। उनके जैसे अनेक लोग आज अवैध धन-बल से भारतीय राजनति को प्रभावित कर रहे हैं। परन्तु इस तथ्य का पता नहीं चला कि किसको प्रभावित करके वे अपराधमुक्त होकर स्वच्छंद भाव से राजनीतिक

क्षेत्र में सक्रिय हुए हैं। विमान का उपहरण करने के अपराधी, नारी का शीलहरण करने वाले पापी, वनस्पति में गाय की चर्बी मिलाने वाले उद्योगपति, मिलावट करने वाले व्यापारी, देश-विदेशी सौदों में कमीशन खाने वाले राजनेताओं के प्रति सरकारी तंत्र मुलायम क्यों है? कोई जापान, जर्मनी, रूस और अमरीका में मिलावट करके बच जाय तो मानें? कोई इंग्लैण्ड, अमरीका और जापान में किसी स्त्री के साथ अवैध सम्बन्ध या बलात्कार करके मुख्यमंत्री, विधायक और सांसद बन जाय या बना रहे तो देखें? कोई जापान का प्रधानमंत्री लोकहीड काण्ड करके कमीशन लेकर भी प्रधानमंत्री बना रहे तो उनका उदाहरण दें?

अपराध होंगे यह यथार्थ है, लेकिन अपराध को स्वीकार कर लेने की वकालत करना मनुष्य का यथार्थ नहीं, उसके चिंतन और चरित्र की सड़ांध है। भारत की वर्तमान व्यवस्था का संकट है अपने अपराध के समर्थन में तर्क की तलाश? अपराध का औचित्य और अपरिहार्यता सिद्ध करने के लिए तर्क-बुद्धि का दुरूपयोग। सरकारी तंत्र पर सुविधाभोगी, सत्तालोभी और नैतिकता की अदालत में अपराधी की तरह खड़े हैं और न्यायाधीश वे हैं तो या तो स्वयं संदिग्ध अपराधी हैं या जो अपराधियों को संरक्षण देते हैं, जो राजनीतिक गुण्डों और असामाजिक तत्व को जुड़वां भाई और सहयात्री ही नहीं, राजनीति और राजनीतिज्ञों की धमनियों में बह रहा रक्त बताते हैं। निश्चित है प्रदूषित रक्त शुद्ध चरित्र और सार्थक चिंतन का निर्माण नहीं कर सकता। बिका हुआ भय भीतर मानस सत्य की आधार भूमि नहीं बन सकता।

दुनिया के दूसरे देशों में अपराध और भ्रष्टाचार है तो वे उससे लड़ रहे हैं, भारत के कुछ बुद्धिजीवियों और अधिकांश राजनीतिज्ञों की तरह उसे अपिरहार्य और उचित नहीं मानते। भ्रष्टाचार को विश्वव्यापी समस्या बताकर भ्रष्टाचारी को क्षमादान और आदर नहीं देते। बलात्कार और शीलहरण को स्त्री-पुरुष की स्वाभाविक शारीरिक आवश्यकता और प्रक्रिया मानकर उसे स्वीकृति नहीं प्रदान करते। मेरी जानकारी में दुनिया के किसी भी देश में ऐसा कोई भी बुद्धिजीवी और राजनेता नहीं है जिसने अपने देश के भ्रष्टाचारियों और अनैतिक अपराधियों का समर्थन किया हो? जिसने घुमा-फिराकर यह सलाह देने की कोशिश की हो कि यह सब स्वाभाविक प्रक्रिया है, यह तो चलता ही रहता है इसे भूल जाओ, भ्रष्टाचार सम्बन्धी चीख-पुकार राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता और शत्रुता से प्रेरित है।"

सचमुच भारत महान है ! भारत के कुछ बुद्धिजीवियों ने भ्रष्टाचार और चरित्रहीनता के क्षेत्र में भी उसकी महत्ता सिद्ध कर दी है। भारत को भ्रष्टाचार के शिखर पर ले जाने का हर संभव प्रयास किया जा रहा हैं। यदि यही प्रक्रिया रही तो एक दिन चरित्र, शील, सदाचार और मर्यादा का अर्थ भी बदल जाएगा। जब भावी पीढ़ी को भाषाई शब्दकोश में भ्रष्टाचार का अर्थ सदाचार लिखा मिलेगा। अपराधी का अर्थ होगा राजनेता और यदि वे बिके हुए, सुविधाभोगी, पुरस्कार और पदक के लोभी

का अर्थ खोजेंगे तो उन्हें वहां बुद्धिजीवी लिखा हुआ मिलेगा। सत्ता राजनीति ने शब्दों का अर्थ और व्यवहार का आधार बदल दिया है। यहां के बुद्धिजीवी नाजायज कार्यों को जनहित के नाम पर जायज बताने में भी पीछे नहीं हैं। अभी कितना पतन और होना है इस देश के चिंतन और चरित्र का?

29 जनवरी 1989

जनादेश का अपमान

तमिलनाडु नागालैण्ड और मिजोरम विधानसभा के चुनावों के संदर्भ में कोई संदेश और संकेत खोजने पाने के प्रयास का दौर चलना आश्चर्यजनक नहीं है। प्रत्येक घटना में कोई न कोई संकेत और संदेश निहित होता ही है। आश्चर्यजनक यह है कि तथ्यों पर पर्दा डालकर सत्य को झुठलाने का प्रयास किया जा रहा है। कहा जा रहा है कि यदि तमिलनाडु में विपक्ष (आज का विपक्ष, चुनाव के पूर्व आज का विपक्ष सत्ता पक्ष था) निर्वाचित प्रतिनिधियों और राष्ट्रपति शासन के बहाने भी विभाजित न होता, अन्नाद्रमुक के चार गुट न हो गए होते, राजीव की इन्दिरा कांग्रेस और जयललिता गुट में चुनाव गठबंधन हो गया होता तो चुनाव परिणाम भिन्न होते। राजीव और जयललिता को मिला कर 42 प्रतिशत मत मिले हैं। करूणानिधि के द्रमुक को केवल 34 प्रतिशत मतदाताओं का समर्थन मिला हैं। यदि राजीव और जयललिता का गठबंधन हो जाता तो इन दोनों में 119 प्रत्याशी विजयी होते, विधान सभा में पूर्ण बहुमत होता। गत 1984 के चुनाव की तुलना में केवल पांच प्रतिशत अधिक मत प्राप्त कर के अन्नाद्रमुक ने 126 अतिरिक्त सीटें जीत लीं।

जनादेश की तौहीन

करूणानिधि की नीतियों से मतभेद और उनके दल द्रमुक के साथ किसी की दुश्मनी हो सकती है किन्तु जनादेश का विश्लेषण इस प्रकार तो नहीं किया जाना चाहिए कि जय-पराजय संयोग और गणित की गुलाम हो जाए। कम वोट और अधिक सीटों का समीकरण पहली बार नहीं बना है। 1952 के प्रथम चुनाव से लेकर 1989 के तमिलनाडू, नागालैण्ड, मिजोरम के चुनावों तक का इतिहास 'वोटों का प्रतिशत कम-सीटों की संख्या अधिक' का ही रहा। महात्मा गांधी, नेहरू, इंदिरा, राजीव की कांग्रेस को किसी भी चुनाव में 51 प्रतिशत क्या 50 प्रतिशत वोट भी नहीं मिले ओर वह दो-तिहाई और तीन चौथाई सीटें जीत कर 40 वर्ष से सत्ता पर अधिकार जमाए हुए है। 1977 के चुनावों में जनता पार्टी की जीत का गणित भी इसी प्रकार था। किन्तु कुल मिलाकर इन्दिरा कांग्रेस और कांग्रेस की तुलना में उसके वोटों का प्रतिशत अधिक था। 1984 में इन्दिरा गांधी की हत्या के कारण भावना और प्रतिशोध से भरे माहौल में भी राजीव की इन्दिरा कांग्रेस पचास प्रतिशत की रेखा छू नहीं पाई थी,

किन्तु उसे चार सौ से अधिक सीटें मिली थीं। विपक्ष का सफाया हो गया था। तब दूरदर्शन बुद्धिजीवियों और चुनाव विशेषज्ञों ने राजीव की जीत पर आंकड़ों का पर्दा डालने का प्रयास नहीं किया था। भारतीय लोकतंत्र इस बुद्धिजीवी संताप से पीड़ित है। यह क्यों नहीं स्वीकार किया जाता कि यह मतदाताओं का नहीं मतदान प्रक्रिया और चुनाव पद्धति का दोष हैं। कांग्रेस, इन्दिरा कांग्रेस, राजीव की इन्दिरा कांग्रेस अब तक इसी का लाभ लूटती रही हैं, अब यह लाभ विपक्ष को मिलने लगा है तो आंकड़ों और प्रतिशत की बाजीगरी दिखाकर जनादेश की तौहीन की जा रही है। शायद अब होश आए और दिल्ली में सत्तासीन 'राजीव की इन्दिरा कांग्रेस सरकार चुनाव-पद्धति में परिर्वतन का विचार करे। मार खाकर उसके पश्चात् बुद्धि से काम लेना उसकी परम्परा है। दलबदल और मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने के विरूद्ध बना कानून मार खाने के बाद और भविष्य में राजनीतिक हानि होने से भय के कारण ही बना है। यदि फरीदाबाद चुनाव में इन्दिरा कांग्रेसियों को उन्हीं की भाषा में देंवीलाल ने जवाब न दिया होता तो मतदान केन्द्रों पर कब्जा करने के विरूद्ध उठ रहे शोर को अनसुना किया जाता रहता। देश को आंकड़ों और विश्लेषण के जाल में फंसा कर गुमराह करने की कला में कांग्रेसी और कांग्रेस के पालतू बुद्धिजीवी माहिर हैं। रचनात्मक और स्वच्छंद राजनीति उनके चरित्र और राजनीतिक संस्कृति के लिए पाठ हैं। चुनाव पद्धति के दोष का विचार न करके जनमत के प्रतिकूल निर्णय को नकारने की कलाबाजी की जाती है।

नाटक

आंकड़ों और प्रतिशत के बिन्दु तक पहुंच कर इस प्रतिशतीय गणित और विश्लेषण की कलाबाजी का अन्त नहीं हो जाता। उधर तमिलनाडु विधानसभा चुनाव में राजीव की इन्दिरा कांग्रेस हारी इधर दिल्ली में कांग्रेस कार्यकारिणी ने चुरहट लाटरी काण्ड में फंसे मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री अर्जुन सिंह से त्यागपत्र दिलाने और नया मुख्यमंत्री बनाने के नाटक की ओर देशवासियों का ध्यान आकृष्ट कर लिया। मानो अभी-अभी पता चला हो कि अर्जुन सिंह भ्रष्ट हैं। अब तक अपने ही वित्त मंत्रालय द्वारा दिए गए जांच के आदेश की ओर ध्यान देने का समय नहीं मिला था पार्टी के अध्यक्ष और सरकार के प्रधानमंत्री राजीव को। क्यों, केवल इसलिए कि जनता की ओर से उन पर इतना बड़ा आक्रमण हरियाणा चुनाव के बाद अभी तक नहीं हुआ था। भ्रष्टाचार के आरोप में अर्जुन सिंह की राजनीतिक हत्या से निकले राजनीतिक रक्त से अपना मुंह लाल करके राजीव यह बताना चाहते हैं कि वे स्वच्छ राजनीति के पक्षधर हैं। लेकिन स्वयं राजीव पर लगे और लगाए जा रहे आरोपों का उत्तर देने से कतराने और उन पर पर्दा डालने का प्रयास करने के अपराध में क्या उन्हें राजनीतिक अपराधिक सजा नहीं मिलनी चाहिए। 'श्रीमान स्वच्छ' राजीव हिमाचल प्रदेश के

मुख्यमंत्री वीरभद्र सिंह के विरूद्ध कार्रवाई करने से केवल इसलिए मुकर जाते हैं कि उनके पास वीरभद्र सिंह के इस कथित प्रश्न का उत्तर नहीं होता कि 'प्रधानमन्त्री जी! केवल आरोपों और मुकदमों के आधार पर त्यागपत्र नहीं दिया जाता। राजनीति इस प्रकार नहीं चलती, आरोप तो आप पर भी है, आप त्यागपत्र क्यों नहीं देते? यदि राजीव भ्रष्टाचार मुक्त स्वच्छ राजनीति के प्रति प्रतिबद्ध हैं तो नागालैण्ड में होकिशे सेमा को हटा कर भ्रष्टाचार के आरोप में डूबे जमीर को अपनी पार्टी का नेता क्यों बना रखा है! उड़ीसा के जानकी बल्लभ पटनायक किस निर्मल चरित्र के धनी हैं? शिवचरण माथुर पर लगा कत्ल की राजनीति का दाग अभी धुला नहीं है? भ्रष्टाचार पर यह तथाकथित सुनियोजित राजनीतिक खेल है कि पार्टी के लोग और देशवासी किसी दूसरी बहस में उलझ जाएं और चुनाव में इंका को मिली पराजय के मुख्य मुद्दे पर सरासर विचार न किया जा सके। यदि अर्जुन सिंह को उच्च न्यायालय दोषी न ठहराता तो किसी और अपराध की तलाश की जाती। लोकप्रिय होने की यह इंदिरा कार्यवाही राजीव को विरासत में मिली है।

प्रधानमंत्री की हार

चुनाव का पूरा-पूरा बोझ राजीव ने अपने कंधे पर ढोया। अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा दांव पर लगाकर चुनाव अभियान चलाया। तमिलनाडु, नागालैण्ड और मिजोरम के कोने में स्थानीय नेता की तरह घूमे। तमिलनाडु में स्वयं करूणानिधि का विकल्प जैसा बन गए। गुण्डों को एकत्र किया। करोड़ों रूपए खर्च किए। शिलान्यास, सहायता, अनुदान साड़ियों तथा आश्वासंनों का तोहफा दिया। सरकारी तंत्र का दुरूपयोग किया। बंधक भीड़ के सामने भाषण दिया। भाषण के स्तर का नमूना देखिए 'करुणानिधि भ्रष्ट हैं, उन्हें हटाओ, तमिलनाडु को तमिल ओर द्रविड़ राष्ट्र के चंगुल से मुक्त करके इसे भारत राष्ट्र की मुख्यधारा में मिलाने के लिए 'हाथ' से हाथ मिलाओ। तमिलनाडु में राष्ट्रीय मोर्चे के नाम पर हिन्दी विरोध भड़काया तो उत्तर भारत में द्रमुक के साथ राष्ट्रीय मोर्चे के तालमेल का उल्लेख करके बोले कि 'करूणानिधि काला चश्मा इसलिए पहनते हैं, जनता की आंख से आंख नहीं मिला सकते, मखौल उड़ाया कि समाचार पत्रों में छपा मतदान पूर्व जनमत का सर्वेक्षण स्वीडन से लाया गया होगा। नागालैण्ड और मिजोरम में चर्च के नाम पर वोट मांगा, चर्च से फतवा निकलवाया कि ईसाई केवल राजीव की इन्दिरा कांग्रेस को वोट दें। उन्होंने खुले आम यहां तक कहा डाला कि ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करना हमारा धर्म है। हम ईसाइयत पर आधारित शिक्षा पद्धति लागू करेंगे। इस सेक्युलर राज्य में मजहब के नाम पर जनसमर्थन जुटाने का यह बेजोड़ करतब कोई राजीव ही दिखा सकता है। यह देख-सुन कर लालडेंगा सरीखे ईसाई नेता भी सकते में आ गए।

संकेत और संदेश

हमें इन चुनावों का संकेत और संदेश चाहिए तो अपने मन की आँखों से देखें

और अपनी बुद्धि के धरातल पर समझें। यदि दूरदर्शन और ईकाइयों की बातों और विश्लेषणों पर जाएंगे तो धोखा खाएंगे। वे तो मात्र यह प्रचार करने में लगे हैं कि इस पराजय का आगामी लोकसभा चुनाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह जनेच्छा का परिचायक नहीं है। जबकि वास्तविकता यह है कि इन चुनावों ने लोकमत और लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर पड़ा धुंधलका साफ कर दिया है कि अब केवल किसी के नाम पर वोट नहीं मिलेंगे, सभाओं में जमा बंधुआ भीड़ जनमत नहीं होता, गुण्डों, धन और सत्ता शक्ति जनशक्ति के सामने नाकाम हो जाती हैं। दो भ्रष्टाचारियों में से किस एक का चुनाव करने का अवसर आता है तो जनता छोटे भ्रष्टाचारी को चुनती है, छोटी और बड़ी बुराई के बीच चुनाव के प्रसंग में मजबूरी में छोटी बुराई को स्वीकार करने जैसी बात है यह। छवि और छाया केवल छाया होती है, वास्तविकता से सामना होते ही वह तिरोधान हो जाती है। अखबारी, दूरदर्शनी, जनसभाई, भाषण कला का प्रचार द्वारा बनाई गई छवि धरती की सच्चाई का बहुत दिन सामना नहीं कर पाती। यदि धरती के सत्य से जुड़े तो पराजय के लम्बे और यातनामय कालखण्ड को भी विजय में बदला जा सकता हैं। करूणानिधि के द्रमुक की विजय का रहस्य है उनकी पार्टी और कार्यकर्ताओं का एक दशक तक अक्षत और अभेद्य बने रहना। अपने आधारभूत समर्थकों को बचाकर रखने का ही परिणम था कि केवल पांच प्रतिशत मतदाताओं का अतिरिक्त समर्थन जुटा कर 126 अतिरिक्त सीटें जीत लीं और भाजपा तथा जनता दल को भी चुनाव वैतरणी पार करा दी। पूर्वांचल की राजनीतिक धारा और चरित्र यद्यपि शेष देश के प्रवाह से भिन्न हैं किन्तु यह शाश्वत तथ्य वहां भी अनुपस्थित नहीं रहा। इस सच्चाई को नकारना आत्मप्रवंचना हैं कि चुनाव जीतने के लिए सिद्धान्तों और नीतियों के प्रति प्रतिबद्ध संगठन और सरकारी योजनाओं का लाभ जनता तक पहुंचाने के लिए जनता से जुड़ा चरित्रवान कार्यकर्ताओं का समूह अपरिहार्य है। नौकरशाही के भरोसे सरकार चलाने की प्रक्रिया भ्रष्टाचार का जन्म करती है। जाति, भाषा, सम्प्रदाय के नेताओं, गुण्डों और कालेधन वालों को ठेका देकर चुनाव लड़ने की कांग्रेस राजनीति लोकमत को पथ भ्रष्ट करती हैं। जनता और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण और शासकीय ज्ञान प्रदान करने की प्रक्रिया से इन्दिरा कांग्रेसी दूर भागते हैं। कुछ अपवाद के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दल भी इसी मानसिकता के हैं। अभी हाल में उत्तर प्रदेश में हुए महापालिकाओं और नगरपालिकाओं के चुनावों को भाजपा के अतिरिक्त किसी भी दल ने गम्भीरता से नहीं लिया। पर्दे के पीछे से अपने दल के स्वतंत्र प्रत्याशियों का समर्थन, प्रत्यक्ष में स्थानीय निकायों के चुनाव में शामिल न होने की घोषणा, चुनाव के बाद जीते हुए निर्दलीय प्रत्याशियों को अपने दल का बताकर विजयी होने का दावा और अपने दल का अध्यक्ष निर्वाचित कराने के लिए जोड़तोड़ भारतीय लोकतंत्र में दोगलापन तो पैदा कर ही रहे है, गुण्डों और असामाजिक तत्वों को भी बढ़ावा दे रही

है। स्थानीय स्तर के जनप्रतिनिधि राष्ट्रीय परिदृश्य से कट रहे हैं। स्थानीय निकायों के प्रतिनिधियों का किसी अखिल भारतीय राष्ट्रीय राजनीतिक दल से जुड़ा न होना उनको राष्ट्रीय चरित्र और कर्तव्य का बोध नहीं होने देता। क्षेत्रीयता को बल प्रदान करता है। दलीय लोकतंत्र का यह विरोधाभास सार्वजनिक जीवन के दायित्व बोध को निर्बल बनाता है। किन्तु जिस पराजय के भय से इंका ने उत्तरप्रदेश में मुंह छिपाया, उसी ने तमिलनाडु में उसे मात दे दी।

उभरते सवाल

उत्तरप्रदेश में पालिका चुनाव और तमिलनाडु, नागालैण्ड, मिजोरम, विधानसभा के चुनाव कुछ सवाल छोड़ गए हैं कि क्या करूणानिधि के द्रमुक की जीत द्रविड़ और तमिल राष्ट्र की जीत है? क्या नागालैण्ड और मिजोरम में चर्च के विरूद्ध चर्च जीता है? क्या चुनाव पद्धति में परिवर्तन करने का उपयुक्त समय नहीं आ गया है कि देश का जनमत अपने प्रतिशत के आधार पर सैद्धान्तिक और साझी राजनीति चला सके, स्थानीय निकायों से लेकर संसद तक में इनका उचित प्रतिनिधित्व हो? क्या स्वच्छ और स्वतंत्र चुनाव के लिए धन, साधनों और सत्ता शक्ति के उपयोग को समाप्त किया जाना लोकतंत्र के स्वास्थ्य के लिए जरूरी नहीं है? चुनाव के समय क्या सत्ता के विमान पर सवार होकर आ़श्वासनों, अनुदानों और शिलान्यासों की वर्षा करने से किसी प्रधानमंत्री को रोका नहीं जाना चाहिए। राजीव ने अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को दांव पर लगा कर ये चुनाव लड़े थे। क्या चुनाव परिणामों का यह संकेत नहीं है कि जनता ने उनके प्रति अपना अविश्वास व्यक्त करके उन्हें न केवल नकार दिया है अपितु यह स्पष्ट आदेश भी दिया कि अब आप जाइए। अब आप संसद में बहुमत के नेता होंगे, देश के नेता नहीं है। 1984 में बहुमत आपको मिला जनता का बहुमत अब अल्पमत में परिवर्तित हो गया है। आप स्वयं त्यागपत्र दे दें या आपकी पार्टी अपना दूसरा नेता चुन लेगी। यह स्पष्ट हो गया कि राजीव का व्यक्तित्व अब इंकाइयों को चुनाव नहीं जिता सकता।

राजनीतिक सच्चाई

यह चुनाव इस राजनीतिक सच्चाई को भी उजागर करता है कि चुनाव केवल मोर्चे बन्दी से नही जीते जा सकते। चुनाव जीतने के लिए उस राज्य में किसी एक दल के मूलभूत व्यापक जनाधार और संगठन के साथ-साथ उसकी विजय के प्रति जनता में विश्वास होना भी आवश्यक होता है। राजीव की इन्दिरा कांग्रेस भी अब मात्र एक क्षेत्रीय दल है। उसकी अखिल भारतीयता समाप्त हो गई हैं। क्षेत्रीयता को राष्ट्रीयधारा के विरूद्ध मानने और उसकी ओर आर्थिक विकास की नहीं, वोट राजनीति की दृष्टि से देखने का नतीजा कांग्रेस भुगत रही है। एक दलीय अखिल

भारतीयता के अन्त का जो आरम्भ तीन दशक पूर्व केरल से प्रारम्भ हुआ था उसने अब गति पकड़ ली है। विविधतापूर्ण भारत देश में केन्द्रीय साझी राजनीति का युग संसद के द्वार पर आकर खड़ा हो गया है। सर्वानुमति की सैद्धान्तिक साझा राजनीति को अब बहुत दिनों तक टाला नहीं जा सकता। मतदाताओं ने तो राजीव को नोटिस दे दिया है, अब राष्ट्रीय विपक्ष की प्रतिभा और पौरूष की परीक्षा होगी कि वह अखिल भारतीयता और क्षेत्रीयता के बीच तालमेल बिठा पाता है कि नही। अलग-अलग सिद्धान्तों और विचारों के बावजूद वैचारिक और संस्थागत छुआछूत से मुक्त राजनीति नए -राजनीतिक युग की आधार शिला बन सकती है। इस राजनीतिक अभिसरण में से अखिल भारतीय राष्ट्रीय विकल्प का पुनरोदय भी हो सकता है। स्वस्थ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा नई राजनीतिक संस्कृति और नयी व्यवस्था को भी जन्म दे सकती है।

5, फरवरी 1989

चुनाव राजनीति पर तुल रहा देश का भविष्य

भारत की राजनीति का चरित्र अब साफ-साफ देखा जा सकता है। झीना सा ही क्यों न हो, अब तक जो कुछ पर्दा था उसे भी तमिलनाडु, मिजोरम और नागालैण्ड के चुनाव अभियान, परिणाम और इसके पश्चात ही गतिविधियों ने हटा दिया। मूल्यों की राजनीति की बात करते-करते राजनीति के गले में मूल्य की पट्टी टांग दी गई है। संविधान ओर भारतीय जन की आमसहमति वाला सेक्युलरिटी, समाजवाद और लोकतंत्र को वोट की सूली पर चढ़ा दिया गया है, व्यक्तियों के व्यक्तित्व और क्षमता का मूल्यांकन उनकी वोट दिलाने और चुनाव में नोट देने की क्षमता के आधार पर किया जा रहा हैं। सत्ता के दलालों की बन आई हैं। यह स्थिति केवल सत्तारूढ़ राजीव की इन्दिरा कांगेस की ही नहीं है, भाजपा जैसा एकाध 'राजनीतिक दल अपवाद हो सकते हैं, शेष सभी दल इस दौड़ में बाजी मारे लेने क होड़ में है। राजीव की इन्दिरा कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टियों और जनता दल की राजनीति अर्थात चुनाव, चुनाव अर्थात् जीत, जीत अर्थात कुसी है। कुर्सी मिलती हो तो व्यवहारिकता और समय के तकाजे के नाम पर सिद्धान्त को छुट्टी देने की बात बड़े घड़ल्ले से की जाने लगी है। सिद्धान्त और आदर्श को मूर्खों की अव्यवहारिक अवधारणा माना जा रहा है।

यह सब केवल काल्पनिक विश्लेषण या बौद्धिक व्यायाम नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित हैं। मेरा यह अनुभव और विश्वास है कि कांग्रेसी सहित समस्त राजनीतिक नेता जो कुछ कमरे में, एकान्त में बोलते, कहते और बताते हैं वह सच होता है, उनकी वह बात उनके मन की होती है, और जो कुछ सार्वज़निक रूप से, संसद या समाचार पत्रों में बोलते हैं वह उसके एकदम उलट होता है। चाहें तो इसे पाखण्ड भी कह सकते हैं। यह दोहरा और दोगलापन, राजनेताओं का यह खण्डित व्यक्तित्व, उनका यह विभाजित मन और मानस, भारतीय राजनीति का सबसे बड़ा और गम्भीर संकट है।

अब अपने अनुभव की बात पर आएं। मैं 22 जनवरी से अब तक सत्तारूढ़ राजीव की इन्दिरा कांग्रेस और विपक्ष के अनेक दिग्गजों से मिला और विचार विनिमय किया। देश के भविष्य और भावी राजनीतिक दिशा का विवेचन-विश्लेषण सुना। इंका के उस प्रत्येक नेता की, जिसका राजनीति में कुछ महत्व है, निरपवाद रूप

से यह राय है कि देश के लिए इतना बड़ा खतरा कभी नहीं आया था। विरोधी दल भी इंका के इस निष्कर्ष से सहमत हैं। आश्चर्य यह है कि दोनों की विश्लेषण की प्रक्रिया समान है। अन्तर केवल व्यक्तियों और दलों के नामों का है, सोच के स्तर पर उनकी सर्वानुमति है।

इन दोनों का 'देश' और 'भविष्य' उनके अपने दल और चुनाव में उसकी सफलता-असफलता से जुड़ा है। अर्थात् राजीव यदि चुनाव जिता दें, तो देश पर आया खतरा टल गया माना जायगा, विश्वनाथ प्रताप सिंह यदि राजीव को हरा या हटा दें तो देश का दुर्दिन समाप्त हो जाएगा। ईकाई जनता दल में, जनता दल इंका में, और कम्युनिस्ट पार्टियां इन दोनों के यहां सेंधमारी करने में जुटी है।

इन्दिरा कांग्रेसियों का कहना है "कांग्रेस (आई) अब कांग्रेस (गई) हो गई है। अब पार्टी नहीं बचेगी। और यदि पार्टी ही नहीं बचेगी तो सिद्धान्तों और मान्यताओं को चाटते रहने से कोई चमत्कार नहीं होने वाला है। हम तो राजीव को आज और अभी हटा दें, और इसी क्षण विद्रोह करके नया नेता चुन लें, लेकिन प्रश्न यह है कि नेता चुने भी तो किसे चुने? पार्टी में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो वोट दिला सके, नोट दे सके। वोट दिला सकने वाले के पास वोट कम हो रहा है, किन्तु नोट तो है ही। वह अब भी प्रति चुनाव क्षेत्र को दस से पन्द्रह लाख रूपए, पांच छः जीपें और हजारों-लाखों पोस्टर आसानी से दे सकते हैं। हम लोग अब यह सोचने लगे हैं कि राजीव के नेतृत्व में चुनाव हारना तो निश्चित है, लेकिन धन से वंचित क्यों रहा जाए। दस-पन्द्रह लाख में से कम से कम बारह लाख तो बचाए ही जा सकते हैं। वह हमारे भविष्य और राजनीति में बने रहने के लिए पर्याप्त होगा।"

एक स्वंयभू क्रांतिकारी इंकाई बोले "राजीव ने राष्ट्रीय एकता और सेकुलरिटी को तोड़ दिया है। निकट भविष्य में उसके दो टफकड़े दिखाई देने लगेंगे। वे मिजोरम के चुनाव के समय जारी इंका का चुनाव घोषणा पत्र पढ़ कर सुनाते हैं कि वहां ईसाइयत की रक्षा करने के लिए वोट मांगे गए। वहां राजीव की इन्दिरा कांग्रेस के घोषणा पत्र का उद्घोष है कि ईसाई होने के नाते हमारा यह दायित्व है कि हम ईसा मसीह के धर्मोपदेश की उद्घोषणा करें। इस महान् उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए हमें सेकुलरिटी की आवश्यकता है। इंका ही ऐसा एकमात्र दल है जो सेकुलरिटी को राष्ट्रीय एकता की चट्टान मानती है। इंका का समाजवाद बाइबल के उपदेशों पर आधारित है। केवल इसी (बाइबल) आधार पर न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है। यदि इंका को विजयी बनाया गया तो हम ईसाइयत के सिद्धान्तों के प्रकाश में शिक्षा के पाठ्यक्रमों में संशोधन करेंगे। राजीव की जानकारी में और अनुमति से वहां 'आई वोट आन्गू' अर्थात् इंका ईसाइयों की है, आइए हम उसे अपना वोट दें।" यह सब बता चुके तो बोले 'यदि यह सब करने के बाद भी राजीव चुनाव जिता कर

हमें संसद में भेज सकें तो हम इसे भी स्वीकार कर सकते हैं। यह सब तो कहने की बात है, मूल बात है चुनाव जीतना। जो बात और तरीका चुनाव जिता दे वही सिद्धान्त और लोकतांत्रिक तरीका है।"

एक तीसरा विचार भी है और इसका प्रवाह पर्याप्त प्रबल है। इंकाई यह संभावना टटोल रहे हैं कि आधे से अधिक सांसद, विधायक और पार्टी के लोग राजीव को हटा कर विश्वनाथ प्रताप सिंह को अपना नेता चुन लें तो क्या उससे उनके पक्ष में राजनीतिक हवा चल सकती है?" उनका अनुमान है कि विश्वनाथ प्रताप सिंह की इंका मे वापसी वोट दिला सकती हैं। तब शायद नोट की बहुत अधिक आवश्यकता नहीं पड़ेगी, जो राजीव को हटायेगा, वह राजनीतिक विक्रमादित्य के रूप में जाना जाएगा। विश्वनाथ प्रताप सिंह का भी उद्देश्य राजीव को हटाना ही है, इन्दिरा कांग्रेस को तोड़ना नहीं।" और उधर कुछ इंकाई अरूण नेहरू सहित उन सभी को वापस लाने का उपयुक्त उपाय खोज रहे हैं जो कभी राजीव के अपने थे।

और विपक्ष, विशेषकर जनता दल और कम्युनिस्ट पार्टियां, इनका भी एकमेव उद्देश्य है चुनाव जीतना। यह उद्देश्य ही उनका सिद्धान्त है। यदि राजीव को सत्ता में बनाए रखकर केन्द्रीय राजनीति में कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ़ सकता है, उन्हें सत्ता में प्रभावपूर्ण साझेदारी मिल सकती है, यदि इंका और राजीव के हारने से उनके शासन मे आने की सम्भावना बन सकती है तो वे राजीव को हटाने के लिए जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चे का साथ देंगे। यदि राजीव के हारने से जनता दल या कोई और विरोधी दल मजबूत होता होगा तो वे राजीव को सरकार में बनाए रखने का हर सम्भव प्रयास करेंगे। वे अपने पक्ष में किसी के भी साथ कभी भी अपनी परम्परागत धोखेबाजी करने की सुनियोजित ओर अनुभव सिद्ध रणनीति के रास्ते पर चल रहे हैं।

जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चा व्यक्तित्व के संकट और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की महामारी से पीड़ित हैं सिद्धान्त और गुटबाजी के स्तर पर वे इन्दिरा कांग्रेस से होड़ कर रहे हैं। राजनीतिक संस्कृति, चिन्तन और चरित्र के स्तर पर वे पूरी तरह इंकाई ही है। जनता दल के बड़े-बड़े नेता भी एकान्त में इस सम्भावना को आत्मविश्वास के साथ नकार नहीं पा रहे हैं कि 'यदि इन्दिरा कांग्रेसियों ने राजीव को हटाकर विश्वनाथ प्रताप सिंह को अपना नेता चुन लिया तो वे इन्दिरा कांग्रेस का नेतृत्व सम्भाल सकते हैं। इससे राजनीति में राजीव को हटाने का उनका एक सूत्री कार्यक्रम पूरा हो सकता है। ऐसी स्थिति में चन्द्रशेखर, देवीलाल ओर मुलायम सिंह आदि के अतिरिक्त हेगड़े सहित जनता दल के अधिकांश लोग भी इसे राजनीतिक क्रांति बताकर इंका में शामिल हो सकते हैं।

इस सन्दर्भ में इंका के कुछ वरिष्ठ नेता यह प्रबल संभावना व्यक्त कर रहे हैं कि श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह कांग्रेस को 1969 की तर्ज पर बांटने का प्रयास कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में कांग्रेस का अधिकांश गुट न केवल श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व

में आ खड़ा होगा, बल्कि कांग्रेस को भी पुनरूज्जीवन मिल जाएगा। इसके साथ ही राजनीतिक माहौल भी स्पष्ट और साफ हो जाएगा।

ये विचार, विश्लेषण और सम्भावनाएं एकान्त की हैं। इसका उल्लेख केवल इसलिए किया कि वर्तमान में चल रहे राजनीतिक दलों के द्वन्द्व और राजनेताओं के मानस के यथार्थ की झलक मिल सके। अतएव भारतीय राजनीति का गणित अब केवल व्यक्तियों का समीकरण है और कुछ नहीं। 'अर्थात् भ्रष्टाचार के विरूद्ध युद्ध और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की घोषणा अब राष्ट्र, जन और समस्या सापेक्ष नहीं रही, व्यक्ति सापेक्ष हो गई है। यदि पोप पाल चुनाव जिता सकते होंगे तो चुनाव उनके नेतृत्व में लड़ेंगे, शहाबुद्दीन, बुखारी, मुस्लिम लीग चुनाव जीत सकते होंगे तो सेकुलरिज्म का बैनर लगा कर सेकुलरिटी और राष्ट्रीय अखण्डता की रक्षा करने के लिए उनका नेतृत्व स्वीकार कर लेंगे, यदि कम्युनिस्टों के साथ गांठबांध कर चुनाव वैतरणी पार की जा सकने की सम्भावना दिखाई देगी तो मास्को से गोर्बाचोव को बुलाकर स्वागत समारोह का आयोजन करेंगे। यदि तिब्बत चीन को देने से चुनाव जीत सकते होंगे तो अरूणाचल प्रदेश पर भी चीन का पुरातन सांस्कृतिक अधिकार मान लेंगे और अपनी छवि बनाए रखने की ललक में जनता में जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चे के नेता रूसी-चीनी गुर्गों की सलाह के दबाव में आकर राजीव की चीन यात्रा की सफलता की सराहना करते घूमेंगे।

'गंगा गए गंगादास, जमुना गए जमुनादास वाली स्थिति में है भारतीय राजनीति के कर्ताधर्ता। उनकी नज़र भारत के भविष्य में नहीं, केवल भावी चुनाव और वोट गणित का अंतिम उत्तर जीत या हार पर निर्भर हैं। शेष सब कुछ सिद्धान्त, नीति, आदर्श, आचरण, मर्यादा, विश्वसनीयता उनके लिए अव्यवहारिक पाखण्ड है। राजनीति का सत्य अब राष्ट्र और रचना धर्मिता से नहीं केवल सत्ता है। राष्ट्र के भविष्य के प्रति हृदय और चिंतन के स्तर पर चिन्तित लोगों की भी नजर न्यूनाधिक रूप में चुनाव पर है। बुद्धिजीवियों की बुद्धि भी कुछ राजनीतिक दलों, नेताओं और चुनाव की सीमा बेध नहीं पा रही है। अखबारों के पृष्ठों पर बन और गिर रहे भारत राष्ट्र को वास्तविकता मान कर भविष्य का आकलन किया जा रहा है। हत्या, हिंसा, लूट और आतंक को ही समय का सार-सर्वस्व बताया जा रहा है। हमारी दृष्टि यह नहीं देख पा रही है कि दिल्ली, राजनीतिक विकलांग सोच वाले सत्ता सापेक्ष राजनीतिक नेताओं, सांचाबन्द विचार और विश्लेषण करने वाले बुद्धिजीवियों की पहुंच और समाचार पत्रों में छप रहे समाचारों के अतिरिक्त भी कोई भारत है, चुनाव राजनीति से परे भी कोई राष्ट्र का मन है और वह भारत दो करोड़ समाचार पत्र पाठकों से भिन्न अठहत्तर करोड़ लोगों का असली भारत है। इस भारत की अस्मिता की अभिव्यक्ति का अर्थ है भारत के भविष्य का उन्मीलन। कुछ मुट्ठी भर लोग देश के करोड़ों लोगों के साथ छल कर रहे हैं और इस छल को राजनीतिक पराक्रम स्वच्छ

कुशल प्रशासन और सोद्देश्य राजनीति माना जा रहा है। राष्ट्रीय सत्य, सिद्धान्त और सार्वजनिक जीवन के चरित्र को अल्पमत-बहुमत का मोहताज बना दिया गया है कि जो हार जाय वह घृणित पापी। देश को तोड़ कर जीतने वाले को राष्ट्रीय एकता का धुरन्धर मानने का रिवाज भारत की इकतालीस वर्ष की 'लोकतान्त्रिक राजनीति' की उपलब्धि है।

सम्प्रदायों और मजहबों को लड़ाकर अलग-अलग मतावलम्बियों को संतुष्ट करके चुनाव जीतने वाले 'सर्वधर्म समभाव' के प्रतिष्ठित झण्डावाहक है। कालेधन और दलाली के पैसे से राजनीति में खरीद-फरोख्त करने वाले 'श्रीमान स्वच्छ' अलंकृत हैं। गरीबी, बेरोजगारी आर्थिक सामाजिक असमानता में जिनका निहित स्वार्थ है वे समाजवाद और सामाजिक समता के अलमबरदार हैं। राजनीतिक डाकुओं, गिरोह के आसपास जो कुछ है उसे ही भारत मानने की भूल की जा रही है। संदिग्ध चरित्र, स्वार्थी जीवन, और विकलांग चिन्तन से देश के जनजीवन को प्रदूषित करने को राष्ट्रीय पुनर्जागरण की संज्ञा प्रदान करने की आत्मप्रवंचना से बचने की जरूरत है। देश के भविष्य के 'हीरामन तोते' का प्राण चुनाव की हार जीत में नहीं है। राजनीति और चुनाव उस 'हीरामन तोते' की रक्षा का कवच मात्र है चाहें तो पिंजड़ा कह लें उसे। इससे अधिक और कुछ नहीं। इस तोते की गर्दन मरोड़ी जा रही है — दिन दहाड़ें, खुलेआम। अब तो रहा-सदा पर्दा भी हट गया। राजनीति और सत्ता का अब अर्थ, समाज, गरीबी, बेरोजगारी, शिक्षा, चरित्र सिद्धान्त, किसी से भी कोई लगाव नहीं है, अब वह केवल चुनाव है, चुनाव में हारजीत है। राजनेता देशवासियों को चुनाव राजनीति की रणनीति का मात्र मोहरा मानते हैं। संसद और विधान सभा के आसपास का तथाकथित भारत सुदूर गांवों में रह रही ग्रामवासी भारतमाता का निषेध कर रहा है। राजनेताओं के शब्दों में न जाएं, उनके इरादे और आचरण देखें तात्कालिक दुःख से मुक्ति के लिए मृत्यु को वरण करने में समयसूचकता और बुद्धिमानी नहीं है।

12 फरवरी 1989

सेवा और समाज का सत्य

उड़ीसा के पूर्वमुख्यमंत्री श्री नवकृष्ण चौधरी की 84 वर्षीया पत्नी श्रीमती मालती देवी चौधरी ने 1988 का जमनालाल बजाज पुरस्कार लेने से केवल इसलिए इन्कार कर दिया कि वह प्रधानमंत्री राजीव द्वारा दिया जाने वाला था। श्रीमती मालती देवी चौधरी की मान्यता है कि राजीव पर महात्मा गांधी का कोई प्रभाव और संस्कार नही है। उन्हें लगता है प्रधानमंत्री के देने से पुरस्कार की पवित्रता नष्ट हो गई है। देश में बुजुर्ग और सम्माननीय गांधीवादी जीवित हैं, उन्हें उनके हाथों पुरस्कार लेने में खुशी होती।' श्रीमती मालती देवी चौधरी ने पुरस्कार अस्वीकार किया तो सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष और सुविख्यात गांधीवादी आचार्य ठाकुर दास बंग ने सेवाग्राम आश्रम न्यास से त्यागपत्र दे दिया। आचार्य बंग ने शहीद दिवस (30 जनवरी) के दिन प्रधानमंत्री राजीव गांधी द्वारा सेवाग्राम में गांधी आश्रम के राजनीतिक उपयोग पर विरोध व्यक्त करते हुए यह कदम उठाया है।

खूनी हाथ

अस्सी के दशक के प्रारंभ में हिन्दी साहित्य की मीरा स्वर्गीय श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी कुछ ऐसा ही किया था। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान उनको पुरस्कृत करने वाला था। महादेवी जी को पता चला कि पुरस्कार प्रदान करने का कार्य प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी करने वाली हैं, तो वे बोलीं, 'मैं इंदिरा के खूनी हाथों से पुरस्कार नहीं लूंगी।' तब महादेवी जी के मानस पर 1975 के आपतकाल का आतंक, अत्याचार, हिंसा ओर इंदिरा जी का राजनीतिक छल-कपट उभर आया था, बेगुनाहों की हत्या और देशभक्तों की कैद ने उन्हें कचोटा था। उनके इस कथन पर बहुत हंगामा हुआ। बाद में किसी दबाव, प्रभाव या सोच के कारण महादेवी जी इंदिरा जी के हाथों पुरस्कार लेने के लिए राजी हो गईं, तो लोगों को बहुत बुरा लगा था। इन पंक्तियों के लेखक से भी स्वर्गीय अज्ञेय जी की उपस्थिति में उनसे केवल इसलिए झड़प हो गई थी कि उनके उस वक्तव्य पर लेख और समाचार लिखकर बहुत अधिक प्रचार क्यों किया? उन्हें आपत्ति प्रचार पर थी, अपने वक्तव्य पर नहीं।

1977 में जनता पार्टी जीती, लोकतंत्र की वापसी हुई, दूसरी आजादी का माहौल बना। जनता पार्टी के विजयी सांसद ही नहीं, आम मतदाता भी महानायक की तरह गर्दन उठाकर चलने लगा था कि उसने कालरात्रि का चक्रव्यूह भेद दिया। लोकतंत्र के

लिए लड़ने वाले जीत के बाद मंत्री पद पाने की कतार में लगे गए। प्रधानमंत्री पद के दावेदारों का मामला निबटा तो मंत्री पद का दंगल शुरू हो गया। मोरारजी भाई ने अपने मंत्रिमंडल की सूची प्रकाशित की तो उसमें जनसंघ नेता श्री नानाजी देशमुख का भी नाम था। पहले दिन सूची मे नानाजी का नाम देखकर लोगों को आनंद हुआ, तो दूसरे दिन मंत्री पद अस्वीकार कर देने का समाचार पढ़कर सुखद आश्चर्य। नानाजी ने कहा, 'मै मंत्रिपद पाने के लिए राजनीति में नहीं हूं। राजनीतिक क्षेत्र में वैकल्पिक जीवन मूल्यों की स्थापना करने, राजनीति के सत्ता नहीं रचनाधर्मी बनाने की अभिलाषा मुझे इस क्षेत्र मे लाई है।'

उसके बाद राजनीति का भी त्याग करके नानाजी ने अपनी आयु की षष्ठिपूर्ति मनाई थी कि नई पीढ़ी को आगे आने दें, अनुभवी लोग समाजसेवा और चरित्र निर्माण का कार्य करें।

1980 के चुनाव में इंदिरा जी जीतीं तो भागवत झा आजाद को अपने मंत्रिमंडल में शामिल किया। राष्ट्रपति भवन में आयोजित शपथ-ग्रहण समारोह मे आजाद पहुंचे तो देखा कि कनिष्ठ सांसद को मंत्री और उन्हें राज्यमंत्री बनाया गया है। वे शपथ लिए बिना ही वापिस लौट गए। बोले, 'सम्मान की सूखी रोटी भली, अपमान का मालपुआ नहीं चाहिए।'

पचास और साठ के दशक में डाक्टर श्यामा प्रसाद मुखर्जी, डा० अम्बेडकर और डाक्टर रघुवीर आदि के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो सिद्धांतों के लिए सत्ता, पद और सुविधा का त्याग करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाए। 1975 के लोकनायक जयप्रकाश नारायण को पचास के दशक में प्रधानमंत्री नेहरू द्वारा उनके सम्मुख प्रस्तुत उप-प्रधानमंत्री पद का प्रस्ताव लुभा नहीं सका था, आचार्य कृपलानी ने एक बार कांग्रेसी छोड़ी तो फिर उसकी तरफ कभी मुड़कर भी नहीं देखा, उनकी पत्नी श्रीमती सुचेता कृपलानी उन्हें राजनीतिक तौर पर त्याग कर कांग्रेस में वापस चली गईं लेकिन कृपलानी जी अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। इस सबके बहुत पहले आचार्य नरेन्द्र देव ने कांग्रेस छोड़ी तो विधानसभा की सदस्यता से भी त्यागपत्र दे दिया। लोकतंत्र की मर्यादा रेखा खींचने का शायद यह प्रथम उदाहरण है। राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन ने उत्तर प्रदेश विधान सभा की अध्यक्षता इस आन के साथ की थी कि यदि एक भी विधायक उनकी निष्पक्षता पर उंगली उठा देगा तो वह तत्काल त्यागपत्र दे देंगे। केन्द्रीय असेम्बली के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल और पहली लोकसभा के अध्यक्ष मावलंकर सार्वजनिक जीवन की मशाल हैं। सदन की कार्रवाई का उन्होंने जिस गरिमा के साथ संचालन किया, उसका कोई सानी नहीं। देश के बड़े-बड़े महारथी उस समय सदन में थे, किन्तु अध्यक्ष पीठ व्यक्तित्व, पद और सत्ता से अप्रभावित रहा।

वितृष्णा का भाव

उदाहरण और भी हैं। ये कुछ उदाहरण केवल इसलिए गिनाए है कि आज के सार्वजनिक जीवन के पतन के अंधकार में ये प्रकाश की किरण जैसे हैं। जो लोग यह मानते हैं कि भारत देश में अब शील, चरित्र, स्वाभिमान, सिद्धांत, शुचिता, संवेदना

और मर्यादा नाम की कोई चीज नहीं बची है वे इन उदाहरणों के प्रकाश मे अपना और देश का जीवन देखें, और विचार करें कि आज की श्रीमती महादेवी वर्मा, श्रीमती मालती देवी चौधरी, लोकनायक जयप्रकाश नारायण, नानाजी देशमुख और तब के डा० श्यामा मुखर्जी, डा० अम्बेडकर, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन, आचार्य नरेन्द्र देव, आचार्य कृपलानी आदि ने जो कुछ किया, उससे हमें सुख क्यों मिलता है? विश्वनाथ प्रताप सिंह ने राजीव की इंदिरा कांग्रेस और मंत्री पद का त्याग किया तो देशवासी उमड़ पड़ें और इंदिरा जी, संजय, राजीव और उनके आसपास जमा लोगों के प्रति वितृष्णा के भाव से क्यों भरे रहते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर मालती देवी हैं। यह भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता, दगाबाजी, सत्तादंभ के विरुद्ध असहमति में उठी सशक्त आवाज है। यह व्यक्ति-व्यक्ति के अंतर की वह बीजभूत शाश्वतता है जो मनुष्य और उसके देश को उसके स्वत्व और जीवन के सत्य के साथ जोड़ती है। यह सब कुछ राजनीति को सौंपने, सब कुछ शासन और सत्ता पुरुष के अधीन कर देने, सब कुछ को केवल प्रधानमंत्री का प्रभामंडल मान लेने की मूढ़ता की सीमा तक मुग्ध हो जाने का निषेध है। यह चेतावनी है कि यदि व्यक्ति को अपने समाज और सृष्टि में जीवन धर्म से जुड़े रहना है तो सेवा धर्म को शासन की दया का दास न बनाया जाए।

मालती देवी का यह कथन कि 'राजीव पर महात्मा गांधी का कोई प्रभाव नहीं है, मुझे लगता है कि प्रधानमंत्री के देने से पुरस्कार की पवित्रता नष्ट हो गई, देश में बुजुर्ग और सम्माननीय गांधीवादी मौजूद हैं। उनके हाथों पुरस्कार लेते खुशी होती, सत्ता निरपेक्ष सेवा, मूल्याधारित युगानुकूल सामाजिक संरचना का नमूना है। यह सहजात भाव ही लोकतंत्र की धर्म, जागृत लोकनायक का परिचायक ओर जनतंत्र की पहली शर्त है।

उठती चिनगारियां

मालती देवी राजनीति की सत्ता से टकराई तो चिनगारियों का फूटना सहज स्वाभाविक था। चिनगारियां फटी थीं। किन्तु समाज की अन्तर्भूत चिति और चेतना उनका कवच बन गई। यदि वे गलत होतीं तो लोगों को प्रधानमंत्री के तिरस्कार से सुख न मिला होता, कुछ ही मिनटों में वे वनवासी क्षेत्रों से निकलकर संपूर्ण राष्ट्र के क्षितिज पर शब्द और स्वर ब्रह्म की तरह छा न जातीं। लोगों ने उन्हें डराया तो वे और अधिक निडर हो गईं कि 'वे मेरा क्या करेंगे?' इमरजेन्सी (1975-76) के दौरान नंदिनी सतपथी (तब उड़ीसा की मुख्यमंत्री ने सभी हथकंडे अपनाए, मैं फिर भी अपने ढंग से जिन्दा रही। अधिक से अधिक इतना होगा कि वनवासी क्षेत्रों में मेरे जीवन भर के काम को वे नष्ट कर सकते हैं। मुझे कोई डर नहीं है। मैं उन्हें चुनौती देती हूं कि उनकी जैसी इच्छा है वैसा व्यवहार मेरे साथ करें?' इसे कहते हैं, अभय! आत्मा का गुण है, भय जीव की कायरता। सत्ताजीवी जीव सदा भयभीत रहता है, सेवा मे रची-बसी आत्मा निर्भय होती है।

गूलर के फूल

मैं नहीं जानता कि पुराणों में देवराज इन्द्र के काल से चली आ रही त्याग, तप, सेवा, समर्पण, चिति ओर चेतना के विरुद्ध सत्ता का यह भयभीत अभिमान, इंदिरा और राजीव के काल तक निरंतर क्यों चलता चला आ रहा है? निषेध के बाद भी इसे सत्ता और शासक का सहज स्वभाव और दुर्गुण मानकर क्यों स्वीकार कर लिया जाता है? अस्थाई सत्ता का यह मन और चरित्र स्थाई समाज के अन्तर्भूत सत्य पर हावी क्यों है? समाज का सनातन सत्य अस्थाई और सत्ता का दंभ स्थायी भाव क्यों बना रहता है? समाज के सनातन मन और सत्ता की परिस्थिति सापेक्ष शरारत के बीच यह संघर्ष क्या कभी अंतिम होगा? सुर-असुर प्रवृत्तियों की दार्शनिकता का महत्व तो है किन्तु जो गुण सृष्टि प्रदत्त हैं, आमतौर से जिनकी अभिव्यक्ति होनी चाहिए, वे गूलर के फूल क्यों है और जिन दुर्गुणों को, अपवाद होना चाहिए, वे आमतौर से फलते-फूलते क्यों दिखाई देते हं?किसी मालती देवी, किसी महादेवी, किसी जयप्रकाश, किसी नानानी देशमुख, किसी मुखर्जी, किसी अम्बेडकर का कैवल नाम लेकर जीने का यह रिवाज कब तक चलता रहेगा? उनके कर्म से क्यों नहीं जुड़ते लोग? क्या केवल अच्छा लगना, केवल प्रसन्न हो जाना ही शील, चरित्र, सेवा और सत्कर्म की प्रतिष्ठा के लिए पर्याप्त है? शायद नहीं।

अत्याचार, अन्याय, चरित्रहीनता के विरुद्ध असहमति के करोड़ों हाथ एक साथ नही उठते, निषेध की आवाज एक साथ नहीं उठती, शायद इसी कारण कुछ असामाजिक तत्व, कुछ गुंडे, कुछ तस्कर, कुछ माफिया गिरोह, कुछ कालाबाजारिए इस देश में प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, नेता और सरकारें बनाते बिगाड़ते हैं, शायद यही कारण है कि आजकल अपने देश में सब कुछ फर्जी है। और यहां एक खानदानी राजनीतिक दल का खानदानी लोकतंत्र चल रहा है। देश में निर्वाचन का मनोनयन लेता जा रहा है। सामाजिक दोष, आर्थिक अपराध, जातीय, पंथिक, सांप्रदायिक और क्षेत्रीय शत्रुता क्या इसीलिए तो नहीं है कि उन पर किए जाने वाले प्रहार प्रामाणिक नहीं, अवसरवादी और निहित स्वार्थों से प्रेरित होते हैं?

आशादीप

श्रीमती मालती चौधरी आज के अंधकार मे आशादीप बनकर जली हैं। इस प्रकाश में सेवा और समाज के सत्य का यह श्लोक पढ़ा जा सकता है कि समाजसेवियों, रचनाधर्मियों, बुद्धिजीवियों और विज्ञानियों को अपनी प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए राजदरबार की दया का दास होने के और शासन का संरक्षण प्राप्त करने के लिए दांतों तले तिनका दबाकर शासक के सामने गिड़गिनाने की आवश्यकता नहीं है। साधना की सिद्धि शासक की मान्यता और शासकीय सम्मान में नहीं, उस उपलब्धि में है जो भविष्य की राह बनाती है और भावी पीढ़ियों के पंथ का पाथेय बनती है।

19 फरवरी, 1989

भारत राष्ट्र का व्यक्तित्व

भारत का सांस्कृतिक और सामाजिक सूत्र जितना सबल है, राजनीतिक सूत्र उतना ही दुर्बल। राजनीतिक हिताहित और दलीय स्वार्थ भारत की विविधता को विभेद में बांटते और एकता को अनेकता की दृष्टि में देखते हैं। भारत की राष्ट्रीय एकात्मकता और सांस्कृतिक मन कब और कहां जुड़ता और बिखरता है, इसके कुछ ताजा प्रमाण मिले हैं।

इस समय देश भर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डाक्टर केशव राव बलिराम हेडगेवार की जन्म शताब्दी के समारोह चल रहे हैं। संघ के हजारों स्वयंसेवक लाखों ग्रामों में जाकर करोड़ों लोगों से व्यक्तिगत संपर्क साधकर डाक्टर हेडगेवार के जीवन और हिन्दू राष्ट्र दर्शन का संदेश घर-घर पहुंचा रहे हैं। जनसंपर्क और जनसभाओं के कार्यक्रम चल रहे हैं। स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक डाक्टर हेडगेवार जन्मशताब्दी समारोह समितियों का गठन किया गया है। इन समितियों में सभी पंथों, भाषा-भाषियों, राजनीतिक दलों, सामाजिक वर्गों और विभिन्न विचारधारा वाले बुद्धिजीवियों के प्रतिनिधि शामिल हैं। सभी भारत की मुख्य हिन्दू सांस्कृतिक धारा से सहमत हैं। कुछ उदाहरण देखिए।

हिन्दुत्व पर एकमत

तमिलनाडु का कराईकुड़ी! डाक्टर हेडगेवार जन्मशताब्दी समारोह का आयोजन। विशाल जनसमूह। सभा मंच पर इंदिरा कांग्रेस के प्रतिनिधि अध्यक्ष के रूप में विराजमान हैं। समारोह समिति के मंत्री जनता दल के हैं और सदस्य हैं अन्ना द्रमुक (जयललिता गुट) के। मुख्य वक्ता हैं श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी। श्री ठेंगड़ी के भाषण के पश्चात अध्यक्ष, मंत्री आदि का भाषण। वे तीनों बारी-बारी से जो बोले उसका सारांश है 'हम किसी राजनीतिक दल में बाद में शामिल हुए हैं। हम पहले हिन्दू हैं, बाद में राजनीतिक दलों के सदस्य या जातियों-पंथों के प्रतिनिधि।'

यह सभा तमिलनाडु विधानसभा चुनाव के पूर्व हुई थी। चुनाव के संदर्भ में उनका कहना था कि 'चुनाव हम अलग-अलग और अपनी-अपनी पार्टियों के लिए लड़ेंगे, किन्तु हिन्दुत्व के प्रश्न पर हम सभी एकमत हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सांस्कृतिक राष्ट्रीय अवधारणा हमें मान्य है।'

दूसरा उदाहरण है पुणे का। पुणे महाराष्ट्र का बुद्धिपीठ माना जाता है। अपनी बौद्धिकता पर वहां के लोगों को नाज है। डाक्टर हेडगेवार जन्मशताब्दी समारोह के प्रसंग में श्री गोरे सदृश वयोवृद्ध समाजवादियों ने संघ विरोधी अभियान चलाया है। हिन्दुत्व और हिन्दू राष्ट्र की सांस्कृतिक संकल्पना के विषय में मतिभ्रम पैदा करने का हर संभव प्रयास किया है। यह समाजवादियों का सहजात स्वभाव है। इसी माहौल में पुणे की महापालिका ने डाक्टर हेडगेवार की प्रतिमा के अनावरण का कार्यक्रम आयोजित किया। अंकुशराय काकड धन्यवाद ज्ञापन करते हुए बोले, 'हम संघ-प्राणित हिन्दुत्व की अवधारणा से सहमत हैं। हमारे मन में भी हिन्दुत्व की वही छटा और छवि है जिसका प्रतिपादन संघ करता है।'

मध्य प्रदेश के छतरपुर क्षेत्र नये गांव के वयोवृद्ध स्वतंत्रता सेनानी ओर कांग्रेसी श्री रूसिया जी। उनसे बातचीत शुरू हुई तो देश और समाज की बात हिन्दू समाज पर आकर अटक गई। बोलते-बोलते बोले, 'संघ जैसे हिन्दुत्ववादियों को आक्रामक आंदोलन चलाना चाहिए कि परिवार नियोजन कार्यक्रम या तो समाप्त कर दिया जाय या फिर इसे लागू किया जाय। यदि ऐसा नहीं किया गया तो आने वाले बीस वर्षों में भारत या तो मुस्लिम देश बन जायगा या फिर इसके आधे भाग पर एक नये मुस्लिम राष्ट्र का उदय होगा अर्थात् एक और विभाजन की आधारशिला है एकपक्षीय परिवार नियोजन कार्यक्रम। श्री राम जन्मभूमि आंदोलन को और अधिक उग्रता प्रदान करनी चाहिए। इसके कारण राष्ट्रीय स्वाभिमान जग रहा है। देशवासियों को उनकी राष्ट्रीय पहचान प्राप्त हो रही है। रामजी का भव्य मंदिर बनना ही चाहिए। उसी में भावी भव्य भारत का निवास है। यह बात हमारे मन की है, लेकिन राजनीतिक कारणों से हम इसे सार्वजनिक रूप से नहीं कह सकते। किन्तु यह निश्चित है कि भविष्य का गौरवशाली भारत हिन्दुत्व की प्रतिष्ठा में ही निहित है।

इस प्रमाण के पक्ष में एक-दो साक्षी और देना चाहूंगा। एक अभी की है, और दूसरी चौंतीस वर्ष पुरानी 1955 की। पहले दूसरी घटना बताता हूं। यह घटना पंडित दीनदयाल उपाध्याय की बताई हुई है। कन्याकुमारी के उत्तर-पश्चिम तट के त्रावणकोर-कोचीन राज्य के मण्डाक्काड में हिन्दू सम्मेलन का आयोजन किया गया था। यह तमिलभाषी क्षेत्र राज्य पुनर्गठन के पश्चात तमिलनाडु में मिला दिया गया था। इस प्रश्न पर मलयाली ओर तमिलभाषियों में शत्रुता की सीमा तक कटुता पैदा हो गई थी। उस सम्मेलन में स्वर्गीय पंडित दीनदयाल जी उत्तर भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। उन्होंने साश्चर्य देखा कि उस भाषाई कटुतापूर्ण माहौल में भी तमिल और मलयाली भाषा का बेहिचक प्रयोग किया जा रहा है। और सभी शांत भाव से सबको सुन रहे हैं, पराएपन का कोई भाव दिखाई नहीं दे रहा हैं। पंडित जी ने बताया कि 'मेरे सामने भी यह प्रश्न था कि मैं किस भाषा में बोलूं। पहले दिन मैं अंग्रेजी में बोला, जिसका तमिल में अनुवाद कर दिया गया। भाषण समाप्त होने के बाद अनेक

सज्जन मेरे पास आए और मुझसे आग्रह किया कि अगला भाषण मैं हिन्दी में दूं। अनुवाद तो होता ही है, इसलिए अंग्रेजी का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता है। हिन्दी के विषय में यह अपनापन पाकर मुझे आनन्द हुआ और अंग्रेजी से छुट्टी लेकर उस सम्मेलन में हिन्दी का ही प्रयोग करता रहा।

हिन्दू सम्मेलन समाप्त होने के बाद मैं नागरकोइल आया। विचार हुआ कि एक सार्वजनिक सभा करके जनसंघ की विचारधारा के विषय में भी वहां की जनता को कुछ बता दिया जाय। हिन्दू सम्मेलन में जिन लोगों से कुछ संबंध आ गया था, उन्होंने ही सभा का आयोजन किया। भाषण के पूर्व उन्होंने मुझसे कहा, 'यहां पर आप अंग्रेजी मे बोलिएगा।' मैंने पूछा, 'क्या सब लोग अंग्रेजी समझ सकेंगे।'

'नहीं', उन्होंने कहा, 'हम तमिल में अनुवाद कर देंगे।'

'अनुवाद ही करना है तो हिन्दी से ही कार्य चल जायगा। मण्डक्काड के सम्मेलन में लोगों ने हिन्दी में बोलने की मांग की थी। आप लोगों ने स्वयं हिन्दी में भाषण देने का आग्रह किया था।'

'मण्डक्काड की बात अलग है', वे बोले, 'वहां हिन्दू सम्मेलन था। अतः हिन्दी के विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु अब हम राजनीतिक दल की सभा कर रहे हैं। यहां लोग हिन्दी को पसंद नहीं करेंगे। अनुवाद भी हम तमिल में करेंगे। मलयालम को प्रयोग किया तो कुछ भ्रम फैल सकता है।'

यह घटना सुनाकर स्वर्गीय पण्डित जी ने अपना निर्णय दिया, 'स्पष्ट है कि आज की राजनीति हमें जोड़ने के स्थान पर तोड़ रही है। साथ ही यह भी पता चला है कि हमको जोड़ने वाला यदि कोई सूत्र है तो वह हिन्दुत्व का ही है। हिन्दू सम्मेलन में अपढ़ और पढ़े सभी लोग भाषा-भेद अपनेपन के साथ भाग ले सकते थे। किन्तु वे ही लोग राजनीतिक मंचों पर आते ही अपनी समस्त सहिष्णुता खोकर जीवन की हर भिन्नता और विविधता को भेद मानकर विरोध करने को तैयार हो गए। आज राष्ट्र में विच्छिन्नता और विघटन की प्रवृत्तियों को बढ़ता देखकर सभी विचारशील लोग चिंताकुल हैं। उनके लिए यह अनुभव संकेतकारक हो सकता है।'

हिन्दी का शोर

इसी तरह की एक घटना और है। विश्व हिन्दू परिषद के महामंत्री श्री अशोक सिंहल तमिलनाडु में हिन्दी मुन्नानि द्वारा आयोजित विशाल हिन्दू सम्मेलन में बोलने खड़े हुए और अंग्रेजी में पहला वाक्य ही बोल पाये थे कि सभा में 'हिन्दी-हिन्दी' का गगनभेदी शोर उठा। लोगों ने कहा, 'अंग्रेजी में नहीं, हिन्दी में बोलिए।' और उसके कुछ दिन बाद श्री अटल विहारी वाजपेयी जैसे विख्यात राष्ट्रीय नेता को उसी तमिलनाडु के लोगों ने हिन्दी मे नहीं बोलने दिया था। जनता कुछ कहती, उसके पूर्व कार्यकर्ताओं ने ही हिन्दी में बोलने से मना कर दिया था।

प्रयाग का महाकुंभ अभी-अभी संपन्न हुआ है। भाषा, भूषा अनेक और भाव एक का जो साक्षात रूप दिखाई दिया, उसका भी सूत्र हिन्दुत्व की सांस्कृतिक अभिन्नता ही है। जाति, पंथ, संप्रदाय, स्पृश्य-अस्पृश्य का कोई भेद दिखाई नहीं दिया है। किसी ने किसी से भी नहीं पूछा कि 'तू कौन है, किस जाति का है, कौन सी भाषा बोलता है, कैसा भोजन करता है?' लोक-परलोक की समान भावना की भूमि हिन्दुत्व होने के कारण ही यह संभव हो सका।

एकता की कड़ी

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय सचमुच समग्र ओर एकात्म राष्ट्रीय सोच वाले व्यक्ति थे। उन्होंने जब अपना प्रसंग बताया तो उस समय उनसे कई प्रश्न पूछे थे कि 'हमने प्रजातंत्र को अपनाया है। देश की संसद से लेकर पंचायत तक के चुनाव होगे। राजनीति देश को बांटती है तो इस प्रकार तो सारा देश गांवों तक टूट जाएगा। इसका अर्थ क्या यह नहीं है चुनाव को अलविदा कह दिया जाय। प्रजातंत्र को छोड़ दिया जाए?'

पंडित जी का उत्तर था, 'नहीं, किसी को भी अलविदा करने और छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। प्रजातंत्र का अपना लाभ है, उससे वंचित होना ठीक नहीं होगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम राजनीति और चुनावों के सही अभिप्राय को समझें। उनकी अपनी मर्यादाएं हैं। जुआरी भी जुए की मर्यादाओं का ध्यान रखता है। हमें भी राष्ट्र की मर्यादाओ का विचार करके ही राजनीति करनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हमे जोड़ने वाली कड़ी बलिष्ठ बनाई जाए। राष्ट्र की एकता का पोषण राजनीतिक क्षेत्र में, जहां संस्था अभिनिवेश का ही बोलबाला होता है, नहीं हो सकता। आज राष्ट्रीय एकता की कामना तो सभी करते हैं; किन्तु उसकी व्यवस्था करने की ओर कोई ध्यान नहीं देता। यह कार्य सेक्युलरवाद और समाजवाद से नहीं हो सकता। इन दोनों से भारत की अन्तःप्रेरणा जाग्रत नहीं होती। इसके लिए तो हमें हिन्दुत्व का आधार लेकर खड़ा होना पड़ेगा। यहां के करोड़ों लोगों को जोड़ने वाली कड़ी हिन्दुत्व—केवल हिन्दुत्व— है।

पिछले अनेक वर्षों से इस कड़ी की अवहेलना करने का परिणाम यह हुआ है कि भारत को जोड़ने वाली कोई चीज रह ही नहीं गई। संविधान अथवा वर्तमान राज्य यह कार्य नहीं कर सकता। क्योंकि वे दोनों ही परिवर्तनशील हैं और दोनों में संशोधन संभव है। हिन्दुत्व की अवहेलना का परिणाम यह हुआ है कि सहस्रों वर्षों से हमारे पुरखों ने हमें एकात्म बनाने के लिए जिन विधियों, संस्कारों और पद्धतियों को प्रचलित किया उनकी ओर से हमारा दुर्लक्ष्य होता जा रहा है। गुलामी की एकता हमें प्रिय नहीं हो सकती। अतः मानस उसके प्रति विद्रोह करता है। आज के वातावरण में राजनीतिक नेताओं द्वारा फैलाया हुआ यह भ्रम ओर राष्ट्र मानस का अन्तर्द्वन्द्व जब

तक दूर नहीं किया जाता, तब तक एकता की प्रवृत्ति को बल नहीं मिलेगा। व्यक्तिगत स्वार्थ को दबाकर समाजहित का भाव पैदा करने की दृष्टि से भी हिन्दुत्व बहुत सहायक है। हमारा संपूर्ण तानाबाना ही समष्टि भाव पर खड़ा हुआ है। व्यक्ति के उदात्तीकरण की उसमें पूरी व्यवस्था है। यह भाव यदि विद्यमान रहा तो व्यक्ति और समाज के बीच क संघर्ष का भी सहज ही निरसन हो सकेगा तथा हम पूंजीवाद और समाजवाद, दोनों की विभीषिका से बचकर चल सकेंगे।

निर्विवाद सत्य

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य को हमें इस पृष्ठभूमि में देखना होगा। राजनीति के चश्मे अथवा पूर्वाग्रह को छोड़कर यदि इस कार्य का अवलोकन किया तो फिर राष्ट्र के लिए उसकी उपयोगिता ही नहीं, अपरिहार्यता भी सहज ही समझ में आ जाएगी। डाक्टर हेडगेवार ने इसी भावनात्मक आधार को लेकर संघ का निर्माण किया। आज यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि अक्षरशः संपूर्ण समाज और राष्ट्र की एकात्मता का भाव लेकर यदि कोई काम चल रहा है तो वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का ही है। जिनको सत्य का पता नहीं है, वे भ्रमवश चाहे जो कहें, किन्तु जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है उन्हें यह समझना चाहिए कि देश को एक बनाए रखने की जिम्मेदारी उनकी है। हिन्दुत्व का साक्षात्कार भारत राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार है। हिन्दुत्व का निषेध भारत राष्ट्र की दुर्बलता है। हिन्दू समाज का वैभव, चिंतन और चरित्र ही भारत राष्ट्र का वैभव, चिंतन ओर चरित्र है।'

जिस बिन्दु से चले थे, यदि वहीं फिर पहुंचे तो कहना पड़ेगा कि इस राष्ट्र को राजनीति नहीं, यहां के राष्ट्रीय समाज की एकरसता और एकात्मता ही एक और अखण्ड रख सकती हे। यहां की विविधता में एकता का सूत्र यहां की हिन्दू संस्कृति और परंपरा है। हिन्दुत्व कोई भेद नहीं मानता। यदि हिन्दुत्व का भाव जागृत रहा तो राजनीतिक सत्ता चाहे जिस किसी की हो, राष्ट्रीय एकात्मता अक्षुण्ण रहेगी और यदि हिन्दुत्व का भाव सुप्त और हिन्दू समाज भेदों में बंटा रहा तो चाहे शंकराचार्य को ही क्यों न भारत का प्रधानमंत्री बना दिया जाय, न तो भारत को गौरवशाली बनाया जा सकेगा और न ही उसकी एकता की रक्षा की जा सकेगी। झगड़े और अलगाव पहले से भी अधिक बढ़ेंगे, मर्यादाएं टूटेंगी। डाक्टर हेडगेवार जन्म-शताब्दी समारोहों में भारत राष्ट्र का सांस्कृतिक, अखण्ड और अविभाज्य हिन्दू व्यक्तित्व एक बार फिर अत्यन्त सशक्त रूप में उभरा है। हिन्दू समाज की विकृतियों को उसका व्यक्तित्व न मानें, आधुनिक, राजनीतिक, आर्थिक संरचना भारत के सनातन अधिष्ठान के अनुकूल नहीं हैं। वह आयातित है, इसीलिए अलगाव और भेद भड़क रहे हैं।

26 फरवरी, 1989

विपक्ष की राजनीति का त्रिकोण

एक त्रिकोण विपक्ष की राजनीति में है तो एक त्रिकोण भारत की राजनीति में। विपक्ष का त्रिकोण है भाजपा, जनता दल और कम्युनिस्ट पार्टियां। भारतीय राजनीति का त्रिकोण है शहंशाही, सूबेदारी और कबीलाई संस्कृति। इंका के रथ पर सवार होकर भारतीय राजनीति में फतवा, फरमान, मजहबी और कबीलाई संस्कृति वाले राजतंत्र का युग वापस आ गया है। कुछ अपवादों के अतिरिक्त प्रत्येक दल में तानाशाह, सूबेदार जातियों और मजहबों के समान चरित्र वाले झण्डावाहक हैं। सत्ता प्राप्त करने के लिए फतवावादी राजनीति के ठेकेदारों ने राजनीतिक दलों को दक्षिण, मध्य और वाम में बांट दिया। कांग्रेस के खानदानी एवं एकाधिकारवादी तौर-तरीके सबने अपना रखें हैं। अधिकांश दलों का आंतरिक लोकतंत्र मनोनयन का बंदी है। सिद्धांत और नीतियां चुनावी हार-जीत की मोहताज हैं। अपना दाग धोने के लिए कोई वामपंथ के साबुन का प्रयोग करता है तो कोई अल्पसंख्यकता के सेकुलर पाउडर का।

दक्षिण और वामपंथ

दक्षिण, मध्य और वाम की अवधारणा भारतीय समाज चिन्तन में से नहीं जन्मी है। इसकी जन्मभूमि है फ्रांस की संसद। फ्रांस की संसद में संपत्ति का संरक्षण करने के पक्षधर पहले से ही अध्यक्ष के आसन के दाहिनी ओर बैठते थे इसलिए उन्हें दक्षिणपंथी कहा गया। संपत्ति के अधिकार में थोड़ा कतर ब्योंत करने पर बल देने वाले लोग बाई ओर बैठते थे इसलिए उन्हें वामपंथी कहा गया। यह हैं दक्षिण पंथ और वामपंथ आदि कथा।

प्रसिद्ध समाजवादी स्व० डा० राममनोहर लोहिया का कहना था कि दक्षिण और वाम के साथ केवल संपत्ति के संरक्षण की ही नहीं और बहुत सी बातें भी जुड़ गई थीं जैसे, यूरोप के लोगों के सामने बहुत बड़ा सवाल था कि वहां के बच्चों की शिक्षा का अधिकार गिरजाघरों को भी देना चाहिए। जो लोग अध्यक्षीय आसन के दाहिनी ओर बैठे थे उन्होंने कहा कि शिक्षा देने का अधिकार गिरजाघरों को भी दिया जाए। शिक्षा, संपत्ति की सुरक्षा और गिरजाघरों के अधिकारों की बात करने वाले दाईं ओर ओर संपत्ति को कम करने या मिटाने की बात करने वाला बाई ओर बैठते थे—बस यहीं से दक्षिण-वाम का प्रयोग चल निकला। उन लोगों के बैठने का दायां-बायां स्थान भिन्न

होता तो दक्षिण-वाम का अर्थ जैसा न होता। बैठने की व्यवस्था और पद्धति के कारण भिन्न विचार वालों को दक्षिण-वाम की सूली पर टांग दिया गया।

लोहिया का मत

लोहिया जी ने कहा है, 'समाजवादी चिंतन में दक्षिण पंथ, वामपंथ, नरम और गरम शब्दों का प्रयोग बिना समझे हो जाया करता है। उदाहरण के लिए, आज कम्युनिस्ट पार्टी संपत्ति के मामले में अपेक्षाकृत! वामपंथी और समाजवादी है, अपेक्षाकृत मैं उसको पूरी शाबाशी नहीं देना चाहता। अपने दल को भी नहीं क्योंकि कोई यह कहे कि संपत्ति के मामले में समाजवादी कोई गहरा कदम उठा रहे हैं तो यह बात गलत है। इसी पर से सवाल अगर भाषा का लें और अंग्रेजी भाषा के इस्तेमाल का प्रश्न आए तो जनसंघ (अब भाजपा) के लोगों जैसा दल, जिसको अवधारणा के तौर पर लोग दक्षिणपंथी दल बोल देते हैं, कम्युनिस्टों के मुकाबले ज्यादा वामपंथी हैं। क्योंकि कम्युनिस्ट लोग न जाने किस कारण से अंग्रेजी भाषा के साथ चिपके हुए हैं ओर जनसंघी अंग्रेजी भाषा को पूरी तौर से हटाना चाहते हैं।'

प्रश्न दक्षिण, मध्य ओर वाम का नहीं है। प्रश्न है राजनीतिक नीयत, राजनीतिक चरित्र और राजनीतिक इरादों का। भाजपा, जनता दल और कम्युनिस्टों के बीच का विरोध बिन्दु आस्था, निष्ठा और सिद्धांत का बिन्दु है। इन दलों का जायजा नीतियों और कार्यक्रमों के आधार पर करें तो पायेंगे कि आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रमों के मामले में भाजपा कम्युनिस्टों और जनता दल की अपेक्षा अधिक व्यवहारिक और क्रांतिकारी है। देश के आखिरी आदमी से जुड़ी आर्थिक नीति का जवाब राष्ट्रीयकरण की पक्षधर वामपंथियों और मध्यमार्गीयों के पास नहीं है। साझी सत्ता में भाजपा के लोगों को जो कुछ भी समय मिला अन्त्योदय के अन्तर्गत उन्होंने गरीबों की हंडिया में अनाज भर दिया। पहाड़ों पर पीने का शुद्ध पानी पहुंचा दिया। सिर ढकने के लिए गृह-निर्माण योजना को तेज किया। समाज को शासकीय प्रक्रिया में सहभागी बनाने का प्रयास किया। क्या कम्युनिस्ट अन्त्योदय और पीने के पानी की व्यवस्था करने का विरोध केवल इसलिए करेंगे कि भाजपा उसकी पक्षधर है? या जनता दल की कांग्रेसी संस्कृति उसे इसलिए नकार देगी कि वह कांग्रेसी समाजवाद की नहीं, भाजपा के एकात्ममानववादी दर्शन की देन है?

कल्पित विभाजक रेखा

आयातित शब्दों और नकल के आधार पर भारतीय राजनीति की एक मनचाही कल्पित रेखा खींच ली गई है। इस रेखा को दक्षिण, वाम और मध्यवर्गी दलों के बंदनवार से सजाया गया है। जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चा बनने के बाद विपक्ष की राजनीति और अधिक द्विविधा और अविश्वसनीयता के जाल में फंस गई है। यह

ठीक है कि भाजपा और कम्युनिस्टों का अपना-अपना चरित्र, चिंतन, सिद्धांत, कार्य, व्यवहार, परंपरा और देश की राजनीति की लीक से हटकर एक विशिष्ट रूपरेखा है और जनता दल की राजनीतिक राह कांग्रेस की तरह केवल ऊबड़खाबड़ राजपथ है। किन्तु यह न भूलें कि इस समय संकट में विकल्प और नेतृत्व नहीं, लोकतांत्रिक व्यवस्था है। और कोई माने या न माने व्यवस्था बदलने के वास्तविक दावेदार दो ही हैं। कम्युनिस्ट और भाजपा, और दोनों दो छोर पर खड़े हैं।

सोच में अंतर

रूसी क्रांति के सात दशक पूरे हो गये। गोर्बाचोव का खुलापन ओर नवरचना अभियान भारत क कम्युनिस्टों को भूचाली हाहाकर जैसा लग रहा है। खुलापन और राजधर्मिता भारतीय लोकतंत्र को भारतीय लोकचिंतन और जीवन की सहज देन हैं और कम्युनिस्ट इसी से घबड़ा रहे हैं। क्यों? यदि जनता दल व्यवस्था बदलने का दावा करता है तो नई राजनीतिक संस्कृति और विचार का निषेध क्यों करता है? वह 'एक राष्ट्र, एक जन' की अखण्डता में अल्पसंख्यकता के अलगाववाद का विष क्यों घोलता है? सत्ता और धनशक्ति का विकेन्द्रीकरण भाजपा की नीति और सिद्धांत की मूल धुरी है। बहुराष्ट्रीय कंपनियां ओर विश्व बैंक के शिकंजे में देश को फंसाए जाने की भाजपा प्रबल और कट्टर विरोधी हैं। भाजपा कमाने वाला खायेगा की कम्युनिस्टी घोषणा को सुधारती है कि 'नहीं, केवल कमाने वाला ही नहीं खायेगा, कमाने वाला खिलायेगा भी।' पहली प्रक्रिया में बूढ़े; बच्चे, पिछड़े, अपाहिज और बीमारों की चिन्ता करने की सोच नहीं है, दूसरी प्रक्रिया में समाज के बूढ़े, पिछड़े, अपंग ओर बच्चें की देखभाल की गारंटी है। रोजी-रोटी, पीने का पानी, आवास, शिक्षा और दवाई उसकी प्राथमिकता हैं।

संपत्ति के केन्द्रीकरण को भाजपा सामाजिक अपराध मानती है। संपत्ति के प्रति अनासक्ति का भाव भाजपा के चिंतन का मूल बिन्दु है। भाजपा की नजर नगरवासियों के चमकते चेहरों पर नहीं, गरीब के पांव की बिवाइयों पर है कि उसका पांव फटना बंद हो। उसे विकास के लिए समान ही नहीं, कुछ विशेष अवसर भी मिलें, समाज में आर्थिक असमानता का अंत हो। वह विकास-योजना का निर्माण आम आदमी के लिये आम के पेड़ के नीचे बैठ कर करने और जिनका विकास करना है उन्हें उसमें सहभागी बनाने की पक्षधर हैं। सत्ता और संपत्ति के समाजी और विकेन्द्रीकरण की उस उपनिषदीय और ऋषि व्यवस्था में उसका विश्वास है जिसमें अपना पेट भरने के अतिरिक्त अन्न बचाकर रखना, दूसरे के अन्न की चोरी माना गया है।

अर्थनीति हो या विदेश नीति, समाज नीति हो या शिक्षा नीति, गरीबी की समस्या, भाजपा की क्रांतिकारिता और सिद्धांतों से कम नहीं है। संविधान, लोकतंत्र, संसद लोकतांत्रिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं को मानना, उनका सम्मान करना भाजपा

का सहज स्वभाव है, लेकिन कम्युनिस्टों ने इनको अपना सर्वसत्तावादी शासन स्थापित करने के लिए बाध्यता के नाते अपना रखा है।

जनता दल कांग्रेस के सत्ता वंचित असंतुष्टों और निष्कासितों का जमघट है। व्यक्तियों के स्तर पर नई पीढ़ी के कुछ लोग अपवाद हो सकते हैं, किन्तु सिद्धांत और संस्कृति के स्तर पर सभी कांग्रेसी ही हैं।

कैसी अन्तर्राष्ट्रीयता

एक बात और है। कम्युनिस्टों की अन्तर्राष्ट्रीयता की बात। डा० लोहिया ने इसे 'गद्दार अन्तर्राष्ट्रीयता' कहा है। कम्युनिस्टों की अन्तर्राष्ट्रीयता भारत की राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय अस्मिता पर निरंतर चोट करती रहती है। भारत की चिरंतन राष्ट्रीयता और राष्ट्र प्रेम को प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी प्रतिपादन करने वालों का भारत की सत्ता राजनीति के केन्द्र में आने का अर्थ है कि एक नई गुलामी का सूत्रपात। वोट राजनीति के तात्कालिक लाभ के लिए जनता-दल के देशभक्त लोग इन तत्वों को बढ़ावा देकर अफगानिस्तान की तरह लोकतांत्रिक राष्ट्रीय व्यवस्था को अंदर से ध्वंस करने का अवसर प्रदान करेंगे? अन्तर्राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता को परस्पर विरोधी बताकर अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का अनादर और अवहेलना करना राष्ट्रहित की बात नहीं है। कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वमान्य राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय सोच एक ध्रुव पर नहीं आ सकते। उनके दो अलग-अलग ध्रुव अवश्य होंगे। लेकिन ये ध्रुव दक्षिण और वाम नहीं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कहे जाने चाहिए। इनके बीच का सेतु 'मध्यमार्ग' नहीं राष्ट्रीय अस्मिता का अहसास ही हो सकता है।

मोहभंग

रूसी कम्युनिस्ट क्रांति के सात दशक और कांग्रेसी संस्कृति वाले शासन के इकतालीस वर्ष बीत गए। रूस में खूनी क्रांति हुई तो वह कंगाल नहीं था। तब उत्पादन का समान वितरण, सबको काम, सबको मकान, सबको भोजन, सबको दवाई, सबको पढ़ाई, सबकी सामाजिक सुरक्षा और सबकी सहभागिता की घोषणा की गई थी। उसके बाद किसको क्या-क्या मिला यह पहले ख्रुश्चेव, ब्रेझनेव और अब गोर्बाचोव बता चुके हैं। संपूर्ण साम्यवादी-समाजवादी दर्शन कम्युनिस्ट क्रांति के बाद से अब तक अमूर्त ही हैं। अमूर्त ही नहीं तो उसके प्रति रूस और चीन सहित समस्त समाजवादी देशों का मोह भंग हो चुका है। चीन समाजवाद को अभिशाप मानने लगा है। रूस के गोर्बाचोव नई रचना के लिए रूसियों का विश्वास प्रांप्त करने का प्रयास कर रहे हैं कि समाजवादी जंजाल से किसी प्रकार जान छूटे।

यह तो दूर की बात है—रूस और चीन की। अपने भारत में भी कम्युनिस्ट सिद्धांत अभी तक अमूर्त और निर्गुण ही हैं। पश्चिम बंगाल और केरल में कम्युनिस्ट

शासन हैं। केरल में सर्वप्रथम कम्युनिस्ट सरकार पचास के दशक में बनी थी। पश्चिम बंगाल में कम्युनिस्ट एक दशक से अधिक समय से सत्तारूढ़ हैं। क्या वहां अभी तक समाजवाद का कोई भी एक सूत्र मूर्त हुआ है? क्या वहां व्यवस्था में कोई बदल आया? पश्चिम बंगाल का कम्युनिस्ट शासन कम्युनिस्ट और कांग्रेस संस्कृति का घोल मात्र है। वहां भी गरीब अभी तक गरीब ही बना हुआ है। अमीरों के ठाठ बढ़े हैं, बेरोजगार हाथ हत्या करने लगे हैं। दवा के अभाव में सैकड़ों लोग विवश मौत मर रहे हैं। वहां छात्र और शिक्षक तो हैं पाठशालाएं नही हैं। अध्यापक प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाते नहीं, कम्युनिस्ट पार्टी का काम करते हैं। सरकारी कम्युनिस्ट कार्यकर्ता बनाने का यह एक नया शोध किया है। ज्योति बसु और कम्युनिस्टों के पितामह सिद्धांतकार रणदिवे से इस विषय में पूछा गया तो उनका जवाब था कि हमने कब कहा था कि हमें शासन मिलेगा तो हम समाजवाद लायेंगे।'

लक्ष्य से दूर

समाजवाद को जिन मूर्त वस्तुओं के साथ जोड़कर उसे सगुण बताया जाता है। वह वितरण व्यवस्था, सबको समान अवसर, समान अधिकार, गरीबी मिटाना, बेरोजगारी समाप्त करना, सामाजिक आर्थिक समानता लाना और सांप्रदायिक सद्भाव की स्थापना करना क्या कम्युनिस्ट शासन में भारत के पश्चिम बंगाल से लेकर रूस, चीन और यूगोस्लाविया आदि कम्युनिस्ट देशों ने करके दिखाया है। यदि यह साम्यवादी लक्ष्य प्राप्त हो गया तो व्यक्ति स्वातंत्र्य और संपत्ति के अधिकार को लेकर मास्को मे नया विवाद न शुरू होता और दुनिया भर के कम्युनिस्ट सैद्धान्तिक अरदब में न पड़ते।

जनता दल और उसके अनेक नेता कई राज्यों में शासन में हैं। उसके कई नेता कई बार कांग्रेसी ओर गैर कांग्रेसी के रूप में लंबे समय तक शासन में रहे हैं। उनसे जुड़ा अनुभव कांग्रेसी और कम्युनिस्ट शासन से भिन्न नहीं है। भारत की आज की दुःखद स्थिति निर्माण करने में उनका भी योगदान है।

स्पष्ट है रूसी कम्युनिस्ट का सत्तर वर्ष, भारतीय कम्युनिस्टों का तीन दशक और कांग्रेसी संस्कृति का चार दशक अपने निर्गुण समाजवादी सिद्धांत को सगुण नहीं बना पाया। बना भी नहीं पायेंगे। क्योंकि उनकी पुस्तक में निर्गुण को सगुण बनाने का मंत्र है ही नहीं। परदेशमुखी भारत के कम्युनिस्ट समाजवादी अमूर्तता में क्रांति की चिंगारी देखते हैं, संस्कृति वाले लोग कांग्रेसी मिलावटी राजनीति में समता का दर्शन करते हैं और भाजपा की स्वदेशी उपनिषदीय एकात्मवादी सगुणता की संभावना पर अवसर दिए बिना अविश्वास करते हैं।

अमूर्त सत्य

यह सत्य हैं कि सिद्धांत और आदर्श अमूर्त नहीं होते हैं और कर्म उन्हें रूपायित

करते हैं। एल्डर जानसन ने इसकी अति सटीक व्याख्या की है कि, 'अधिकांश लोगों की यह मान्यता है कि वे किसी भी अनदेखी वस्तु पर विश्वास नहीं कर सकते। मित्रो! क्या आप तांबे के तारों में प्रवाहित तीव्र विद्युत प्रवाह देख पाते हैं ? क्या आप उसे छूने का साहस कर सकते हैं? नहीं, आप ऐसा नहीं कर सकते। यह सत्य है कि आप शक्तिमान विद्युत का दर्शन नहीं कर सकते किन्तु उसका प्रकाश प्रत्यक्ष देखते हैं।'

एक तथ्य भली-भांति समझ लें कि भारत की राजनीतिक रणभूमि में संघर्ष दक्षिण, मध्य और वाम का नहीं है। यह संघर्ष गद्दार अन्तर्राष्ट्रीयता, अराष्ट्रीयता, मध्यमार्गी सत्तालोलुप राजनीति और शुद्ध शाश्वत राष्ट्रीय अस्मिता के बीच है। यहां कोई भी दल न वामपंथी है न दक्षिण पंथी। गरीबी, बीमारी, भूख, अशिक्षा, अन्याय, अनाचार, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, सामाजिक खतरे, दरिद्रता विश्वास और चरित्र के संकट सबको समान रूप से सता रहे हैं। कौन कहां, किस ओर बैठता है इस आधार पर दक्षिण, मध्य और वाम पंथ का निर्धारण करेंगे तो दक्षिण-वाम पक्ष स्थान और समय के साथ-साथ बदलते रहेंगे। दिल्ली की संसद में कांग्रेस दाहिनी ओर बैठती है, इसलिए वह दक्षिणपंथी होगी, शेष सभी दल वामपंथी। केरल, कर्नाटक, तमिलनाडु, आन्ध्र, महाराष्ट्र, गुजरात, बिहार आदि दूसरे राज्यों में भी यह गणित इसी तरह गड़बड़ता रहेगा। एक राज्य का वामपंथी दूसरे राज्य में दक्षिण पंथी और एक राज्य का दक्षिणपंथी दूसरे राज्य का वामपंथी बन जायेगा।

भाजपा, कांग्रेस, जनता दल और कम्युनिस्टों के बीच की विभाजक रेखा नहीं, उनकी सहजा, उनके बात संस्कार उनकी आधार भूमि, बोलचाल ओर मुहावरे हैं। भाजपा इसे नकारती नहीं, जनता दल और कम्युनिस्ट इसे स्वीकारते नहीं। फिर भी एक पुष्ट मिलन बिन्दु है। कम्युनिस्ट विचारक मोहित सेन ने 10 जुलाई, 1988 के सण्डे आब्जर्वर में लिखा था कि 'जिस प्रकार हिन्दुत्वविहीन भारत की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार कट्टर ईसाइयतविहीन रूस भी अकल्पित है। कम्युनिज्म अब अपनी ईसाई माता की गोद में वापस जा रहा है। रूस के संदर्भ में मोहित सेन के इस कथन को ध्यान में रख कर यदि भारत के कम्युनिस्ट भी अपनी भारतमाता की गोद में आ जाएं और कांग्रेसी संस्कृति भारतीय मुख्य धारा से रस ग्रहण करने लगे तो भारत की राजनीति पूरी तरह भारतीय बन सकती है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या भारत के कम्युनिस्ट मानसिक रूप से भारतमाता की गोद में अपने संपूर्ण समर्पण के साथ आने को तैयार है? और क्या कांग्रेसी संस्कृति वाला जनता दल में भारत की मूल प्रेरणाओं को खुले तौर पर, खुलेपन से स्वीकार करने का साहस है? क्या वे भारत में एक समरस राष्ट्रीय समाज का एकात्म बहुआयामी शासन और एक नई राजनीतिक संस्कृति का निर्माण करने के लिए प्रतिबद्ध है? इन प्रश्नों के 'हां' या 'न' में भारत की राष्ट्रीय राजनीति का भविष्य और स्वरूप निहित है।

19, मार्च 1989

मानसिक गुलामी से ग्रस्त गूंगा देश

गांधी जी ने चुनौती भरे स्वर में कहा था, 'दुनिया से कह दो कि गांधी अंग्रेजी नहीं जानता।' महादेवी वर्मा रोई थीं कि 'सचमुच उस समय मेरी आंखें भर आती हैं जब मेरे पास लोगों के पत्र अंग्रेजी में आते हैं।' डा० राजगोपालन साक्षी हैं कि 'अस्सी प्रतिशत दक्षिण भारतीयों का हिन्दी के प्रति सम्मान है।' माधव श्रीहरि अण्णे ने कहा, 'जो मुट्ठीभर लोग हिन्दी का विरोध करते हैं, वे नौकरियों और अधिकारों को अपने वश में रखने के स्वार्थवश ऐसा करते हैं।'

ये तो हुई स्वदेशी साक्षियां। विदेशियों ने भी हमारी भाषायी दासता के लिए हमे कोसा है।

मध्य प्रदेश की राजधानी भोपाल में विश्व कविता समारोह का आयोजन किया गया था। 17 जनवरी, 1989 को संपूर्ण हुए इस समारोह में देश-विदेश के जो प्रसिद्ध कवि आए, उनमें इंग्लैंड के साठ वर्षीय स्टीफन स्पेंडर भी थे। समारोह के माहौल, भारतीयों की मानसिकता और भारतीय बुद्धिजीवियों पर चढ़े विदेशी मुलम्मे पर श्री स्पेंडर ने टिप्पणी की, 'यह अकेला देश है जो ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा था, पर वास्तविक अर्थों में अब भी उससे बाहर नहीं आ पाया। 41 वर्ष की आजादी के बाद भी पूरी तरह आजाद नहीं हो सका। भारतीय लोग अंग्रेजों की गुलामी से तो मुक्त हुए, किन्तु अंग्रेजी भाषा के प्रेम में फंस गए। अंग्रेजी के प्रति भारतीयों का यह प्यार एक त्रासदिक प्यास है। यही हाल दो शताब्दी पूर्व तक यूरोप का भी था। अठारहवीं सदी तक वे भी लैटिन भाषा के प्यार-पाश मे पड़े रहे। लेकिन जो लैटिन यूरोपीय देशों में लिखी जाती है, वह रोमवासियों की समझ में भी नहीं आएगी। भारत में जो अंग्रेजी बन रही हैं उसमें अंग्रेजी बहुत कम है। अंग्रेजी को अपने ज्ञान और प्रतिष्ठा से जोड़ने से भारत की बहुत बड़ी हानि हो रही है।

श्री स्पेंडर ने औपचारिक-अनौपचारिक रूप से और भी अनेक बातें कहीं। सत्ताईस वर्ष पूर्व 1952 की अपनी भारत यात्रा और 1989 की याात्रा का अंतर बताया। तब और अब की पीढ़ी के मानस का विश्लेषण किया कि तब यहां के लोगों को अपने पूर्वजों, नेताओं और परंपराओं का पता था। अब की पीढ़ी विदेशी लोगों को तो जानती है, किन्तु भारत के अपने श्रेष्ठ पुरुषों के विषय में कुछ बता पाने में

उसे अपने दिमाग पर जोर देकर बार-बार यह सोचना पड़ता है। वे मन ही मन कुछ इस प्रकार भुनभुनाते है कि जैस उन्हें पता तो है, किन्तु इस समय स्मरण नहीं आ रहा है। जबकि उन्हें पता नहीं होता, वह पता होने मात्र दिखावा होता है। गांधी, सुभाष, डा० राजेन्द्र प्रसाद आदि उनके लिए अजनबी हैं, नेहरू जी का पूरा नाम नहीं जानते, किन्तु शायद सरकारी स्तर पर बार-बार उनका नामोल्लेख या उनसे जुड़े व्यक्तियों के सत्तासीन होने के कारण उन्हें यह पता है कि नेहरू नाम का कोई व्यक्ति था। लेकिन वह व्यक्ति जवाहरलाल था कि कोई और, इस प्रश्न के उत्तर में वे मौन हो जाते हैं। लालबहादुर शास्त्री तो उनके लिए जैसे भारत में हुए ही नहीं।

बातें और भी हैं। किन्तु जिस एक बात पर बल देने के लिए स्पेंडर का यह ताजा विश्लेषण यहां उद्धृत किया है, वह भाषायी दासता है। इस भाषायी दासता को मैं आज (1989) के संदर्भ से जोड़ता हूं तो सचमुच ऐसा लगता है कि भारत अभी तक आजाद नहीं हुआ। अंग्रेज अपनी अंग्रेजी के द्वारा आज भी भारत पर शासन कर रहा है।

सत्य का सच्चा आग्रह

समाचार पत्रों में कई बार हमने पढ़ा होगा कि दिल्ली के शाहजहां मार्ग पर संघ लोक सेवा आयोग के सामने कुछ नवयुवक छह महीने से भी अधिक समय से धरना दे रहे हैं। उनकी मांग है कि भारत सरकार संसद द्वारा पारित प्रस्ताव का क्रियान्वयन करे और भारतीय प्रतिभा को भारतीय भाषाओं में अभिव्यक्त होने का अवसर दे। देश को अंग्रेजी भाषा की गुलामी से मुक्त किया जाय। सरकारी सेवा परीक्षा में अंग्रेजी की अनिवार्यता का अन्त हो। यह एक नए प्रकार का एकदम नया आंदोलन है। आंदोलन नहीं, सही अर्थों में सत्याग्रह कहें इसे। इसमें सत्य की स्वीकृति हेतु आग्रह के अतिरिक्त और कोई स्वार्थ नहीं है। यह सत्याग्रह राष्ट्रीय धारा को खण्डित करती और राष्ट्रीय प्रतिभा को निगलती जा रही अंग्रेजी को हटाकर भारतीय भाषाओं को अपनाने के अनुष्ठान से जुड़ा है। यह भारतीय समाज की उसकी सहज संप्रेषणशीलता प्रदान करने का सत्प्रयास है। यह देशवासियों को उनका सांविधानिक अधिकार दिए जाने की पुकार है।, यह ग्रामवासिनी भारतमाता के समूतों की यतीमी समाप्त करके उनमें अपना घर संभालने की समझ पैदा करने का मार्ग खोलने का उपक्रम है। किन्तु देश की राजनीतिक सत्ता का भारत के इस सत्य से शायद कोई वास्ता नहीं है। भारत की राजनीतिक सत्ता का आरंभ और अंत दोनों सत्ता ही होने के कारण राष्ट्रीय अस्मिता को सूली पर टांग दिया गया है। देश को तोड़ने वाली भाषा को संपर्क भाषा और देश के विविधतापूर्ण जीवन को एक समान सांस्कृतिक बोध कराने वाली भाषाओं को अलगाव और भेद बढ़ाने का कारण बताने में लाज नहीं आती। जिस बात को इंग्लैंड के स्पेंडर ने समझ लिया, उसे भारत के राजीव नहीं

समझ पाते, उसे राजीव के बूटा सिंह और पुलिस बूटों के नीचे कुचलकर राष्ट्रीय एकात्मता और शांति की स्थापना का दावा करती है। इंग्लैंड के कवि स्पेंडर के समझ पाने और भारत के राजीव के न समझने का कारण है कि स्पेंडर की राष्ट्रीय सोच की पैठ सतही नहीं, गहरी है। वे दुनिया को इंग्लैंड की नजर से देखते हैं और सोचते है कि जैसे राष्ट्रीय स्वाभिमान के धनी वे हैं वैसा ही भारत भी होना चाहिए। भारत के राजीव की सोच है कि इंग्लैंड की तरह का राष्ट्रीय स्वाभिमान चाहिए तो इंग्लैंड की भाषा भी जरूरी है। यहीं मात खा गए भारत के शासक। सत्ता राजनीति ने इसी मोड़ पर आकर नेहरू जी को छला था। गत चार दशकों में अंग्रेजी ने भारत को मानसिक रूप से विकलांग करके उसका व्यक्तित्व खण्डित कर दिया है। जीवन में दोगलापन भर दिया है।

कौन समझता है, अंग्रेजी ? राजीव जब तमिलनाडु, आंध्र, केरल, कर्नाटक, असम, उड़ीसा, आदि राज्यों के दौरे पर जाते हैं तो उनकी अंग्रेजी कौन समझता है? यदि भारत के लोग अंग्रेजी जानते-समझते होते तो राजीव की इंदिरा कांग्रेस के चिदम्बरम, पुजारी, रेड्डी, करुणाकरन और प्रियरंजनदास मुंशी को उनके अंग्रेजी में किए गए भाषण को तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयाली, उड़िया, असमिया और बंगला मे अनुवाद करके बताने की आवश्यकता न पड़ती कि उनके राजीव ने क्या कहा है। दो प्रतिशत से भी कम लोगों द्वारा 98 प्रतिशत से भी अधिक लोगों को ज्ञान, विज्ञान, कार्यकौशल और प्रशासनिक सेवा के कार्य में उनकी सहभागिता से वंचित करना ग्रामवासिनी भारतमाता के सपूतों के भविष्य पर डाका ही नहीं, राष्ट्र के भविष्य के साथ साजिश भी है।

यह अपने आप में अद्वितीय है कि किसी देश के देशभक्त कहे जाने वाले लोग अपने देश की राष्ट्रीय भाषा के विरुद्ध युद्ध करें और विदेशी भाषा का चंदन अपने मस्तक पर लगाकर गर्व के साथ घोषणा करते हुये घूमें कि 'हम देश को उसकी पांच हजार वर्ष प्राचीन संस्कृति के गौरव से जोड़ेंगे।' वे यह नहीं जानते कि मानसिक गुलामी से ग्रस्त कोई गूंगा देश अपने भविष्य की चादर नहीं बुन सकता। अंग्रेजी भाषा वाला देश शेक्सपियर का तो हो सकता है, राम, कृष्ण, कालिदास, भवभूति, विक्रमादित्य और गांधी का नहीं।

जो देश अंग्रेजी पढ़ सकता है, जिस देश को अंग्रेज केवल एक दशक में कामचलाऊ बाबूगिरी के लिए अंग्रेजी सिखा सकते थे, उसी देश को उनकी अपनी भाषा सिखाने से परहेज किया जा रहा है और चालीस वर्ष में वह अपनी राष्ट्रीय संपर्क भाषा भी नहीं बना पाया।

एक हुए थे डा० लोहिया। वे भारतीय क्रांतिकारी मन के समाजवादी थे। अंग्रेजी बोलने वालों को अंग्रेज बच्चा कहा करते थे। उन्होंने, 'हिन्दी लाओ, अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन चलाया, तो नेहरू जी ने कहा था, 'इस आंदोलन से देश टूट जायेगा।' डा०

लोहिया का जवाब था, 'देश नहीं, अंग्रेजी बच्चे टूट जायेंगे, उनकी रोजी-रोटी मारी जाएगी। अंग्रेजी हटाओ, देश अपना सत्य पा लेगा। गांव में बैठा भारत अपनी जिम्मेदारी संभाल लेगा।' ऐसी ही बात अंग्रेजों ने गांधी से कही थी कि 'अंग्रेज चले जाएंगे तो देश टूट जाएगा। कौन संभालेगा इतने बड़े देश को?' इस सवाल के जवाब में नरम गांधी गरम हो उठे थे, 'तुम अंग्रेज, भारत से जाओ। हमें हमारे हाल पर छोड़ दो। यह हमारा अपना देश है। इसकी चिन्ता तुम क्यों कर रहे हो?'

स्वराष्ट्र में स्वभाषा का मर्म सभी जानते हैं। एकान्त में सभी जानते हैं कि प्रशासन चलाने में विज्ञान, तंत्रशास्त्र की शब्दावली और शोधकार्य में भारतीय भाषाएं सक्षम हैं। सभी भाषाओं की मां संस्कृति केवल मूर्छित है, अभी मरी नहीं है। लेकिन सड़क पर या संसद में आते ही उनका अपना स्वार्थ बाधक बन जाता है। भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा के प्रश्नों प्रशासन के तकनीकी और वोट राजनीति के शब्दजाल में फंसा दिया जाता है कि इतना विशाल देश, इतनी विविध समस्याएं, इतनी अलग-अलग भाषाएं, कैसे चलेगा यह देश अंग्रेजी के बिना? कहां से आएंगे इतने परीक्षक ? भारतीय भाषाओं का उपयोग करेंगे तो परीक्षाओं की गोपनीयता भंग हो जाएगी। भाषायी पक्षपात होगा। वरीयता, श्रेष्ठता और गुण-दोष का आधार समाप्त हो जाएगा। इसी को कहते हैं कि बिका हुआ, हारा हुआ, थका हुआ मन और मानस। यही है आत्मनिंदा का साक्षात स्वरूप। देश भावनाओं और संकल्प मे जीता है। तकनीक की तुलना पर तौले जाने वाले देश का कोई भविष्य नहीं होता। यह विडम्बना नहीं तो और क्या है कि दो प्रतिशत देश को संभाल सकते हैं, लेकिन करोड़ों की संख्या में अन्य भारतीय भाषाओं का सहज उपयोग करने वाले लोग और तीस-पैंतीस करोड़ की संख्या में हिन्दी समझने वाले कुछ भी नहीं कर सकते। दो प्रतिशत वालों की अंग्रेजी संपर्क सूत्र बन सकती है, अठानवें प्रतिशत वालों की कोई भाषा यह कार्य नहीं कर सकती।

प्रश्न केवल भाषा का ही नहीं, भारत की अस्मिता का भी है। अपनी विफलता छिपाने और देशवासियों को वास्तविकता का पता न चलने देने के लिए अंग्रेजी का कवच बना रखा है। अंग्रेजी अपनाकर देश की प्रतिभा को जूठे बर्तन मांजने, सफाई करने वाले श्रमिक और भिखारी बनने के लिए मजबूर किया जा रहा है। देशवासियों के साथ यह एक गंभीर साजिश है कि वे अपने समाज, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति और देश के सत्य से जुड़ न पाएं। अपने भाग्य को कोसते हुए निकृष्ट कार्य करते रहें। यह संताप केवल हिन्दी भाषियों को ही नहीं, समस्त भाषा-भाषियों का है। तमिल, तेलूगू, कन्नड़, मलयाली, मराठी, गुजराती, पंजाबी, उड़िया, असमी और बंगला आदि सभी भाषा-भाषियों के ग्रामवासियों और निचले स्तर के लोगों को भिखारी बनाकर रखा जा रहा है। भरे पेट वाले लोग भुखमरे भारतीय भाषाओं वाले लोगों के बीच अंग्रेजी भाषा को रोटी बनाकर बेच रहे हैं। वे भारत के आम आदमी को राष्ट्रीय

पुनर्निर्माण के कार्य में सहभागी नहीं होने देना चाहते।

यही वह तथ्य है जिसका सूत्र पकड़कर भारत के चार-छह युवक दिल्ली के संघ लोकसेवा आयोग के सामने तपस्या कर रहे हैं कि भारत को भारत की वाणी दो। संसद और संविधान का आश्वासन पूरा करो। किन्तु भारत सरकार उनकी इस यथोचित राष्ट्रीय मांग को अपराध मानती है। कभी इन सत्याग्रहियों को दिन में पुलिस थाने ले जाती है और शाम को पाले और वर्षा में फुटपाथ पर पड़े रहने के लिए छोड़ देती है। गत 26 जनवरी को जिस समय अस्सी करोड़ के देश का यह सत्य सड़क पर धक्के खा रहा था, ठीक उसी समय भारतीय गणतंत्र अपने राजसी ठाट-बाट के साथ राजपथ पर उतर आया था। राजपथ के कोलाहल के बीच जनपथ अपना सिर धुन रहा था। क्यों ? केवल इसीलिए कि भारतीय गणतंत्र गूंगा है, उसकी अपनी कोई भाषा नहीं है। वह 'तंत्र' की भाषा से अनभिज्ञ है। वह यह समझ ही नहीं पाया कि उसके प्रथम पुरुष राष्ट्रपति जी ने गणतंत्र की पूर्व संध्या पर उसको क्या कहा? गत चार फरवरी को जब लोग नेहरू दौड़ दौड़े थे तो इसके एक दिन पूर्व भारतीय भाषा दौड़ भी हुई, लेकिन दूरदर्शन की आंखें उसे देख नहीं पाईं।

मानसिक दासता

सच ही भारत विडम्बनाओं का देश बन गया है। उसकी सबसे बड़ी विडंबना यह है कि भारत की राष्ट्रीय भाषा तो है लेकिन कोई राष्ट्रभाषा नहीं है। वह शारीरिक रूप से आजाद है लेकिन मानसिक रूप से गुलाम है। वह अपना राजकाज विदेशी भाषा में चलाता है। इंग्लैंड के कवि स्टीफन स्पेंडर का तमाचा खाकर भी हमें होश नहीं आता कि अपनी बात अपनी भाषा में कहें, अपना राजकाज अपनी भाषा में चलाएं। भाषायी विविधता को एकसूत्र में पिरोने की प्रतिभा और क्षमता भारत की भाषाओं में है। सर्वानुमति से हम अपनी एक संपर्क भाषा ओर राजकाज की भाषा बना सकते हैं। अपने राष्ट्रीय पुरुषों के अमृत वचन और भारत के सांस्कृतिक केन्द्रों में समझी जाने वाली भाषा, यह भूमिका निभा सकती है। पचास से अधिक देशों में 1800 वर्ष रहने के बाद, पच्चीस से अधिक भाषाएं बोलने वाले और हिब्रू न जानने वाले यहूदी आदि अपने देश में विदेशी भाषा के अपने समस्त प्रमाण पत्र एक दिन और एक साथ चौराहे पर जलाकर एक ही दिन में राष्ट्र भाषा का निर्धारण नहीं कर सकता ? जो अंग्रेजी के प्रति समर्पित हो सकते हैं वे किसी एक भारतीय भाषा को भी अखिल भारतीय संपर्क भाषा के रूप में सीख सकते हैं। यह काम आजादी के शुरू के वर्षों में ही हो सकता था, नहीं किया, उसी का परिणाम है कि हम आजाद भी हैं और गुलाम भी।

26 मार्च, 1989

इंका की राजनीतिक संस्कृति का संताप

कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं जो किसी टिप्पणी और भाष्य की मोहताज नहीं होतीं। वे अपनी अन्तर्कथा स्वयं कहती हैं। उनका संदेश और संकेत पूरी तरह स्पष्ट होता है। मैं जो कुछ लिखने जा रहा हूं वह कोई गुप्त रहस्य नहीं है, सबकी जानकारी में है। समाचारपत्रों के लाखों पाठक इसे पढ़ चुके हैं।

एक घटना है, सितम्बर 1984 में नागपुर में आयोजित इंदिरा कांग्रेस के युवा सम्मेलन की। इस घटना को घटित हुए अभी लगभग पांच वर्ष ही हुए हैं। सम्मेलन में आए इंकाई युवाओं ने इंकाई युवतियों के वस्त्र उतार लिये थे। उनके आवास में घुसकर अपने 'युवक' होने का परिचय दिया। आसपास के घरों पर धावा बोलकर लड़कियों का निकलना बन्द कर दिया था। वे वेश्याओं के कोठे पर चढ़ गए थे। उन्हें रात दिन का कोई विवेक नहीं रहा। जब तक वे वहां रहे, वेश्याओं के साथ रंग रलियां करते रहे। इंकाई राजनीतिक युवकों की गुंडागर्दी के विरोध में वेश्याओं को हड़ताल करनी पड़ी थी, नागपुर जाते जाते जिस रेलवे स्टेशन और इलाके से होकर वे गुजरे थे वहां की दुकानें लूट ली थीं। रेलवे कर्मचारियों और सुरक्षा बलों की पिटाई की थी। इनके पीछे सत्तारूढ़ दल और सरकार का बल था। वे अपने नए नेता, इंदिरा जी के उत्तराधिकारी राजीव की राष्ट्रीय छवि बनाने के लिए बुलाए गए थे। तब राजीव इंदिरा कांग्रेस के महामंत्री थे। ये घटनाएं राजीव की जानकारी और उनकी उपस्थिति में हुई थीं। इंदिरा जी को भी इसकी रपट दी गई थी। किन्तु सम्मेलन में इस संबंध में कोई कुछ नहीं बोला। हाय तौबा मची, तो जांच कराने की घोषणा की गई। जांच का क्या हुआ, कुछ पता नहीं

निर्लज्जता की हद

दूसरी घटना 6 नवम्बर 1987 की है। घटना के एक वर्ष बाद 24 नवम्बर 1988 को मेड़ता (राजस्थान) के न्यायिक मजिस्ट्रेट लतीफ मोहम्मद की अदालत में तिलोरा (पुष्कर) के बीस वर्षीय रामलाल ने शपथपूर्वक बयान दिया है कि 'पिछले साल के 11 वें महीने की छह तारीख की बात है। मेड़ता के थानेदार रिछपाल सिंह जाखड़, सिपाही पुरखा राम और रूपाराम वगैरह मुझे जीप में बिठाकर मेड़ता सिटी ले गए। मेरे साथ मेरे भाई चौथू और बहनोई नारायण को भी पकड़कर थाने लाए थे। दूसरे

दिन थानेदार और तीन चार सिपाही तिलोरा गए और वहां से मेरी मां मुलकी और भौजाई पतासी को ले आए । उसी दिन 10 से 12 बजे के बीच की बात है, मुझे कोठरी से बाहर निकाला और मेरे भाई चौथू की पेड़ की सांकल से बांध दिया। फिर मुझे और मेरे बहनोई रामलाल को कोठरी के अंदर लाकर बंद कर दिया । फिर मेरी मां मुलकी और भौजाई पतासी को भी कोठरी के अंदर लाए। मुझे और मेरी मां को थानेदार रिछपाल और सिपाही पुरखाराम दूसरी कोठरी में ले गए। थानेदार के कहने पर पुरखाराम ने मेरे कपड़े खोलकर नंगा कर दिया, और फिर मेरी मां के साथ शरीर संबंध स्थापित करने पर विवश किया।

रामलाल बागरिया की 62 साल की मां मुल्की ने मजिस्ट्रेट के सामने शपथ लेकर बयान देते हुए कहा है, 'मेरे बेटे से मेरे साथ बलात्कार करवाया गया। मेरी बहू पतासी के साथ जंवाई से खोटा काम जबर्दस्ती करवाया।'

इस घटना के विरोध में महिलाओं और विरोधी दल के नेताओं ने प्रदर्शन किया, समाचारपत्रों ने अपराधियों को सजा देने की मांग की, लेकिन कोई सुनवाई नहीं हुई। सरकार के कान पर जूं तक नहीं रेंगी। इंदिरा कांग्रेस के राजनीति के रणबांकुरे राजीव की देखरेख में पुलिसवालों का समर्थन करते रहे।

जनप्रतिनिधियों का पौरुष

तीसरी घटना है भरतपुर जिले की बयाना तहसील के रूपा गांव की। सत्तारूढ़ इंदिरा कांग्रेस के विधायक बृजेन्द्र सिंह अब तक अपने परिवार की छत्तीस नवजात कन्याओं की हत्या कर चुके हैं। कहते हैं कि कन्याओं को जन्मते ही मार देना उनके परिवार का रिवाज है। लड़की के जन्म को वे अपशकुन और अपनी तौहीन मानते हैं कि उसके कारण उन्हें किसी को दामाद बनाना और उसके सामने सिर झुकाना पड़ सकता है। उन्हें गुर्जरों मे कोई ऐसा परिवार दिखाई नहीं देता जो उनके स्तर का हो कि उसे वे अपना संबंधी बना सकें।

यह मामला विधानसभा में उठा। विपक्ष के विधायकों ने धरना दिया, प्रदर्शन किया। राजस्थान विधानसभा में विपक्ष के नेता भैरोंसिंह शेखावत को इस संबंध में एक शिकायत मिली थी, जिसमें बृजेन्द्र सिंह के परिवार द्वारा कन्याओं की हत्याओं के आंकड़े दिए गए थे। यह बताया गया है कि इस परिवारमें 36 लड़कियों की हत्याएं की जा चुकी हैं। शिकायत के अनुसार इस परिवार में पांच जुगल की, चार महाराज सिंह की, तीन वृजेन्द्र सिंह की, चार श्रीमान की, दो गजवत की, दो शेर सिंह की, एक नरपत की, चार उदयभानु की, दो लाखन की, एक बच्चे की, चार रतन सिंह की, और पांच मेघ सिंह की लड़कियों को मार डाला गया। श्री शेखावत ने यह शिकायत तत्कालीन मुख्यमंत्री हरिदेव जोशी और तत्कालीन राज्यपाल वसंत दादा पाटिल से की थी। आरोपों की गंभीरता को देखते हुए उन्होंने जांच कराई । उस जांच के परिणामों

से भी मोटे तौर पर इन आरोपों की पुष्टि हुई।

बृजेन्द्र सिंह अपने यहां लड़की होने की बात से इंकार करते हैं परंतु जांच रपट में इसकी पुष्टि की गई कि कदावल अस्पताल में उनकी पत्नी को 1986 में लड़की हुई थी। एक लड़की 1984 में हुई थी। रिपोर्ट में कहा गया है कि ये दोनों लड़कियां भी जिन्दा नहीं हैं।

चौथी घटना गोआ की है। समाचार पत्रों में प्रकाशित विवरण में बताया गया है कि राजस्थान विश्वविद्यालय के एक गुरुजी अपने शिष्यों को वेश्या बाजार ले गए और उन्हें जिस्म का सौदा करना सिखाया। 'गुरुजी' से कहा गया था कि वे छात्रों को शैक्षिक भ्रमण पर ले जाएं। पर रंगीन मिजाज 'गुरुजी' ने रास्ते में अपने इरादे बदल दिये।

उन्होंने छात्रों के साथ अपने भतीजे को भी बदनाम बस्ती की सैर कराई। शिष्यों को वेश्यागमन सिखाने के साथ साथ 'गुरुजी' ने भी जिस्मखोरी की। एन० एस० यू० आई० (इंका) के छात्रों ने अपनी संस्था की परंपरा निभाते हुए देह व्यापार के इस प्रायोगिक शिक्षण में बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया। भ्रमण के दौरान 'गुरुजी' ने अपने शिष्यों को चोरी करना भी सिखाया।

यह दिल दहलाने वाला किस्सा राजस्थान विश्वविद्यालय के विधि महाविद्यालय जयपुर के छात्रों को 18 अक्तूबर से 5 नवम्बर 1988 तक कराए गए शैक्षिक भ्रमण का है। जयपुर से गोआ तक के इस भ्रमण में जिस्मखोरी, गाली गलौज, भद्दे मजाक, लड़ाई झगड़े, चाकूबाजी, अश्लील हरकतें आदि सिखाई गईं।

भ्रमण से लौटे कुछ छात्रों ने अपने कड़ुवे अनुभव सुनाते हुए बताया कि छात्रों के अलावा भ्रमण के इंचार्ज व्याख्याता के आठ नजदीकी रिश्तेदार भी थे। जिन्होंने कालेज छात्रसंघ के कोष के खर्चे पर सैर सपाटे का मजा लूटा। इन रिश्तेदारों में से सात को गुरुजी ने अपनी योजना के मुताबिक वास्को डि गामा के बाजार में उतार कर कह दिया कि वे दूसरी बस पकड़कर पणजी पहुंच जाएं। अपने जवान भतीजे को 'गुरुजी' ने साथ ही रखा। भूख से बिलबिला रहे कुछ छात्रों ने वास्को डि गामा बाजार में उतरना चाहा ताकि खाना खा सकें। मगर 'गुरुजी' ने यह कहकर उन्हें रोक दिया कि सब वहीं चलेंगे जहां हम जा रहे हैं।

थोड़ी देर बाद ये छात्र यह देखकर दंग रह गए कि 'गुरुजी' ने जिस जगह बस रुकवाई है, वह गोआ का कुख्यात वेश्या बाजार है। शरारत भरी मुस्कुराहट फेंकते हुए 'गुरुजी' अपनी सीट से उठे और बस में बैठे छात्रों को बेहिचक शिक्षा देने लगे कि हम वेना बीच पर आ गए हैं। जिसे जाना हो चले जाएं। यहां 25 रुपये का रेट है, पर 30 रुपये मांगती हैं, तुम 25 ही देना। घड़ी, पर्स, चेन वगैरह बाहर ही अपने दोस्त को पकड़ा देना और कोई बात हो तो शोर मचा देना। हम यहां एक घंटा रुकेंगे। रात नौ बजे तक सब लौट आना। और हां, अकेले मत जाना, चार पांच जने ग्रुप में

जाना।'

अपने पिता समान 'गुरुजी' के मुख से ये बातें सुनकर छात्रों का खून जम गया। करीब दस छात्र बस में ही बैठे रहे। वे इस बात से काफी गुस्से में थे। पर वे कुछ कर नहीं सके, क्योंकि गुरुजी के साथ एन० एस० यू० आई० के कर्णधार थे, जो चाकू निकालने में भी देर नहीं करते थे।

इंकाई मानसिकता

और अभी की एक ताजी धटना। प्रधानमंत्री राजीव ने इंदिरा जी की हत्या संबंधी ठक्कर आयोग की जांच रपट संसद में पेश किए जाने का आश्वासन दिया है। ठक्कर आयोग की रपट से जुड़े काण्डों और शासक दल की मानसिकता से देशवासी परिचित हैं। रपट में क्या है, क्या नहीं, दोषी कौन है, यह तय होना अभी शेष है। प्रधानमंत्री राजीव गांधी के अतिरिक्त रपट किसी और ने देखी नहीं है। न्यायमूर्ति ठक्कर एवं आयोग के टाइपिस्ट के अतिरिक्त और किसी को पता नहीं है कि उसमें क्या है ? प्रारंभ में कहा गया कि ठक्कर आयोग की रपट प्रकाशित करना राष्ट्रीय सुरक्षा और जनहित में नहीं है। इसे प्रकाशित करने से न्यायमूर्ति ठक्कर ने मना किया है। लेकिन अब क्या हो गया कि सैकड़ों संदेहों और सवालों को जन्म देकर राजीव रपट को संसद में पेश करने के लिये राजी हो गए ?

उभरते सवाल

प्रश्न यह है कि प्रधानमंत्री ने ऐसा क्यों किया ? देश को उसके प्रधानमंत्री की हत्या की साजिश के सत्य और हत्यारों की जानकारी देना देश की सुरक्षा और जनहित विरोधी कैसे हो गया ? किसी विदेशी देश से संबंध बिगड़ने का खतरा था तो क्या देशवासियों को यह ज्ञात नहीं होना चाहिए कि कौन सा देश है जो उनके देश में अस्थिरता पैदा करना चाहता है ? यदि असली हत्यारे, साजिश में शामिल लोगों और विदेशी एजेन्टों का पता चल जाता तो देश के अन्दर शत्रुतापूर्ण साम्प्रदायिक जहर न फैलता। सामाजिक और राजनैतिक अविश्वास न जन्मता। अपनी जिस मां का बेटा होने का वास्ता देकर राजीव अब ठक्कर आयोग की रपट पेश करेंगे, प्रधानमंत्री के नाते यदि यह कार्य तत्काल कर दिया होता तो देश को इतने लंबे समय तक इतना गंभीर मानसिक संताप न भोगना पड़ता। जितनी बार और जिस प्रकार राजीव, उनके मंत्रियों और सांसदों ने ठक्कर आयोग की रपट को प्रकाशित करने से तकनीकी आधार पर मना किया, उतनी बार उतने कदम वे अपराधी के कटघरे की ओर स्वतः बढ़ते गये। यदि उनका, उनके किसी संबंधी या सहयोगी का इंदिरा जी की हत्या से दूर दूर तक कोई संबंध नहीं है तो फिर डर किस बात का ? जो कुछ हत्याकांड और अग्निकांड होना था वह तो 31 अक्तूबर 1984 से चार नवम्बर 1984 तक हो चुका

था। मारी गई प्रधानमंत्री मां की मौत के माहौल में निर्दोषियों के खून से राजतिलक कराने वाले राजीव निर्दोष भले हों, उनका इरादा साफ नहीं था। और जब बात इरादे तक आ जाती है तो कोई भी सफाई कारगर नहीं होती। सच भी झूठ बन जाता है। हत्या और अपराध की इंकाई राजनीति के इतिहास में ठक्कर आयोग की रपट का भी एक अध्याय जुड़ गया। अकेले अकेले हर इंकाई शर्मिन्दा है लेकिन समूह रूप से उन्होंने इस प्रकरण का समर्थन किया है। इंकाई कितने विकलांग हैं कि राजीव ने रपट पेश न करने की जिद की तो उसका समर्थन किया। अब रपट पेश करने के उनके आश्वासन को लोकतांत्रिक उदारता बताकर उसका समर्थन कर रहे हैं। ठीक इसी प्रकार का व्यवहार मानहानि विधेयक पर जिरह और बजट सत्र के प्रारंभ में विरोधी दलों को राजीव द्वारा खालिस्तान समर्थक कहे जाने पर किया था। राजीव ने माफी मांग ली तो कहने लगे लोकतंत्र मजबूत हो गया। इंका का सामूहिक मानस हत्या, अपराध, अनैतिकता और भ्रष्टाचार का न होता तो न ऊपर उल्लेखित घटनाओं को उसका समर्थन मिलता और न ठक्कर आयोग की रपट छिपा कर इंदिरा जी की हत्या पर पर्दा डालने का हर संभव प्रयास किया जाता। देशवासी अपराधियों को दण्डित किए जाने की मांग करते हैं, राजीव और उनके दरबारी उन्हें संरक्षण देते, छिपाते और उनकी सलाह से देश का शासन चलाते हैं।

क्यों ?

संसद के केन्द्रीय कक्ष में इन घटनाओं के संदर्भ में देश की राजनीतिक संस्कृति और प्रशासनिक व्यवहार की चर्चा चली तो बिहार के एक सांसद ने अत्यंत सहज भाव से टिप्पणी की, 'यह कौन सी नई बात है। यह तो आम बात है। यही तरीका पुलिस बल का एक मात्र बल है।

और राजनीतिक लोगों का ?

जवाब था, 'राजनीति में सब कुछ चलता है। यदि सत्ता चाहिए तो सबको साथ लेकर चलना होगा। जैसे सिर्फ सेहत के सहारे जिन्दगी नहीं कटती, जिन्दगी जीने के लिए शरीर में किसी न किसी रोग का होना जरूरी है उसी प्रकार राजनीतिक सफर सिर्फ शरीफों और शराफतों के सहारे पूरा नहीं किया जा सकता। राजनीतिज्ञ और गुण्डा कहे जाने वालों से खून का रिश्ता होता है। मध्यकालीन मानसिकता से पीड़ित मध्यमवर्गीय लोग ही इस प्रकार की घटनाओं पर हायतौबा मचाते हैं। आधुनिक और प्रगतिशील लोगों के लिए यह सब बेमानी है। मैं पूछता हूं कि यदि वह बुरी बात है तो जनता इस प्रकार बुरा काम करने वालों को समर्थन देकर सरकार बनाने का दायित्व क्यों सौपती है ?'

इस टिप्पणी को पूरे देश के चरित्र और चिन्तन पर व्यंग्य मानें कि सर्वस्वीकृत यथार्थ ?

राजनीतिक संस्कृति

ये घटनाएं सीधे राजनीतिक संस्कृति और सरकारी तंत्र की मानसिकता से जुड़ी हैं। इनका संदर्भ है इंका की राजनीतिक संस्कृति, सामाजिक चरित्र और राष्ट्रीय चिन्तन। ये जिस सोच और संताप की ओर संकेत करती हैं वह पतन की पराकाष्ठा है ? पशु पक्षियों से फसल को बचाने के लिए खेत की मेड़ पर बाड़ लगाई जाती है। जब बाड़ ही खेत में उगी फसल खाने लगे तो उसे कौन बचाए ? सरकारी संरक्षण और प्रधानमंत्री के निर्देशन में घटी ये घटनाएं सावन के बादलों द्वारा आग बरसाने जैसी हैं। और इस पर, इस टिप्पणी पर कोई क्या टिप्पणी करे कि 'केवल शरीफ और शराफत के सहारे राजनीतिक सफर पूरा नहीं किया जा सकता।' यह मुकदमा देशवासियों की अदालत में पेश है, निर्णय का इंतजार है। यदि जनमत ने अपना कर्तव्य निभाया है तो ही अपराधकर्मी राजनीति अपनी सार्थकता प्राप्त करेगी अन्यथा लोकतंत्र के नाम पर यह माफिया राज इसी प्रकार चलता रहेगा।

2 अप्रैल 1989

हे यीसु !
अब यह दुआ करो

'हे परमपिता ! उन्हें क्षमा कर दो, क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं ?' ईसा मसीह ने यह प्रार्थना केवल उन्हें कील ठोक कर सूली पर टांग देने वालों के लिए ही नहीं की थी। उनकी यह प्रार्थना उन सभी लोगों के लिए थी जो यह नहीं जानते कि वे क्या कह और कर रहे हैं और उनके कहने और करने का परिणाम क्या होगा ? तब का वह दृश्य आज भी विद्यमान है। आज भी न्याय, चरित्र, शुचिता, वैचारिक भिन्नता का आदर, विचार स्वातंत्र्य जनतंत्र, जन विश्वास, संसदीय मर्यादाएं, राष्ट्रीय अखण्डता, एकता, सामाजिक समरसता, साम्प्रदायिक सद्भाव, राष्ट्रीय अस्मिता, राष्ट्रीय श्रद्धा, राष्ट्रीय प्रेरणा और प्रज्ञा पुरुषों को राजनीति की सूली पर टांगा जा रहा है, यदि आज कोई ईसा मसीह होता है तो क्या वह आज भी यही कहता कि 'हे परमपिता इन्हें माफ कर दो क्योंकि ये यह नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं ?'

इस त्रासदी का सर्वाधिक चिन्ता और संताप जनक पक्ष यह है कि कुछ अपवादों के अतिरिक्त इस कार्य में सत्ता पक्ष और विपक्ष के सभी लोग, बुद्धिजीवी, न्यायविद और आम आदमी भी निरपवाद रूप से शामिल हैं और यदि वे यह नहीं समझ पा रहे हैं कि वे क्या कर रहे हैं तो उसका क्या परिणाम होगा ?

प्रतीक रूप में कुछ उदाहरण देता हूं अभी आज का ताजा उदाहरण । पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमति इंदिरा गांधी की हत्या की साजिश के सत्य का पता लगाने केलिए गठित न्यायमूर्ति ठक्कर आयोग की रपट को लेकर देश बेचैन है। कई दिनों से संसद और विधानसभाओं में शोर मचाया जा रहा है कि श्रीमति इंदिरा गांधी की हत्या की साजिश में शामिल लोगों और हत्यारों की जानकारी दी जाय। अपराधियों के चेहरे सामने लाए जाएं।

धारदार प्रश्न

प्रश्न केवल इस मांग के औचित्य और अनौचित्य का नहीं, हमारे संसदीय और सार्वजनिक जीवन के आचरण का भी है। प्रश्न लोकतंत्र के खुलेपन और सत्ता तंत्र के शिकंजे की सीमा का भी है। प्रश्न सार्वजनिक, राजनीतिक और विधायी आचरण का भी है। प्रश्न संदेह की सुई का समस्त देशवासियों के मन में चुभते रहने का भी

है। प्रश्न उन समस्त लोगों की नीयत और संपूर्ण व्यवस्था की व्यर्थता का भी है जिनकी देखरेख में कोई विदेशी शक्ति देश को अराजकता की आग में झोंक देने की खुली साजिश करे और उस व्यवस्था के नियामक देशवासियों को देश और जनहित में राष्ट्र शत्रुओं की जानकारी देने से कतरा जायं, राष्ट्रपति मंत्रिमंडल, गृहमंत्री और संसद को राष्ट्र विरोधी साजिशों की जानकारी न देकर उसे कानून की तिजारी में बंद कर दिया जाय और यदि उसका सत्यांश तिजोरी तोड़कर समाचारपत्रों के पृष्ठों पर उजागर हो जाय तो उसे मनगढ़ंत और राजनीतिक साजिश बताया जाय। ये प्रश्न देश की जनता और व्यवस्था को अनन्तकाल तक काटते रहेंगे। इस दर्द को एकमेव दवा है देश को विश्वास में लेना और लोकतंत्र को मुक्त भाव से अभिव्यक्त होने देना। संदेहों से भरे लोकमन में विप्लव पलने लगता है। संदेह दूर नहीं होता तो उसका मौन शब्दों में नहीं, विद्रोह और रक्तपात के रूप में मुखर होता है।

देशहित की परिभाषा!

स्थिति अत्यन्त ही गंभीर और भयावह है । इंदिरा कांग्रेस का सत्तापक्ष हो या विपक्ष, विरोधी दलों का सत्तापक्ष हो या इंदिरा कांग्रेस का विपक्ष दोनों की राजनीतिक सोच और आचरण में कोई अन्तर नहीं है। मरुस्थल के मृगजाल या नखलिस्तान की तरह कहीं कहीं कोई हरियाली दिखाई देती है तो अलग बात है किन्तु सामान्य तौर पर कहीं कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। ठक्कर आयोग की रपट ने धवन, राजीव उनके दल और दरबारियों के चरित्र का ही अनावरण नहीं किया है, विरोधी दलों को भी नंगा किया है।

पहले राजीव की इंदिरा कांग्रेस की दरबारी राजनीति का चरित्र देखिए। ठक्कर आयोग की रपट का कुछ अंश अखबारों में छपा तो दरबारियों ने उसे झूठा, राजनीति प्रेरित, धोखाधड़ी, देश के शत्रुओं के हाथ में खेलना और न जाने क्या कया कहा। गृह मंत्री से लेकर छुटभैये कांग्रेसी सांसदों और विधायकों तक ने कहा कि रपट का प्रकाशन देशहित में नहीं होगा। स्वयं न्यायमूर्ति ठक्कर ने उसका प्रकाशन करने से मना कर दिया। किन्तु प्रधानमंत्री द्वारा रपट पेश किए जाने की घोषणा करते ही सभी कहने लगे कि रपट देशहित में संसद में पेश की जाएगी। इंकाइयों की देशहित की परिभाषा तत्काल बदल गई। कल तक जो कार्य देशहित में नहीं था, अर्थात 'देशहित' का निर्धारण केवल एक व्यक्ति राजीव करता है शेष लोग उसका उसका संताप भोगते हैं। रपट का कुछ अंश सांसद में पेश किया गया तो उसे ही पूरी रिपोर्ट में कहा गया। ठक्कर आयोग की उस टिप्पणी को नकारा जाने लगा जिसमें कहा गया है कि रपट चार खंडों में है। आठ हजार से अधिक पृष्ठों वाली रपट के छः सौ पृष्ठों को पूरी रपट बताने की प्रतियोगिता केवल इसलिए चली कि राजीव चाहते थे कि आधे को पूरा कहा जाये। राजनीतिक विवाद को महान्यायवादी बताएंगे कि यह रपट पूरी है कि

अधूरी ? अधूरे और पूरे की नई-नई परिभाषाएं की जाने लगीं। महान्यायवादी की सलाह पर लोकसभा अध्यक्ष ने रपट को 'पूरी' भी बता दिया किंतु क्या यह सही नहीं है कि इस निर्धारण भी राजीव ने ही किया।

मर्यादाओं की मखौल

अब विधायिका और पीठासीन अधिकारियों का आचरण भी देखें। जहां-जहां राजीव की इन्दिरा कांग्रेस के विधानसभा अध्यक्ष हैं, वे सदन में ठक्कर आयोग की रपट के प्रकाशन की मांग उठाने की अनुमति नहीं देते। और विरोधी दलों के लोग धरना देकर हंगामा करके सदन की कार्रवाई नहीं चलने देते और जहां विरोधी दलों की सरकारें हैं वहां के पीठासीन अध्यक्ष सत्तापक्ष को ठक्कर आयोग की रपट प्रकाशित करने की मांग को सदन में उठाने और प्रस्ताव प्रस्तुत करने की अनुमति देते हैं और विरोधी दल राजीव की इन्दिरा कांग्रेस के विधायक उसके विरुद्ध सदन में धरना देते हैं, अध्यक्ष के आसन पर चढ़ जाते हैं कि इस प्रस्ताव पर विचार करना राज्य विधान सभा की अधिकार-सीमा के बाहर है, इसलिए इसका कोई औचित्य नहीं है। दोनों पक्षों की निगाह केवल तात्कालिक राजनीतिक हानि-लाभ पर है। उनके लिए संसदीय मर्यादाएं और राजनीतिक आचरण गौण हैं। दोनों यह नहीं जानते कि वे क्या कर रहे है। दोनों पक्षों के पीठासीन अध्यक्ष पक्षातीत नहीं हो पा रहे हैं। वे किसी दल अर्थात् सत्तापक्ष के सदस्य और कभी-कभी तो उसके कर्मचारी की तरह व्यवहार करने लगते हैं। अत्यन्त खेद के साथ यह कहना पड़ता है कि उनके सामने भविष्य का कोई चित्र नहीं है, वे केवल आज की सोचते हैं 'हम डूबे, संसार डूब गया' वाली स्थिति है। उनके लिए मानो लोकतांत्रिक शक्ति और बहुमत का उपयोग करने का यह अंतिम अवसर जैसा है।

विरोधी दलों की सरकारों के मुख्यमंत्रियों और मंत्रियों के भ्रष्टाचार के विरुद्ध इन्दिरा कांग्रेसी सांसद और विधायक आवाज उठाते हैं तो जो उत्तर देकर वे इंदिरा कांग्रेसियों को संतुष्ट करना चाहते हैं, वही उत्तर इन्दिरा कांग्रेस अपने प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्रियों को भ्रष्टाचार पर परदा डालने के लिए देते हैं तो विरोधी दल के विधायक और सांसद विद्रोह करने पर उतारू हो गये हैं। कांग्रेसी विरोधी दलों के विधायकों और सांसदों को सदन से निलम्बित कराते हैं तो विरोधी दल उसे लोकतंत्रघाती बताते हैं और विरोधी दलों के बहुमत वाले सदन से इन्दिरा कांग्रेसी विधायक निलम्बित कहते जाते हैं तो वे भी उसे लोकतंत्रघाती कहते हैं। तमिलनाडु विधानसभा में जयललिता का प्रत्यक्ष चीरहरण किया जाय, उनका ब्लाउज फाड़ दिया जाय, उन्हें वेश्या कहा जाय तो मुख्यमन्त्री करुणानिधि उसे अत्यन्त ही सहजभाव से लेते हैं कि जैसे कहीं कुछ हुआ ही नहीं। चाहे पश्चिम बंगाल के ज्योतिबसु के पुत्र भ्रष्टाचार का मामला हो, आंध्र के रामाराव हों, हरियाणा के देवीलाल हों, कर्नाटक के हेगड़े हों, केरल के नयनार हों, तमिलनाडु के करुणानिधि हों, कश्मीर के फारुख हों,

अपने-अपने, भाइयों, भतीजों पुत्रों, दामादों के भ्रष्टाचारों पर वे ठीक उसी प्रकार पर्दा डालते हैं जैसे राजीव के दरबारी राजीव और उनके मंत्रियां को भ्रष्टाचार से बरी करने का करिश्मा करते हैं। स्थिति यह हो गई है कि एक भ्रष्टाचारी को दूसरे भ्रष्टाचारी पर भ्रष्टाचार का अपराधी मानकर पत्थर मारते देखकर यदि ईसा मसीह होते और यह कहते कि पहला पत्थर वह मारे जिसने भ्रष्टाचार न किया हो तो शायद तब ही तरह आज कोई शर्मिन्दा नहीं होगा और आज का हर भ्रष्टाचारी स्वयं को सदाचारी सिद्ध करने के लिए इस इरादे से दनादन पत्थर मारेगा कि उसी के पत्थर से वह भ्रष्टाचारी मरे कि भ्रष्टाचार करने की होड़ में उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी जीवित न रह जाए।

नादानी

उदाहरण और भी हैं। पंजाब समस्या, कश्मीर, साम्प्रदायिकता, अल्पसंख्यकता, क्षेत्रीयता, भाषायी और मजहबी आन्दोलनों के संदर्भ में जो प्रतिक्रियाएं सत्तापक्ष और विरोधी हल, बुद्धिजीवी और पत्रकार व्यक्त कर रहे हैं वे यह बताती हैं कि वे यह नहीं जानते कि वे क्या कह रहे हैं ? किसी सांविधानिक और पंथ-निरपेक्ष राज्य में अल्पसंख्यकता की बात करना, किसी विशिष्ट मजहब वालों को ही अल्पसंख्यक मानना स्थान और संख्या के आधार पर उसका निर्धारण न करके उसे सार्वदशिक बनाने को नादानी के अतिरिक्त और क्या कहेंगे ? सम्प्रदाय और मजहब के आधार पर देश को तोड़ने की छूट देने की उदारता कहने को क्या नाम दिया जाए देश में बढ़ रही अराजकता और आतंकवाद में विदेशी हाथ होने की घोषणा और उस हाथ को छिपाने के प्रयास को क्या कहा जाएगा ? देश की प्रधानमंत्री को मार दिया जाए, उसके शरीर के घाव और शव दिखाकर वोट प्राप्त किए जाएं, कुछ लोगों को हत्या के आरोप में, फांसी दे दी जाय, हत्या की साजिश की जांच करके कोई न्यायमूर्ति संदेहों की सुई जिन व्यक्तियों की ओर घुमाए उनका बचाव किया जाय और आधी जानकारी को पूरी जानकारी बता कर विदेशी हाथ, हत्यारों के प्रेरकों और हत्या में भागीदार लोगों को छिपाने का हर संभव प्रयास किया जाये तो इसे किस श्रेणी में रखा जाए ? क्या प्रधानमंत्री और उसके बेटे के रूप में भी राजीव का यह प्रथम कर्त्तव्य नहीं बनता था कि वे देशहित में सब कुछ साफ-साफ देशवासियों के सामने रख देते ? किन्तु वे यह कार्य केवल इसलिए नहीं करते कि वे यह नहीं जानते कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या कर रहे हैं ? इसीलिए जब भाजपा पंजाब समस्या को सुलझाने के लिए दिल्ली में पचास हजार लोगों का प्रदर्शन करती है तो राजीव राज्यसभा में कहते हैं कि "अच्छा होता कि पंजाब में शांति की स्थापना के लिए भाजपा वालों ने पचास हजार लोगों का प्रदर्शन न करके पचास हजार खाकी कच्छे जला दिए होते।" यह न जानने के कारण ही कि ये क्या कर रहे हैं वे विरोधी दलों को खालिस्तानी कहते हैं। इसी कारण वे मानहानि विधयेक लाते और वापस लेते हैं।

इसी कारण मुस्लिम महिला अधिकार कानून बनाते हैं। इसी कारण वे तमिलनाडु के चुनाव में द्रविड़ शासन से मुक्त होने के लिए तमिलनाडुवासियों का आवाहन करते हैं। इसी कारण विरोधी दलों को दक्षिण में हिन्दी थोपने वाला और उत्तर में हिन्दी विरोधियों से गठबंधन करने वाला कहते हैं। इसी कारण रामजन्मभूमि का राजनीतिकरण करते हैं। इसी कारण धारा 370 और अल्पसंख्यक आयोग को स्थायी बनाए जाने का माहौल बनाते हैं। इसी कारण भारत में दोहरी नागरिकता, दोहरी निष्ठा ओर अलग अस्तित्व को बढ़ावा देकर 'एक राष्ट्र और एक जन' की संपूर्ण राष्ट्रीय अवधारणा को कमजोर करने का कार्य करते हैं। इसी कारण विरोधी दलों को देश का दुश्मन कहते हैं।

यदि राजीव यह जानते होते कि वह क्या कह और कर रहे हैं और उनके कहने सुनने का क्या परिणाम होगा तो वे यह सब न करते। लोकतंत्र के खुलेपन को अपने-अपने खानदान और दल हित के डिब्बे में बन्द करके रखने की व्यवस्था न करते और अधिकांश विरोधी दल राजनीति के गणित का सत्ता सापेक्ष उत्तर प्राप्त करने के लिए वही सब न कहते और करते जो राजीव कह और कर रहे हैं। यदि वे जानते होते कि वे त्या कर रहे हैं तो आर्थिक विकास, सामाजिक समरसता, राजनीतिक सहभागिता में जातीय जहर न घोलते। जाति और मजहब के आधार पर रोटी रोजी और शिक्षा की व्यवस्था करने की बात न करते।

मैंने अपनी बात को ईसा मसीह के जिस सुभाषित से शुरू किया था उसी सुभाषित से इसका समापन करूं तो आज के संदर्भ में नया सुभाषित यह बनता है कि 'हे परमपिता ! भारत के नेतागण यद्यपि यह नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं किन्तु उनके गुनाहों और इस नादानी के लिए उन्हें माफ न करना क्योंकि वे यह गुनाह केवल किसी एक व्यक्ति के प्रति नहीं एक संपूर्ण राष्ट्र और लोकजीवन के प्रति कर रहे हैं। देशवासियों को यह सद्बुद्धि दो कि वे गुनहगारों के इन गिरोहों का गला पकड़कर इतिहास के कूड़ेदान में डाल दें और अपने भाग्य का नियामक किसी ऐसे व्यक्ति या समूह को बनाएं जो यह जानता हो कि वह क्या कह और कर रहा है और उसका क्या परिणाम होगा ?

16 अप्रैल, 1989

सामाजिक समरसता और समता का सफल अनुष्ठान

धार्मिक, सामाजिक समानता और अधिकार का प्रश्न समय-समय पर उठता रहता है। सामाजिक ऊंच-नीच की समस्या तो है किन्तु सतही, तात्कालिक और राजनीतिक लाभालाभ के आधार पर हल करने का हर प्रयास इसे दिन प्रतिदिन और अधिक जटिल बनाता जा रहा है। वस्तुतः यह हिन्दुत्व की नहीं, हिन्दू समाज की समस्या है, जो उसके उत्थान पतन और ऐतिहासिक संदर्भों से जुड़ी हुई है। यह हिन्दू समाज का अन्तर्भूत सत्य नहीं, बाह्य दुर्गुण है।

धर्माचार्यों का दृष्टिकोण

एक दृष्टिकोण है हिन्दू धर्माचार्यों का। उनका विचार है कि भगवान के दरबार में सभी समान हैं। जिस किसी व्यक्ति की मंदिर में स्थापित देवता के प्रति आस्था हो वह बिना किसी रोक टोक के मंदिर में साधिकार प्रवेश कर सकता है। कांची कामकोटि पीठ के परमाचार्य स्वामी चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती का कहना है कि 'शक्तिशाली हिन्दुत्व का उद्भव केवल हिन्दुओं के उत्थान और मुक्ति के लिए नहीं, संपूर्ण विश्व मानवता के लिए आवश्यक है। हिन्दुत्व और हिन्दू दर्शन ही एक ऐसी जीवनधारा है जिसमें अवगाहन करने का सबको समान और पूर्ण अधिकार है। यह उस पवित्र महानद की तरह है कि यदि किसी को पहले से स्थापित कोई घाट पसंद न आए तो बिना किसी आपत्ति के वह अपनी पसंद का नया घाट बना सकता है। सामाजिक और जातीय भेदभाव के लिए यहां कोई स्थान नहीं है। सभी एक ही ईश्वर के पुत्र, एक ही ईश्वरीय सत्ता से शासित और संचालित हैं। सभी को सहज भाव से अपने-अपने आराध्य की आराधना करने का अधिकार है।'

ज्योतिष और शारदापीठ के शकराचार्य स्वामी स्वरूपानंद सरस्वती की अध्यक्षता में काशी के प्रमुख विद्वानों और पंडितों का सर्वसम्मत निर्णय है कि 'वर्तमान में हरिजनों के मंदिर प्रवेश के प्रश्न को उछालना हिन्दू जगत को बिखराव के पथ पर अग्रसर करना है। शास्त्र का अभिमत पूर्ण रूप से व्यावहारिक आयाम से युक्त होना चाहिए। काशी के विद्वानों ने 24 -25 सितम्बर 1981 को दिए गए स्वर्गीय स्वामी करपात्री जी के उस वक्तव्य को आधार बताया है कि 'मंदिरों की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जहां हरिजन धर्माचार्य, पण्डित और ब्राह्मण सभी एक स्थान से एक साथ

दर्शन कर सकें तथा परंपरा प्राप्त ढंग से नियुक्त अर्चकों के अतिरिक्त मंदिर के गर्भगृह में कोई भी व्यक्ति न जा सके।' इस निर्णय में संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति व्यंकाचलम्, पंडित पट्टाभि शास्त्री, पंडित रामप्रसाद त्रिपाठी, रामयतन शुक्ल, वीरेश्वर द्रविड़, उदय कृष्ण नागर, सूर्य नारायण उपाध्याय, राम गोविन्द शुक्ल, डा० रेवा प्रसाद द्विवेदी, पण्डित केदारनाथ त्रिपाठी और आचार्य चल्लाराम शास्त्री आदि शामिल थे।

कांची के शंकराचार्य जयेन्द्र सरस्वती, मध्व संप्रदाय उडुपी (कर्नाटक) के संत विश्वेशतीर्थ और विश्व हिन्दू परिषद द्वारा आयेजित विभिन्न हिन्दू पंथों संप्रदायों के धर्माचार्यों की धर्म संसद की सर्वसम्मत घोषणा है कि 'सभी हिन्दू सहोदर हैं। कोई हिन्दू पतित नहीं है। जगद्गुरु हरिजनों सहित समस्त संसार के गुरु हैं। सभी हिन्दू गुरुभाई हैं। प्रत्येक पूजा और धार्मिक अनुष्ठान में शामिल होने का, अपनी अपनी आस्था और परंपरा के अनुरूप सबको समान अधिकार है। जो हिन्दू समाज जीवन के किसी भी क्षेत्र में पिछड़े हैं उन्हें विशेष महत्व और प्राथमिकता दी जानी चाहिए।' ये धर्माचार्य पिछड़ी बस्तियों और हरिजनों के बीच नंगे पांव जाते हैं और उन्हें प्रत्यक्ष अपने सीने से लगाकर अपनत्व और एकत्व का अनुभव कराते हैं।

पन्द्रह जुलाई को जयपुर की राजस्थान पत्रिका का अग्रलेख है कि 'नाथद्वारा के तिलकायत भी यह कह चुके हैं कि हरिजनों कें मंदिर प्रवेश पर कोई रोक टोक नहीं है। यदि अग्निवेश के नेतृत्व में कुछ हरिजन मंदिर प्रवेश कर ही जाते हैं तो कोई भूचाल आने वाला नहीं था।'

पंचखण्ड पीठ जयपुर के धर्माचार्य ने वैष्णव सम्प्रदाय की ओर से स्पष्ट कहा है कि 'हिन्दू मंदिरों के द्वार देव प्रतिमाओं और देवालयों में आस्था रखने वाले प्रत्येक हिन्दू नर नारी के लिए खुले हैं। हिन्दुओं के सर्वोच्च चार धामों —बद्रीनाथ, जगन्नाथ, द्वारका और रामेश्वरम—में हरिजन भी शेष हिन्दुओं के साथ बेरोकटोक देवदर्शन कर रहे हैं,। जगन्नाथ धाम में तो कच्ची रसोई (दाल भात) का प्रसाद भी सभी वर्णों के हिन्दू एक पंक्ति में बैठकर बिना किसी भेदभाव के ग्रहण करते आ रहे हैं। केदारनाथ, अमरनाथ, वैद्यनाथ, विश्वनाथ, कालीकट, तारकेश्वर वासुकी नाथ, विंध्याचल, सोमनाथ, महाकालेश्वर, ओंकारेश्वर, वैष्णोदेवी, श्रीरामजन्मभूमि, अयोध्या, काशी विश्वनाथ श्रीकृष्ण जन्मस्थान मथुरा, कैलादेवी, कल्याणजी डिग्गी और तिरुपति देवस्थानम जैसे महान पवित्र और पूज्य देवालय सबके लिए समान रूप से खुले हैं। वहां की अनुशासन व्यवस्था और मर्यादा के अन्तर्गत बिना किसी भेदभाव के सभी को समान अवसर प्राप्त हें कि वे देवदर्शन और पूजा अर्चना कर सकें।'

श्रीनाथद्वारा मंदिर में हरिजन प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नहीं है, इस सत्यता को प्रमाणित किया राष्ट्रीय विचार मंच ने। उदयपुर से तीन बसों से वहां के हरिजन स्त्री पुरुष नाथद्वारा गए और स्वतंत्रता पूर्वक श्रीनाथ जी के मंदिर में दर्शन किया, बाजार

में खरीदारी की और श्रीनाथजीकी जय जयकार करते हुए उदयपुर लौट गए। हरिजन नेता श्री मोहनलाल पीपल भी इस सत्यता का पता लगाने नाथद्वारा गए। श्रीनाथ जी का दर्शन किया, प्रसाद ग्रहण किया। बाद में पत्रकारों को बताया कि ढूंढने पर भी उन्हें मंदिर की किसी भी प्राचीर या द्वार पर ऐसी कोई सूचना लिखी नहीं मिली, जिसमें मंदिर में हरिजनों के प्रवेश का निषेध हो। उन्हें स्वयं को भी किसी ने न रोका टोका और न उनकी जाति वर्ण की पूछताछ ही की।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्रीबालासाहब देवरस की स्पष्ट घोषणा है कि 'यदि अस्पृश्यता पाप और अपराध नहीं है तो दुनियां में कुछ भी पाप और अपराध नहीं है।

तो फिर इन समस्त साक्षियों, प्रमाणों और प्रयासों के बाद भी हरिजनों के मंदिर प्रवेश को लेकर यह वितण्डावाद क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर है 3 जुलाई 1988 की एक घटना। यह निश्चय किया गया था कि जयपुर के सभी भंगी भाई बहन 3 जुलाई को सांयकाल छह बजे वहां के तीन प्रमुख मंदिरों --श्री लक्ष्मीनारायण मंदिर, श्री गणेश मंदिर (मोती डूंगरी) तथा श्रीगोविन्द देव जी --में सामूहिक रूप से दर्शन के लिए जाएंगे। आयोजकों ने उनकी सुविधा के लिए बसों का प्रबंध भी किया था। भंगी बस्ती गौतम नगर में उत्सव सरीखा आनंद और उतसाह व्याप्त था। लोग घर-घर जाकर देव दर्शन हेतु सबको तैयार कर रहे थे। किन्तु दोपहर होते होते सारा दृश्य बदल गया। जयपुर के हरिजन नेताओं को उस कार्यक्रम की भनक लगी तो वे हरिजन बस्ती में जा पहुंचे। उन्होंने हरिजनों को कड़ी चेतावनी दी कि यदि वे ऐसे किसी कार्यक्रम में शामिल होते जाते हैं तो उन्हें जाति द्रोही माना जाएगा। बहिष्कार के भय से वे देव दर्शन करने नहीं गए। परिणामस्वरूप वह कार्यक्रम रद्द करना पड़ा।

इस घटना में क्या यह अर्थ निहित नहीं है कि तथाकथित हरिजन नेता हरिजनों का देव मंदिर में प्रवेश धार्मिक समानता प्राप्त करने के लिए नहीं, प्रत्युत मंदिरों में हरिजनों के प्रवेश के तथाकथित निषेध का भूत खड़ा करके हिन्दू समाज का विघटन करके अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं।

एक प्रमाण और । तीन चार वर्ष पूर्व मैं धर्मयुग संपादक डा० धर्मवीर भारती, श्री बालेश्वर, अग्रवाल, श्री जोगलेकर और अश्विनी कुमार मिन्ना के साथ बिना किसी पूर्व सूचना के श्रीनाथद्वारा गया था। हम सबने दर्शनार्थियों की भीड़ के साथ दर्शन किए। किसी ने भी यह पता करने की कोशिश नहीं की कि हम कौन हैं और कहां से आए हैं ? हमने तुलसी दल और कण्ठी भी नहीं लिया। वहां कोई ऐसी व्यवस्था और प्रक्रिया भी दिखाई नहीं दी कि जिससे पता लगाया जा सकता कि कौन हरिजन है, कौन ब्रहमण है, कौन शैव है, कौन वैष्णव है, कौन आर्यसमाजी है, कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक ?

दोष किसका है ?

इस सम्पूर्ण विवरण का उद्देश्य यह सिद्ध करना कदापि नहीं है कि हिन्दू समाज में छुआछूत, अवर्ण और सवर्ण की भावना नहीं है और वह ऊंच-नीच की संकीर्णता से पूरी तरह मुक्त है। हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की विकृति सर्वविदित है। किन्तु विकृति को विकृति ही मानें। यह हिन्दुत्व का नहीं, हिन्दू समाज का दोष है। यह हिन्दुत्व का मूल दर्शन नहीं है। पिण्ड से लेकर ब्रहमाण्ड तक एक ही सत्ता का साम्राज्य है। हिन्दुत्व की अभिव्यक्ति 'जगन्नाथ जी का भात, पूछो जाति न पात' में अत्यन्त ही सशक्त रूप में हुई है। समस्त मानवता की चिन्ता करने वाले हिन्दू जीवन दर्शन में मनुष्य से घृणा की बात बेमेल और बाहरी तत्व है। जो हिन्दू धर्म और दर्शन की इस सनातनता का निषेध करता है वह धर्म का नहीं, आसुरी प्रवृत्ति का प्रवक्ता और पोषक है। आदि शंकराचार्य ने अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया। चाण्डाल तक की चरणवंदना की। संपूर्ण हिन्दू समाज को राष्ट्रीय एकता, धर्म, संस्कृति, सामाजिक समरसता और समता की अनुभूति कराई। उनका कोई आधुनिक उत्तराधिकारी यदि हिन्दू समाज में छुआछूत, ऊंच-नीच, जातीय भेदभाव का प्रतिपादन और उसको शास्त्र और धर्मसम्मत बताने का प्रयास करे तो उसे शंकराचार्य द्वारा स्थापित धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीयता एकात्मता की पवित्र पीठ पर बने रहने का का कोई अधिकार नहीं है। यही नहीं, जो लोग हरिजनों के नाम पर समाज में विष बीज बोकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं उनके कर्म और इरादों पर भी निगाह रखनी होगी।

सामाजिक विद्वेष और शत्रुता पैदा करके सामाजिक समता उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसका संबंध संस्कारों से है। व्यक्ति के मन में अपने समाज बंधुओं के प्रति ममता का भाव जगेगा तो उसमें से समता का आविष्कार होगा। द्वेष दूरियां और दुष्ट भाव पैदा करता है, आत्मीयता और स्नेह बंधुता का सृजन करते हैं।

चाहे शंकराचार्य निरंजन देव तीर्थ हों चाहे अग्निवेश या तथाकथित हरिजन नेता, वे जो कुछ भी कह और कर रहे हैं उससे हिन्दू समाज में एकता, एकात्मता और समता नहीं आएगी। इससे समाज बंटेगा टूटेगा। हो सकता है ये लोग कुछ दिनों के लिए अपनी दुकान चला लें, लेकिन हिन्दू समाज की जग रही चेतना और उसकी सहज प्रज्ञा एक दिन उनके पापकर्म और सामाजिक छल के लिए सार्वजनिक रूप से उनकी प्रताड़ना अवश्य करेगी। देव मंदिर, पूजा स्थान, और तीर्थ श्रद्धालुओं के लिए होते हैं। वे अवकाश, मनोरंजन, पिकनिक मनाने और राजनीतिक स्वार्थ साधने के स्थान नहीं हैं। हिन्दू समाज के संतों, शास्त्रों और उनकी सामाजिकता की घोषणा है कि जिसकी श्रद्धा जिस देवता में है जाति और वर्ण के आधार पर उसे उसकी पूजा अर्चना करने से रोकना सामाजिक अपराध है, अधार्मिक है, शास्त्र विरुद्ध है, ईश्वरीय

सत्ता का अपमान है, जो कुछ इसके विपरीत और विरुद्ध हो रहा है वह सब निंदनीय है, उसे रोका जाए। किन्तु अनावश्यक रूप से विकृति को बढ़ावा देकर सामजिक समता के नाम पर हिन्दू संस्कृति और परंपरा के मानवीय पक्ष को कलंकित करने का कलुषित कर्म न किया जाए।

यह दोनों पक्षों का मात्र संक्षिप्त विवरण है। इसके सत्यासत्य के विवेचन का दायित्व हिन्दू समाज का है। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक संगठन और बुद्धिजीवी इस चुनौती को स्वीकार करें। एक एक गांव मुहल्ला, गली और हो सके तो परिवार गोद ले लें। वहां रह रहे हरिजनों के बीच प्रतिदिन कुछ समय बिताएं। उनमें हिन्दू समाज का अभिन्न अंग होने का अहसास जगाएं। उन्हें अपना बनाएं, स्वयं उनके बनें। सामाजिक अभिसरण द्वारा सदियों से चले आ रहे इस पाप का प्रक्षालन और प्रायश्चित करें। यह कार्य यदाकदा मंदिर प्रवेश अभियान और सहभोज का आयोजन करने से नहीं होगा। हरिजन कहे जाने वाले लोग हमारे अपने हैं, हमारे रक्तांश हैं, हमारे ऊपर उनके अनंत उपकार हैं। उनके उद्धार के लिए नहीं, अपने उद्धार के लिए तथाकथित सवर्ण स्वयं को उनके साथ पारिवारिक, पारम्परिक, सांस्कृतिक और सामाजिक बंधुभाव से जोड़ें। हिन्दू समाज के इस अंश को टूटने से बचाने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। अतएव केवल अभियान से बात नहीं बनेगी। उपकार नहीं, आत्मीयता शब्द नहीं, कर्म आश्वासन नहीं, विश्वास विकृति नहीं, संस्कृति के संस्कार, चालाकी नहीं, सरलता सस्ती लोकप्रियता का नहीं, लोकसंग्रह और लोक संस्कार का पक्ष प्रबल करने की जरूरत है। अपनों के साथ परायों जैसा व्यवहार करके उन्हें राजनीतिक व्यापार की वस्तु न बनायें। वे मनुष्य हैं। हम मानव मन की साध को समझेंगे तो ही सामाजिक समरसता और समता का अनुष्ठान सफल होगा।

फिर वही माहौल, फिर वही आग की नदी

फिर वही माहौल। फिर वही देश को तोड़ कर चुनाव जीतने का तरीका। फिर वही आनन्दपुर साहब प्रस्ताव की चर्चा। फिर वही मां का शव दिखाकर सहानुभूति प्राप्त करने का उद्यम। विरोधी दलों को विघटनवादी और देश का दुश्मन बताने की फिर वही बातें। राजीव की हत्या की साजिशों से जुड़े फिर उन्हीं समाचारों का प्रकाशन। संसद और देशवासियों के साथ 'देशहित' के नाम पर फिर वही छल कपट। विरोधी दलों की राज्य सरकारों को गिराने की परिस्थिति पैदा करने का फिर वही निर्देश। आश्वासनों और शिलान्यासों का फिर वही दौर। अपने साथियों और सहयोगियों पर विश्वासघात करने का आरोप लगाने का फिर वही सिलसिला। हिंसा और हत्या का आतंक उत्पन्न करके देश को आग और खून की नदी में डुबाकर भयभीत मतदाताओं का मतदान केन्द्रों तक हांक ले जाने की फिर वही कुटिलता। जातियों और संप्रदायों को तुष्ट करके राष्ट्रीय एकता और अखण्डता खरीदने की फिर उसी त्रासदी की पुनरावृत्ति करने का सुनियोजित प्रयास। धन और लोभ देकर लोकप्रियता अर्जित करने की फिर वहीं रणनीति। देश की सीमाओं पर शत्रुओं का पालन पोषण करके खतरा बनाए रखने का फिरवही इरादा। बाहर सीमा पर शत्रु की बारूद और अन्दर अराजकता में देश को फंसा कर स्वयं को एकमेव रक्षक सिद्ध करने का वही पुराना राग। राजनीतिक अस्थिरता को स्थिरता बताने का खुला राजनीतिक पाखण्ड। भ्रष्टाचार को विश्व व्यापी समस्या कहकर स्वयं के भ्रष्टाचार के औचित्य का सिद्ध करने की फिर वही सहजता। हत्यारों, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आराधियों और देश तोड़कों की रक्षा करने की फिर वही गिरोहबंदी। नेहरू के असली खून खानदान से केवल राजीव के जुड़े होने और दूसरों को नकली नेहरू बताने का फिर वही प्रलाप। तब देवकांत बरुआ ने इंदिरा को इंडिया कहा था, अब बूटासिंह राजीव को भारत बना रहे हैं। और राजीव इंदिरा को लोकतंत्र और सेकुलरिज्म।

कांग्रेसी संस्कृति का परिणाम

यह राजीव की इंदिरा कांग्रेस की राजनीतिक संस्कृति है। यह राजनीतिक संस्कृति राजीव को अपनी मां से विरासत में मिली है। इस राजनीतिक संस्कृति की आधारशिला श्रीमति इंदिरा गांधी ने 1969 में बंगलौर के शीशमहल में रखी थी। वहीं

दल और देश के साथ विश्वासघात का बीजारोपण किया गया था। वहीं अन्तरात्मा की पवित्र आवाज का राजनीतिकरण किया गया था। वहीं गरीबों की गरीबी को वोट में बदल दिया गया था। वहीं गरीबी हटाने और सामन्तवाद का नाश करने के लिए पूर्व राजाओं का जेब खर्च काटा गया था कि वह धन गरीबों को दिया जाएगा। वहीं बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके कंगालों को खुशहाल बनाने का अभियान आरंभ हुआ था। उसी का परिणाम था हत्या की राजनीति का आरंभ। उसी कारण भारतीय स्टेट बैंक काण्ड से आठ करोड़ रुपये 'माताजी' के आदेश से निकाले गए थे। उसी कारण स्टेट बैंक काण्ड से जुड़े कुछ लोग दुर्घटना में मार दिये गये थे। उसी में जन्मा था तुलमोहन राम काण्ड। उसी ने ललित नारायण मिश्र की हत्या कराई। उसी के विरुद्ध आरंभ हुए बिहार में विद्यार्थी परिषद के आन्दोलन ने जयप्रकाश नारायण को जन संघर्ष के मोर्चे पर ला खड़ा किया था। उसी का परिणाम थी लोकसंघर्ष समिति। भ्रष्टाचार ओर लोकतंत्र खरीदने की उसी गलीज सोच पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति जगमोहन लाल सिन्हा के निर्णय ने निर्णायक प्रहार किया था। उसी में से प्रतिबद्ध न्यायाधीशों की तलाश और नियुक्ति का रिवाज जन्मा। उसी की देन है व्यक्ति विशेष के प्रति वफादार नौकरशाही का निर्माण। उसी ने नेहरू के वंशवाद को पुष्ट करने की राजनीतिक बाध्यता का बल प्रदान किया। उसी की चरम परिणति था 1975 का आपातकाल। उसी ने लोकतंत्र को खानदानी राजनीति का बंदी बनाया। वहीं से नेहरू खानदान के कुत्ते बिल्लियों तक में प्रतिभा और दैवी गुणों के अधिष्ठान का बखान करने की नग्न दरबारी रणनीति शुरू हुई। उसी के बाद कटे हुए वृक्ष की तरह कांग्रेस और कांग्रेसी नेहरू खानदान के प्रवाह में इंदिरा जी का रुख देखकर बहने, ठहरने और किनारे लगने लगे। तभी लोकतंत्र वंशतंत्र का बंदी बना और तब से अब तक वह एक व्यक्ति और वंश के बंधुआ मजदूर की तरह चल रहा है। एक दल और व्यक्ति विशेष का हित ही अब देश हित है। वह जिसे देशभक्त कह दे वह देशभक्त जिसे गद्दार कह दे वह गद्दार।

इंदिरा जी की हत्याओं और भ्रष्टाचारों पर पर्दा डाला और छिपाया तो राजीव भी उनसे कम नहीं हैं। मां से बेटा सवाया निकला। मां ने अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों और साथियों की हत्या और भ्रष्टाचार पर पर्दा डाला तो बेटे ने अपनी मां के हत्यारों को संरक्षण देकर अपने भ्रष्टाचार को संसद के कालीन के नीचे छिपा दिया।

राजीव ने अपनी राजनीतिक यात्रा का आरंभ समन्वय की राजनीति करने के दावे के साथ किया था किन्तु अब वे संघर्ष के उसी बिन्दु पर आ पहुंचे हैं जिस बिन्दु पर इन्दिरा जी अपने जीवन की अंतिम घड़ी में खड़ी थीं। मां की राजनीतिक लीक से हट कर नई लीक बनाने, सत्ता के दलालों से देश और दल को मुक्त करने की घोषणा करने वाले राजीव अपनी मां के रक्तरंजित राजमार्ग पर चलते हुए राजनीतिक दलाली की संस्कृति में वापस आ गए हैं, सत्ता के दलालों के घोंसले मे छिप कर अपनी रक्षा

करने लगे हैं।

देश के इस मारक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और साम्प्रदायिक माहौल में यदि कोई देश इसके लिए जिम्मेदार व्यक्ति की तलाश करे तो उसे केवल इंदिरा जी या राजीव जी नहीं, ऐसे अन्य अनेक लोग भी मिलेंगे जो अपना खून पसीना बहाकर, अपनी वफादारी का वास्ता देकर देश को राजनीतिक नपुंसकता और हताशा की स्थिति में डालने में सहायक हुए हैं। इन व्यक्तियों की सूची में केवल कांग्रेसी ही नहीं, विरोधी दलों के कई नेताओं के भी नाम हैं। इस कतार में बूटा सिंह, चिदम्बरम, हरिकिशन लाल भगत, कल्पनाथ राय, कमलकान्त तिवारी, ज्ञानी जैल सिंह, कमलाकान्त त्रिपाठी, उमाशंकर दीक्षित, ओम मेहता, ललित नारायण मिश्र, इंद्र कुमार गुजराल जैसे अनेक लोग शामिल हैं तो विश्वनाथ प्रताप सिंह, अशोक कुमार सेन, विद्याचरण शुक्ल, अरुण नेहरू, राजनारायण, हेमवती नंदन बहुगुणा, राजेश्वर राव, ज्योति बसू, नम्बुदिरीपाद, चन्द्रशेखर, रामकृष्ण हेगड़े जैसे विरोधी दलों के नेता भी इससे अलग नहीं हैं। विश्वनाथ प्रताप सिंह कभी राजीव को कृष्णावतार कहते थे, अशोक सेन, विद्याचरण शुक्ल, अरुण नेहरू आदि ने विश्वनाथ प्रताप सिंह के साथ इन सभी ने राजीव का अंध समर्थन किया था। आपातकाल सहित इंदिरा जी के सभी कार्यों में सहभागी थे ये लोग। एक ही राजनीतिक संस्कृति की उपज और केवल सत्ता की राजनीति के गणित का विशेषज्ञ होने के कारण, इनमें, इनके दलों, राजीव और राजीव के इंदिरा कांग्रेसियों में कोई अन्तर नहीं हैं

राष्ट्रीयता के मापदण्ड !

यह देश की राजनीति की विडम्बना ही तो है कि जो दल और राजनीतिक व्यक्ति इस कांग्रेसी राजनीतिक संस्कृति से भिन्न हैं उन्हें यह राजनीतिक गिरोह और बुद्धिजीवी देश की मुख्य राजनीतिक धारा से अलग मानते हैं। उन्हें संकुचित, साम्प्रदायिक, छोटे दिल वाला और कार्यक्रमविहीन बताकर तिरस्कृत करते हैं। अर्थात् देश की मुख्य राजनीतिक धारा वह है जिसमें भ्रष्टाचार हो, हत्या हो, आतंक हो, अलगाव हो, साम्प्रदायिक जहर हो, व्यक्ति सापेक्षता हो। जिसमें एक राष्ट्र एवं एक जन का बोध है, जो राष्ट्र को सम्प्रदाय, जाति, क्षेत्र, भाषा, सत्ता और वोट राजनीति निरपेक्ष एक दैवी इकाई के रूप में एकात्म मानते हैं वे इस देश की वर्तमान मुख्य राजनीतिक धारा के जल कण नहीं हैं। अर्थात शहाबुद्दीन भारत राष्ट्र की मुख्य राजनीतिक धारा के जल कण हैं लालकृष्ण आडवाणी नहीं। एक भारत राष्ट्र को अनेक राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं का समूह मानने वाले दल और नम्बूदिरीपाद जैसे लोग भारत की मुख्य राजनीतिक धारा के सहज स्वाभाविक अंग हैं, किन्तु संपूर्ण भारत राष्ट्र की जीवित जागृत देवी भगवती की तरह आराधना करने वाले अटलबिहारी वाजपेयी नहीं। अल्पसंख्यक वाद की दराती से राष्ट्रीयता के टुकड़े और

अल्पसंख्यक आयोग को सांविधानिक मान्यता दिये जाने की वकालत करने वाले राजीव, कम्युनिस्ट और विश्वनाथ प्रताप सिंह जैस लोग और उनके दल सम्प्रदाय निरपेक्ष हैं लेकिन देश के प्रत्येक नागरिक को समान, सामाजिक, आर्थिक न्याय प्रदान करने के लिए प्रतिबद्ध मानव अधिकार आयोग गठित किए जाने की मांग करने वाले लोग सांप्रदायिक हैं, जिनके अल्पसंख्यक आयोग की सीमा में केवल मुसलमान शामिल हों, वे राष्ट्रीय, जिनकी चिन्तन धारा में कंगाली की रेखा के नीचे गलीज जिन्दगी जीने वाले पैतालीस करोड़ लोगों सहित देश के सभी नागरिक पंथ और मजहब निरपेक्ष रूप में शामिल हों उन्हें राजनीतिक मुख्यधारा से अलग माना जाता है। जो संविधान की धारा 370 का 371 (ए) तक विस्तार करके देश की विविधता विभिन्नता मानते हैं और उसके राष्ट्रीय सांस्कृतिक सूत्र को तोड़कर अनेक अलगाववादी राष्ट्रीय अस्मिताएं जागृत करके देश को तोड़ने में लगे हैं वे अखण्डतावादी और मुख्य राजनीतिक धारा के निर्माता भगीरथ कहे जाते हैं और जो इस अलगाववादी धारा को समाप्त करके राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता के सूत्र में पिरोकर अखण्ड, अविभाज्य कर्मकाण्ड निरपेक्ष एक ऐसे समरस ओर समतायुक्त राष्ट्र और समाज का निर्माण करने का दावा करते हैं कि जिसमें सब की मजहबी अस्मिताएं और पहचान सुरक्षित रहें वे राष्ट्रीय राजनीति की मुख्य धारा के नहीं हैं। आज एक नकली और बदबूदार राजनीतिक धारा बह रही है। और हम उसे ही मुख्यधारा मानकर अपनी राष्ट्रीय अस्मिताएं, लोकतंत्र, लोकतांत्रिक संस्थाओं को लक्षित करके प्रसन्न हैं।

चुनाव में सफलता को मुख्य राजनीतिक धारा या असफलता को उससे भिन्न मान लेने, छल कपट से सत्ता में बने रहने, भय और आतंक उत्पन्न करके जन समर्थन प्राप्त करने, मासूमों की हत्या कराकर और मां का शव बेचकर पद प्राप्त करने, समस्याएं पैदा करके उनका समधान करने का अवसर मांगने, केवल स्वयं को एकमेव देशभक्त मानने और देश को खून और आग की नदी में डुबो देने की राजनीतिक रणनीति को मुख्य राजनीतिक धारा मान लेने और बताने का ही परिणाम है कि देश आज राजीव जैसे प्रधानमंत्री को भुगत रहा है और इससे पहले उसे इंदिरा जी की इसी राजनीति को भुगतना पड़ा था।

फिर वही स्थिति

आज संसद सहित देश के लोकतंत्र के सभी दरवाजे या तो बंद हैं या अधखुले हैं। न्यायालयों पर अब पूरा भरोसा नहीं रहा। समाचार पत्रों की चौकसी और विश्वसनीयता पर प्रश्न चिन्ह लग गया है। राजनीति का पूर्ण अपराधीकरण हो चुका है, व्यापार काला धन पैदा करता है, अम्बानियों ने आकाश पाताल को नापना शुरू कर दिया है। विदेशी ताकतें भारत की राजनीति और अर्थनीति की नियन्ता हैं, देश की अखण्डता और सार्वभौमिकता महाशक्तियों की कृपा और उनकी वैश्विक कूटनीति

की बंधक हैं।

और माहौल ? माहौल फिर वही हिंसा, हत्या और आतंकवाला है। यदि राजीव की इंदिरा कांग्रेस और महाशक्तियों की यह रणनीति सफल हो गई तो 1989 के चुनाव के समय डरा हुआ मतदाता एक बार फिर 1984 की तरह मतदान केन्द्र पर जाएगा और अपने कांपते हाथों से हाथ पर मुहर लगा कर अपना गला फिर से उन्हीं हाथों में सौप देने को बाध्य हो जाएगा जो खून और भ्रष्टाचार से सने हैं और देश के सुरक्षा सौदों तक में दलाली का धन बटोरते हैं।

राजीव सहित उनकी कांग्रेस और मंत्रियों को कुछ भी पता नहीं है कि उन्हें कौन चला रहा है। आज के बूटा सिंह को कल जब सरकार और पार्टी से निकाल दिया जाएगा तो उनहें भी विश्वनाथ प्रताप सिंहों की तरह आत्मबोध होगा लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी होगी। आग और आतंक का जो माहौल राजीव के वफादार राजनीतिक गुमाश्ते बना रहे हैं वह बिना किसी भेदभाव के सभी को समान रूप से जलाएगा। यदि इस आग से बचना है तो आज की इस गंदी राजनीति की धारा से भिन्न एक अलग राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और राष्ट्रीय धारा बनानी होगी। जो इस धारा का निर्माण करेगा वही आज का भगीरथ होगा, वही भारत के सगरसुतों को आग की लपटों से बचाकर उनकी अस्मिता की रक्षा करेगा। राजीव भ्रष्ट हैं, वे अपनी मां के हत्यारों को बचा रहे हैं, वे फिर आनन्दपुर साहब प्रस्ताव पर विरोधी दलों की सफाई मांगते हैं, उन्हें खालिस्तानी बताकर झूठ बोल रहे हैं, आदि बातें बोलने मात्र से यह आग बुझेगी नहीं, और अधिक धधकेगी। यह आग बुझेगी उस धारा के जल से जो अन्तःसलिला की तरह देशवासियों के मन में बह रही है। और किसी एक ऐसे माध्यम की तलाश में है कि जिसके द्वारा वह स्वयं को अभिव्यक्त कर सके और जो स्पष्ट हो, असंदिग्ध हो, सक्षम हो, साहसी हो, हजारों वर्षों से चली आ रही मुख्य राष्ट्रीय जीवन धारा के प्रति पूरी तरह समर्पित और जिसमें अंतिम विजय के प्रति अदम्य और अपराजेय आत्म विश्वास हो। वर्तमान समर बहुआयामी है। वह अपने अंतिम दौर में पदार्पण कर रहा है। संभव हुआ तो अगले अंक में इसके स्वरूप और समरभूमि के मोर्चे का संक्षिप्त उल्लेख करूंगा। निश्चित आश्वासन इसलिए नहीं देता कि आजकल अप्रत्याशित आमतौर से घट रहा है। अतीत में आज की तरह अनिश्चित आगत कल कभी नहीं रहा।

30 अप्रैल 1989

यदि भारत को मल कुंड बनने से बचाना है तो....?

पिछले अंक में आश्वासन दिया था कि यदि कुछ अप्रत्याशित न घटा तो उस समय जो कुछ लिखा था उस संदर्भ से जुड़े आगत के स्वरूप की रूपरेखा लिखूंगा। यह भी लिखा था कि अतीत की अपेक्षा आगत कल इतना अधिक अनिश्चित हो गया है कि कल क्या होगा कुछ कहा नहीं जा सकता। वही हुआ।

केन्द्र राज्य संबंधों पर सरकारिया आयोग की सलाह को दलीय राजनीति के कूड़ेदान में में फेंककर राजीव मन्त्रिमंडल की सलाह पर राज्यपाल की रपट को स्वीकार करके राष्ट्रपति ने कर्नाटक विधानसभा भंग कर दी। अब कर्नाटक राज्य पर राष्ट्रपति अर्थात् राजीव का शासन है। इस सबके लिए जनता दल और जनता पार्टी की अन्दरूनी गुटबाजी, चन्द्रशेखर, हेगड़े, विश्वनाथ प्रताप सिंह और इंदिरा कांग्रेस में से किसी को या सभी को कटघरे में खड़ा किया जा सकता है किन्तु इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि राष्ट्रपति ने जो कुछ किया वह केन्द्र में सत्तारूढ़ दल इंदिरा कांग्रेस के राजनीतिक हिताहित को ध्यान में रखकर ही किया है। अन्यथा राज्य विधान में बहुमतसिद्ध करने के जनता दल के दावे को अस्वीकार न करते। राष्ट्रपतिं को राज्यपाल की सलाह पर राज्य सरकार को अपदस्थ करने और राज्य विधान सभा भंग करके अपना शासन लागू करने का सांविधानिक अधिकार है। किन्तु सरकारिया आयोग की इस सलाह का भी कम महत्व नहीं है कि यदि राज्य विधान सभा का अधिवेशन न चल रहा हो और दलीय राजनीतिक अस्थिरता के कारण शासक दल का बहुमत संदिग्ध हो गया हो तो बहुमत और अल्पमत या राजनीतिक अस्थिरता का निर्णय राज्यपाल न करें। इसके लिये सदन का अधिवेशन आहूत किया जाए। सदन में बहुमत का निर्णय लिया जाए सदन के बाहर नहीं। 27 अप्रैल को जनता दल के मुख्यमंत्री श्री बोम्माई ने विधानसभा का सत्र आहूत करने की सिफारिश की थी कि वे सदन में अपना बहुमत सिद्ध करेंगे। यदि केन्द्र की राजीव सरकार दलीय राजनीति की चाल न चलती तो संविधान की मर्यादा, राष्ट्रपति की प्रतिष्ठा और लोकतंत्र की परंपराओं की रक्षा भी हो जाती और जो कुछ राजीव चाहते थे संभवतः वह भी हो जाता, क्योंकि जनता दल स्वयं ही अपनी नाव डुबाने पर उतारू था। किन्तु राजीव ने समझदारी से काम नहीं लिया। वैसे उनसे समझदारी, धैर्य और दूरदर्शिता की अपेक्षा

करना समझदारी की सीमा में इसलिए नहीं आता कि उन्हें लोकतांत्रिक मानस का ज्ञान नहीं है और वे राजनीतिक प्रशिक्षण से भी वंचित हैं। खानदानी व्यवसाय की तरह राजनीति और लोकतंत्र का संचालन करने की कला उन्हें विरासत में मिली है और वे उसी का निर्वाह कर रहे हैं।

मर्यादा का सवाल

समस्या कोई भी उसका समाधान घूमफिर कर राजनीति, सरकार और लोकतंत्र की मर्यादा पर आकर अटक जाता है। राजनीति का सर्वव्यापी और सरकार का दलीय शिकंजे में पड़कर सर्वभक्षी होते जाने के साथ साथ लोकतंत्र दिन प्रतिदिन निरर्थक होता जा रहा है। उस लोकतंत्र का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता जिसे मुट्ठी भर लोग संदिग्ध वातावरण में गोपहीनता की बन्द लौह दीवार के अन्दर अपने हित साधन के रूप में चलाएं।

लोकतंत्र की प्रथम शर्त है विश्वास। विश्वास के आधार पर ही देशवासी किसी दल को सत्ता सौंपते हैं। उसे अपने भाग्य और भविष्य का निर्माण और रक्षा करने का अधिकार देते हैं। अतएव उन्हें यह जानने का अधिकार है कि उनकी प्रतिनिधि सरकार क्या कर रही है ? देश के शत्रु मित्र कौन हैं ? देश के अन्दर भितराघात कौन कर रहा है ? देश के विकास में बाधक कौन है ? देश ने कितनी प्रगति की है और उस प्रगति लाभ में उसका हिस्सा कितना है ? उत्पादन का ही वितरण हो रहा है कि नहीं ? किन्तु हमारा लोकतंत्र इस दयनीय दिशा में है कि देशवासी आज यह नहीं जान सकते कि उनके प्रतिनिधि क्या कर रहे हैं ? हमें हमारे देश के दुश्मनों का चेहरा पहचानने, उनका नाम जानने से सुनियोजित ढंग से वंचित रखा जाता है। आम आदमी की कौन कहे, संसद, राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद तक को वास्तविकता से अवगत नहीं कराया जाता। जांच आयोग की रपट का राजनीतिक उपयोग करके अपने विरोधियों का ही नहीं, राष्ट्रपति और मंत्रियों तक का भयादोहन (ब्लैकमेल) किया जाता है।

सब कहानियां

भागलपुर जेल काण्ड, अंतुले के इंदिरा प्रतिमा प्रतिष्ठान, बोफर्स, फेयरफैक्स, रंगनाथ मिश्र आयोग और ठक्कर आयोग तक की यही कहानी है। भागलपुर जेल में कैदियों की आंखों में तेजाब डाल कर अंधा कर दिये जाने की घटना पर गुप्तचर विभाग की रपट सर्वोच्च न्यायालय ने मांगी तो सरकार साफ मुकर गई थी कि ऐसी कोई रपट है किन्तु वह रपट दूसरे दिन समाचारपत्रों में छप गई तो सरकार को स्वीकारना पड़ा और सर्वोच्च न्यायालय को वह रपट देनी पड़ी। बोफर्स तापों के सौदे में दलाली का सवाल उठा तो उसे छिपाया गया। कहा गया कि दलाली की जानकारी

मांगने वाले देश को तोड़ने की विदेशी साजिश में शामिल हैं। ना ना कहते हुए बाद में यह कह कर कि 'बोफर्स तोपों के सौदे में दलाली खाने में मैं और मेरे परिवार का कोई भी संबंधी शामिल नहीं है', सब कुछ स्वीकार कर लिया लेकिन अभी तक यह नहीं बताया गया कि दलाली के चौंसठ करोड़ रुपये किस की जेब में गए। ठक्कर आयोग की रपट सीधे देश की प्रधानमंत्री की हत्या से जुड़ी है। वह व्यक्तिगत मामला नहीं है। उस हत्याकांड में कौन-कौन शामिल थे, किस किस ने वह षड्यंत्र रचा था ? विशेष जांच दल ने क्या रपट दी है आदि जानकारी देशवासी मांगते हैं तो उन्हें देश तोड़कों और गद्दारों के कटघरे में खड़ा करने का हर संभव प्रयास किया जाता है। जिस देश में अपने देशवासियों से देश के दुश्मनों का नाम छिपाया जाए, भ्रष्टाचारियों, तस्करों, हत्यारों को संरक्षण देकर हत्या और भ्रष्टाचार की राजनीति की जाए, लोकतंत्र और संविधान के नाम पर खानदानी राजनीतिक व्यवसाय चलाया जाए, उस शासन तंत्र को कोई लोकतंत्र कहे तो कैसे कहे ?

राजीव का लोकतंत्र हत्या और भ्रष्टाचार की जांच कर रहे आयोग की रपट ही नहीं गर्भपात के आंकड़े, वन और भूमि क्षरण की जानकारी, शिक्षा व्यवस्था, नवोदय विद्यालयों की स्थिति, गरीबी के रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या, शिक्षित और अशिक्षित बेरोजगारों, वनवासियों, जनजातियों और मलिन बस्तियों की दशा, महामारी, अकाल, बाढ़ और दुर्घटनाओं का ब्यौरा आदि कोई भी सूचना मांगिए जनहित के नाम पर सरकारी तंत्र उसे छिपा जाता है। यह जानकारी देने से उसकी राय में देश की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा हो जाता है।

यह स्थिति आज, अभी और एक दिन में नहीं बनी है। यह गत बयालीस वर्षों की राजनीतिक प्रक्रिया का परिणाम है। वोट- राजनीति के माध्यम से देश की जनता को 'एक दिन और वह भी कुछ क्षणों की बादशाहत' देकर शेष चार वर्ष तीन सौ चौंसठ दिन स्वयं बादशाह बनकर देश को शासक और शासित वर्ग में बांट देने से यही होता है, जो आज हो रहा है, जिस देश के पढ़ लिखे बुद्धिजीवी लोकतंत्र के तमाशबीन होते हैं वहां का लोकतंत्र इसी तर्ज पर और तरीके से चलता है। जिस देश के सत्तर प्रतिशत नागरिक निरक्षर हों, जहां के राजनीतिज्ञों का निरक्षरता, अज्ञानता और गरीबी में निहित राजनीतिक स्वार्थ हों, वहां के लोकतंत्र में वहां के लोगों को पशुओं का झुण्ड समझ कर इसी प्रकार हांका जाता है। प्रसिद्ध विधिवेत्ता नानी पालकीवाला के इस आकलन को नकार पाना संभव नहीं हे कि देश का संपूर्ण राजनीतिक परिदृश्य नैतिक संकट से ग्रस्त है। पचास के दशक के सार्वजनिक जीवन में ऐसे अनेक प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण व्यक्ति थे जो अपादमस्तक सज्जन और स्वच्छ चरित्र वाले थे। साठ के दशक में भी अपवाद स्वरूप ही सही अनेक ऐसे लोग थे जो सज्जन और चरित्रवान थे। किन्तु दुर्भाग्यवश सत्तर के दशक से ऐसे राजनीतिज्ञों की भरमार हो गई है जिनमें सज्जनता और चरित्र की तलाश या आशा करने का कोई

अर्थ नहीं रह गया।

घातक उदासीनता

यह स्थिति इसलिए नहीं बनी है कि देश में शुचिता और चरित्र का अकाल पड़ गया है। इसका कारण है देशवासियों की उदासीनता। फ्रांसीसी विचारक मोन्टेस्क्यू का कहना है कि 'लोकतंत्र व्यवस्था में नागरिकों की उदासीनता किसी खानदानी शासन के राजकुमार के क्रूर अत्याचारों से अधिक घातक, त्रासदायक और विनाशकारी होती है।' अमरीका के डैनियल वेबास्टर ने 1934 में अमरीकी जनता को चेतावनी दी थी कि 'यदि इस देश की जनता अपने देश की रक्षा करने का दायित्व स्वयं वहन करेगी तो इस देश को कोई भी नष्ट नहीं कर सकेगा और यदि उसने यह दायित्व अपने से अतिरिक्त किसी और क हाथों में दिया तो उसकी रक्षा कोई नहीं कर सकेगा।' अपने जीवन के अंतिम घड़ी में गौतमबुद्ध के अंतिम शब्द थे—'अपनी रक्षा के लिए अपने अतिरिक्त और किसी की ओर मत देखो।'

भारत का लोकतंत्र आज राजनीतिक सामन्तवाद का शिकार है। संसद और विधान सभाओं के केवल पांच हजार लोग देश के अस्सी करोड़ लोगों के भाग्य का फैसला कर रहे हैं। अपने दल, पद और वंश के भविष्य को देश का भविष्य बता रहे हैं। सांविधानिक प्रक्रिया को सत्ताधारी, सत्ता लोभी और सत्ता के दलालों ने क्षुद्र और घृणास्पद बना दिया है। आत्म केन्द्रित स्वार्थी और पेशेवर राजनीतिज्ञों के लिए चुनाव प्रशिक्षित घोड़ों की घुड़दौड़ से अधिक और कुछ नहीं है। पांच हजार वर्ष से भी प्राचीन एवं एकात्म संस्कृति वाले राष्ट्रीय समाज को जाति, भाषा, मजहब, अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक आदि में बांट कर प्रदूषित कर दिया गया है। मानवता को सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ भारत को क्रूर सत्ता राजनीति के तप्त तवे पर जलाया जा रहा है।

गणतंत्र और गोपनीयता, लोकतंत्र और उदासीनता, जनप्रतिनिधि और अविश्वास, ज्ञान और बंद तकनीक, सत्य और सूचना के अभाव में कोई तालमेल नहीं है। गोपनीयता गणतंत्र को नकारती है। अविश्वास जनप्रतिनिधित्व का निषेध करता है। बंद तकनीक का ज्ञान शत्रु है और सूचना का अभाव सत्य का साक्षात्कार करने से रोकता है।

इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता कि देश को खतरे में किसी और ने नहीं हम भारत के लोगों अर्थात् हमने स्वयं डाला है। क्या अब भी यह बताने की आवश्यकता है कि यदि पेशेवर, मूढ़ किन्तु क्रूर राजनीतिज्ञों को किनारे करके देश के नागरिकों ने पहल अपने हाथ में नहीं ली, गुटबाजी और सत्ता लोभी राजनीतिज्ञों को धता बताकर संवेदनशील, चरित्रवान एवं दूरदर्शी व्यक्तियों को अपना प्रत्याशी और प्रतिनिधि नहीं बनाया तो ये पेशेवर राजनेता, महर्षि अरविन्द की जीवित जागृत शक्ति स्वरूपा देवी भारतमाता के भारत को मलकुण्ड बना कर ही दम लेंगे।

ऋषि अरविन्द की इस भविष्यवाणी को कि 'एक दिन भारत की महानता का सूर्य उदित होगा और उसका प्रकाश भारत एवं एशिया सहित संपूर्ण विश्व को आच्छादित करेगा।' सार्थक करना है तो कांग्रेस की भ्रष्ट राजनीतिक संस्कृति की शकुनि चाल के जाल से उसे मुक्त करना ही होगा। ब्रिटेन के इतिहासकार इ० सी० थाम्पसन भी ऋषि अरविन्द का समर्थन करते हैं कि भारत केवल महत्वपूर्ण ही नहीं है वह भावी विश्व का एक ऐसा देश है जो मानवता की रक्षा करेगा। ....यदि इस महान देश को एकाधिकार के डिब्बे में बंद कर दिया गया, यदि इसका विविध ज्ञान और इसकी रचनाधर्मिता संरूपता (कानफार्मिस्ट) के अंधकार मे विलीन हो गई तो यह मानवता की अब तक की पराजयों में सबसे बड़ी पराजय होगी।'

भारत की दुर्दशा देखकर सारा विश्व परेशान है। विधिवेत्ता नानी पालकीवाला बताते हैं कि अपनी यह परेशानी प्रगट करते हुए विश्व के सबसे बड़े निगम के अध्यक्ष ने उनसे पूछा था कि 'अद्वितीय रूप से कुशल और बुद्धिमान लोगों का धनी, भारत जैसा महान देश गरीब क्यों है तो मेरा उत्तर था कि इस निष्पादन और प्रवीणता का श्रेय हमारे देश के राजनीतिज्ञों को है।' यदि श्री नानी पालकीवाला अपने इस निष्कर्ष में इतना और जोड़ देते हैं कि इसका दायित्व सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों सहित हमारे देश के आम लोगों की कायरता, उनकी दरबारी प्रवृत्ति को भी है।' तो उनके उत्तर को पूर्णता प्राप्त हो जाती।

गोपनीयता के लोहदुर्ग से गणतंत्र की मुक्ति, लोकतंत्र की राजनीतिक सामन्तवाद से रिहाई, पेशेवर राजनीतिज्ञों के हाथों से राजनीतिक पहल छीन कर चरित्रवान, दूरदर्शी और निःस्वार्थी लोगों की अगुवाई में नागरिकों की पहल और अपने देश की रक्षा स्वयं करने का दायित्व बोध का निर्वाह किए बिना यह महान देश सदा खतरों से घिरा रहेगा ओर इस खतरे का आतंक उत्पन्न करके, उस पर गोपनीयता का पर्दा डालकर देशवासियों का भयादोहन करके, लोकतंत्र के नाम पर राजनीतिक लुटेरे हम भारत के लोगों को सदा लूटते रहेंगे। जीवित जागृत भगवती भारतमाता का भारत मलकुण्ड में बदल जाएगा और हम होंगे उस मलकुण्ड के मात्र कीड़े। दुनियां हमें मनुष्य मानने से भी मना कर देगी। स्थिति इतनी गंभीर है कि —'घर में भी अब चिराग संभलकर जलाइये, बारूद बन चुकी है, फिजाए वतन तमाम।'

7 मई 1989

एक पाप के विकल्प में दूसरा

कर्नाटक की जनता दल सरकार की अकाल मृत्यु पर कोई रोया नहीं। केन्द्र में इंदिरा कांग्रेस के दुःखी होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था किन्तु जनता दल भी पूरी ईमानदारी और शक्ति के साथ अपनी सरकार के पतन के अपराधियों को कटघरे में खड़ा नहीं कर पाया। जनता दल के नेताओं का प्रहार अपने दल के राजनीतिक व्यवहार और केन्द्रीय सरकार की राजनीतिक अवसरवादिता पर था। कर्नाटक की जनता इस प्रकरण की केवल तमाशबीन बनी रही और शेष देशवासी शर्मिन्दा थे कि उनके देश की राजनीति में भ्रष्टाचार की होड़ है। इस होड़ में जो बाजी मार ले वही शासक और जो चूक जाए वह सड़क का अकिंचन आदमी।

देश की सत्ता राजनीति का दोमुंहापन, भ्रष्ट और खण्डित व्यक्तित्व कर्नाटक के राजनीतिक कैनवास पर बहुत ही साफ तौर पर उभरा है । राजीव की इंदिरा कांग्रेस और विरोधी दलों ने एक दूसरे से सवाल किया कि किसने मारा कर्नाटक की जनता सरकार को ? क्यों मरी जनता द्वारा चुनी सरकार ? इन सवालों का जवाब जनता दल, इन्दिरा कांग्रेस और राज्यपाल—सभी को जनप्रतिनिधि सरकार की हत्या के कटघरे में खड़ा कर देता है ?

पहले इंदिरा कांग्रेस के जवाब का जायजा लें। राजीव के केन्द्रीय गृहमंत्री बूटा सिंह का अधिकृत उत्तर है कि 'कर्नाटक विधानसभा में जनता दल का बहुमत समाप्त हो गया था। राज्य सरकार भ्रष्टाचार से सनी हुई थी। भाई-भतीजा और पुत्रवाद चल रहा है। विधायकों की खुली खरीद करने के केन्द्र खुले हुए थे। 1987 में कर्नाटक के विधायकों की कीमत दो लाख थी तो 1989 में बीस लाख हो गई। जनता दल अपने ही विधायकों को खरीदने लगा था। ऐसी स्थिति में राज्य सरकार को भंग कर देने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था।'

राजनीतिक अबुद्धिमत्ता

विरोधी दल, विशेषकर जनता दल, के नेताओं से दलील है कि विधानसभा का सत्रावसान नहीं हुआ था। राज्यपाल को चाहिए था कि वे जनता दल को विधानसभा के अन्दर अपना बहुमत सिद्ध करने का अवसर देते। राजभवन में अल्पमत बहुमत

का निर्णय करना असंविधानिक है। सरकारिया आयोग की नवीनतम रपट भी इस प्रक्रिया को अमान्य करती है। किन्तु जनता दल भ्रष्टाचार के आरोप का खण्डन असंदिग्ध शब्दों में और सप्रमाण नहीं कर पाता। विरोधी दलों की सांविधानिक दलील में दम है। यह सच है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया को अवरुद्ध किया गया। राज्यपाल के निर्णय की आधारभूमि बहुत ही भुरभुरी है। परन्तु इंदिरा कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार पर राजनीतिक अवसरवादिता का आरोप बेमानी है, क्योंकि प्राप्त अवसरवादिता का लाभ न उठाना राजनीतिक नादानी होती। फिर भी यदि राजीव ने समझ और राजनीतिक दूरदर्शिता से काम लिया होता तो उनकी सरकार और राज्यपाल जनतादल की सरकार की हत्या के आरोप से बच सकते थे। जनता दल अपनी सरकार की हत्या करने के लिए स्वयं कटिबद्ध था। यदि 27 अप्रैल को वह विधान सभा में बहुमत सिद्ध भी कर देता तो भी उसकी सरकार बचने वाली नहीं थी। कर्नाटक की राजनीति का सच यह है कि जनता दल ने अपनी सरकार का अपने हाथों खून किया किन्तु राजीव की राजनीतिक जल्दबाजी ने उन्हें राजनीतिक और सांविधानिक अपराध के कटघरे में खड़ा कर दिया और वह गलत भी नहीं था।

गुनहगारों का जमावड़ा

जिस बहुमत की समाप्ति का बहाना बना कर राज्यपाल ने कर्नाटक सरकार को भंग कर देने की सिफारिश की वह बहुमत वस्तुतः समाप्त नहीं हुआ था। जनता दल के विद्रोही विधायकों ने राज्यपाल को मात्र यह लिखकर दिया था कि उन्हें अब अपने नेता (मुख्यमंत्री बोम्मई) पर विश्वास नहीं रहा है। उन विधायकों ने जनता दल से त्यागपत्र नहीं दिया था। यदि उन्होंने जनता दल से अपना त्याग पत्र देकर मुख्यमंत्री के प्रति अविश्वास व्यक्त किया होता तो राज्यपाल को दल बदल कानून की प्रक्रिया का पालन करना पड़ता, उन विधायकों की सदस्यता समाप्त हो जाती और उन्हें बोम्मई सरकार का यथास्थिति में सदन में बहुमत बना रहता। जनता दल की सरकार ने बहुमत का समर्थन नहीं खोया था। विद्रोही विधायक अपनी सरकार के नहीं, व्यक्ति विशेष के विरुद्ध थे। राज्यपाल यदि मुख्यमंत्री बोम्मई से यह पूछ लेते कि क्या विद्रोही विधायकों ने जनता दल का त्याग कर दिया है तो स्थिति स्पष्ट हो जाती और बहुमत का मामला विधानसभा के फर्श पर तय हो जाता।

यदि ऐसा किया जाता तो सांविधानिक प्रक्रिया भी न टूटती और जनता दल की सरकार सदन के पटल पर सिर पटक कर स्वयं मर जाती। क्योंकि चन्द्रशेखर, हेगड़े, दण्डवते, अज़ीतसिंह जैसे नेता उसकी हत्या करने पर उतारू थे और विश्वनाथ प्रताप सिंह जैसे अनिर्णय का बंदी, उसका कमजोर अध्यक्ष केवल तमाशबीन था। इससे बड़ी राजनीतिक विडम्बना और क्या हो सकती है कि किसी दल की सरकार मर रही हो और उसका नेता स्थितप्रज्ञ और राजनीतिक इच्छा शक्ति शून्य सा बैठा रहे ?

कर्नाटक की घटना ने इंका की राजनीतिक चालबाजी पर ही नहीं विश्वनाथ प्रताप सिंह की राजनीतिक क्षमता पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया है कि जो व्यक्ति अपने दल के आन्तरिक मामलों को नहीं सुलझा सकता, जो दल संबंधी फैसला करने से भी कतराता और अनिर्णय का बंदी है, जो अपने दल के नेताओं की गुटबाजी, राजनीतिक अवसरवादिता, भ्रष्टाचार और फिरकापरस्ती पर अंकुश नहीं लगा सकता, वह देश को नई राजनीतिक व्यवस्था और विकल्प कैस देगा ? लोगों के मन में यह प्रश्न उठने लगा है कि यदि विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में भी यही सब होना है तो लोग राजीव की इंदिरा कांग्रेस को ही क्यों न अपनाएं। उसकी राजनीतिक अवसरवादिता, भ्रष्टाचार, फिरकापरस्ती और राजनीतिक व्यापार का आयाम विश्वनाथ प्रताप सिंह के जनता दल से बहुत बड़ा है। इंदिरा कांग्रेस की राजनीतिक संस्कृति का जो विकल्प जनता दल के विश्वनाथ प्रताप सिंह प्रस्तुत कर रहे हैं वह मात्र इंका का लघु संस्करण है। उन पर भी हाजी मस्तानों का धन लेने और शहाबुद्दीनों की फिरकापरस्ती का बंदी होने का आरोप है। वे यह चुनौती मिलने के बाद भी चुप हैं। इस आरोप का खण्डन नहीं करते। उन्हें बोफर्स, पनडुब्बी, हैलाकाप्टर, फेयरफैक्स, और ठक्कर आयोग में राजीव का भ्रष्टाचार और उनकी खूनी राजनीति तो दिखाई देती है किन्तु अपने दल के हेगड़े और दूसरे साथियों के राजनीतिक चरित्र और भ्रष्टाचार पर आंख नहीं उठाते। वे जनता दल के समर्थक भीष्मपितामह जैसे वयोवृद्ध राजनीतिक निजलिंगप्पा की इस प्रतिक्रिया का प्रत्युत्तर नहीं दे पाते कि 'कर्नाटक की जनता इस सरकार की मौत पर आंसू बहाने की आवश्यकता नहीं है। इस सरकार को तो एक वर्ष पहले ही समाप्त कर देना चाहिए था।' श्रीरामकृष्ण हेगड़े ने स्वयं आरोप लगाया है कि 'कर्नाटक की जनता सरकार के पतन के लिए दल के ही शिखर नेता जिम्मेदार हैं ?' कौन हैं वे शिखरस्थ नेता ? क्यों चौबीस घंटे का अनशन करके राजनीतिक प्रायश्चित किया हेगड़े ने ? जनता दल के प्रत्येक नेता और कार्यकर्ता ने अपने-अपने स्तर पर एक दूसरे की ओर राजनीतिक बंदूक तान रखी है। लोगों को अब जनता दल राजनीतिक गुनाहगारों का जमावड़ा जैसा दिखाई देने लगा है। विश्वनाथ प्रताप सिंह 'मैं तुमसे पवित्र हूं' वाली मानसिकता से पूरी तरह ग्रस्त हैं। उन्होंने आत्मालोचन और आत्मचिन्तन की प्रक्रिया को भी तिलांजलि दे दी है। जो व्यक्ति देश को चलाने आया था वह एक दल भी नहीं चला पा रहा है और जो व्यक्ति समय पर दलीय समस्याओं को नहीं सुलझा सकता वह देश की जटिलताओं को कैसे सुलझाएगा ?

कर्नाटक काण्ड के संदर्भ में जनता दल और उसके नेतृत्व की क्षमता और दोमुंहेपन को लेकर सवाल पूछे जा रहे हैं तो राजीव की इंदिरा कांग्रेस के राजनीतिक चरित्र, दोमुंहेपन और सांविधानिक पाखण्ड पर भी प्रश्नों का प्रहार स्वाभाविक रूप से किया जा रहा है। यदि भ्रष्टाचार के आरोप के कारण कर्नाटक की बोम्मई सरकार को भंग किया जा सकता है, आंध्र के रामाराव, हरियाणा के देवीलाल, बंगाल के ज्योति

बसु, केरल के नयनार, तमिलनाडु के करुणानिधि से इंदिरा कांग्रेसी त्यागपत्र मांगते हैं तो इसी तरह के आरोप से घिरे बोफर्स, हैलीकोप्टर, पनडुब्बी, सौदों में दलाली खाने, ठक्कर आयोग की रपट को छिपाने, तस्करों कालेबाजारियों और संदिग्ध देशी-विदेशी एजेन्टों से घिरे राजीव गांधी त्यागपत्र क्यों नहीं देते ? यदि आर्थिक दिवालियेपन के कारण कर्नाटक सरकार को हटाया जाना उचित है था तो हजारों करोड़ रुपये के देशी-विदेशी कर्ज आठ हजार करोड़ रुपये के आयात-निर्यात घाटे, 1989 के बजट के बाद छः प्रतिशत मूल्य वृद्धि के पाटे के बीच देशवासियों को पीसने वाली राजीव की। इंदिरा कांग्रेस की सरकार को क्यों बने रहना चाहिए ? केन्द्र की राजीव सरकार ने तो देश को इस कदर वित्तीय जाल में फंसा दिया है कि सरकार विदेशी और देशी कर्ज का ब्याज देने के लिए भी कर्ज लेने की स्थिति में आ गई है। ऋण का भुगतान का प्रश्न पूरी तरह बेमानी हो गया है ? यदि विधायकों के विद्रोह और राजभवन में उनकी हाजिरी को कर्नाटक की जनता दल सराकर को भंग करने का आधार बनाया जा सकता है तो बिहार, उड़ीसा, राजस्थान और गुजरात की इंदिरा कांग्रेसी सरकारों पर राजीव की केन्द्रीय सरकार यही नियम लागू क्यों नहीं करती ? बिहार के इंकाई विधायकों ने तो विधानसभा तक का बहिष्कार कर दिया था और वहां की सरकार बजट भी पास नहीं करा पाई थी।

गुजरात, उड़ीसा और राजस्थान के इंकाई विधायक आए दिन दिल्ली में डेरा डाले रहते हैं कि उन्हें अमरसिंह चौधरी, जानकी वल्लभ पटनायक और शिवचरण माथुर पर विश्वास नहीं है। तो फिर इसे विधानसभा में इंकाई अल्पमत मानकर राज्यपाल महोदय वहां की सरकारों को भंग किए जाने की सिफारिश क्यों नहीं करते? यदि विश्वनाथ प्रताप सिंह अयोध्या में तथाकथित बाबारी मस्जिद का समर्थन करके हाजी मस्तानों, शहाबुद्दीनों और अब्दुल्ला बुखारी का तथा रामजन्म भूमि का पक्ष लेने का आश्वासन देकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद, रामजन्मभूमि मुक्ति समिति और भाजपा का इलाहाबाद के अपने उपचुनाव में समर्थन प्राप्त करने के दोमुंहेपन के दोषी हैं तो मिजोरम को ईसाई राज्य बनाने की घोषणा करने, जम्मू कश्मीर को मुस्लिम कट्टर पंथियों का गुलाम बना देने, रामजन्म भूमि के प्रश्न पर हिन्दुओं और मुसलमानों से अलग अलग परस्पर विरोधी बातें करने, मुस्लिम लीगियों को प्रश्रय देने, पंजाब में सिखों के विरुद्ध हिन्दू भावना भड़काने और सेकुलरिज्म के पक्षधर होने का दावा करने के दोमुंहेपन से राजीव भी तो पीड़ित हैं।

किसके संस्कार

विश्वनाथ प्रताप सिंह पर राजीव और उनके गृहमंत्री बूटासिंह विश्वासघात और दोमुंही राजनीति करने का आरोप लगाते हैं तो वे यह क्यों नहीं बताते कि विश्वनाथ प्रताप सिंह किस राजनीति संस्कृति की उपज है ? उनका राजनीतिक संस्कार किसने

किया है ? लतमरुआ और लीचड़ ही क्यों न हो विश्वनाथ प्रताप सिंह इंदिरा कांग्रेस के ही राजनीतिक अखाड़े के पहलवान हैं। वे और उनके साथी इंकाई दांव से इंकाई राजनीति का जवाब देते हैं तो राजीव और उनके साथी उन पर राजनीतिक जीवन का अवमूल्यन करने का आरोप क्यों लगाते हैं ? जो राजनीतिक प्रक्रिया और संस्कृति इंका में उचित है वह जनता दल में अनुबंधित कैसे हो गई ? किसी व्यक्ति या दल का पाप किसी दूसरे दल को पाप करने की अनुमति और औचित्य प्रदान नहीं करता। इंदिरा कांग्रेसियों का राजनीतिक पाप और भ्रष्टाचार न जनता दल को राजनीतिक अपराध और भ्रष्टाचार को औचित्य प्रदान करता है और न जनता दल का पाप इंदिरा कांग्रेस को।

राजनीतिक पाप पंक में फंसे दलों और व्यक्तियों को एक दूसरे पर कीचड़ उछालने और अपने कर्म कुकर्म का औचित्य सिद्ध करने के पूर्व अपने-अपने पैरों के नीचे की जमीन की सच्चाई को भली भांति देख लेना चाहिए कि वे कहां खड़े हैं ? यदि इंका और जनता दल को अपनी-अपनी जमीन और अपने-अपने राजनीतिक चरित्र का अहसास होता तो जो कर्नाटक में हुआ वह न होता और जो कुछ संसद में बोला गया वह ना बोला जाता। कांग्रेसी नेतृत्व जांच आयोगों की रपट और गुप्त फाइलों का भय दिखाकर अपने राष्ट्रपतियों, मंत्रियों, सहयोगियों एवं नौकरशाही का भयादोहन करता है। उन्हें पाप का पक्ष लेना पड़ता है। जिस राज्यपाल की रपट को सच मानकर कर्नाटक की जनप्रतिनिधि सरकार को राजीव ने राष्ट्रपति जी से भंग करवा दिया उसी राज्यपाल के विरुद्ध अपने दल के लोगों की तथ्यपरक दलील मानकर उसे अपदस्थ क्यो नहीं कर दिया ? इंकाई व्यवहार से क्षुब्ध होकर उसी राज्यपाल द्वारा त्यागपत्र दे दिये जाने के समाचार का राजीव सरकार ने अभी तक खण्डन नहीं किया और यह समाचार अब संसद की कार्रवाई का हिस्सा भी बन चुका है।

लोकतांत्रिक समस्याओं को खिलौना बनाकर खेलने से लोकतंत्र नहीं चलता है लोकतंत्र मिथ्याचार का निषेध करता है दलीय स्वार्थ साधन लोकतांत्रिक प्रक्रिया को तोड़ता है। भ्रष्टाचार को प्रश्रय देता है। जन प्रतिनिधियों के गले में उनकी कीमत की तख्ती टांग देता है। जनता के नाम पर, जनता के लिए, जनप्रतिनिधियों द्वारा चलाए जाने वाला शासनतंत्र का दास बन जाता है। गत 42 वर्षों में भारतीय लोकतंत्र कदम-कदम इसी दिशा में बढ़ता जा रहा है। कर्नाटक की घटना इसकी मंजिल नहीं, इस पाप-पूर्ण राजनीतिक यात्रा का एक पड़ाव मात्र है। यदि यह प्रक्रिया इसी तरह अपने कदम आगे बढ़ाती रही तो इसका अंतिम पड़ाव होगा लोकतांत्रिक मान्यताओं का ध्वंस और अराजकता। तब कोई किसी को बचाने वाला नहीं बचेगा। क्योंकि तब तक सभी कुछ न कुछ, कोई न कोई अपराध कर चुके होंगे और ईसामसीह के इस सवाल के जवाब पर सबका सिर झुका होगा कि 'इन पापियों पर पहला पत्थर वह मारे जिसने कोई पाप न किया हो।'

14 मई 1989

राजनीतिक अस्थिरता का मूल कारण

देश में राजनीतिक अस्थिरता अराजकता की ओर बढ़ रही है। विरोधी राजनीतिक दल क्षणजीवी हो गए हैं। इंदिरा कांग्रेस और अधिकांश विरोधी दलों में कोई अन्तर नहीं रहा है। जो दल अपवाद हैं उन्हें राजनीतिक परिदृश्य के हाशिये परप रखकर देखा जा रहा है। ये अपवाद दो प्रकार के हैं :—एक, कम्युनिस्ट या वामपंथी खेमा, दूसरा, भाजपा या राष्ट्रीय मार्ग। ये दोनों दो विपरीत बिन्दु पर खड़े हैं। इनका कभी न मिल पाने वाले अलग अलग छोर पर खड़े होना सहज और स्वाभाविक है। यदि राष्ट्रीय, अराष्ट्रीय, स्वदेशी, विदंशी विचार, अवधारणा और दर्शन एकात्म और समरूप हो सकते होते तो ही भाजपा ओर कम्युनिस्टों का भी कोई मिलन बिन्दु बन सकता था। इसके अतिरिक्त एक बात और है कि तय नहीं हो पा रहा है कि भाजपा और वाममार्गियों के बीच चल रहा शीतयुद्ध कितना असली और कितना अवसरवादी, कितना सत्ता सापेक्ष और कितना किसी बाहय प्रेरणा से प्रेरित है। इस सबके निर्धारण में भाजपा निर्णायक स्थिति में है। विह किसी विदेशी बैसाखी पर टंगी राजनीति ओर किसी आयातित असफल राजनीतिक आर्थिक दर्शन से देश की केन्द्रीय राजनीति में प्रवेश करने की पक्षधर नहीं है। वह भारत में अफगानिस्तान को कोई बाबरक करमाल पैदा नहीं होने देना चाहती कि किसी दिन अवसर देखकर वह अपने विदेशी अभिभावकों को भारत की रक्षा करने के नाम पर निमंत्रण देकर यहां की संप्रभुता और संस्कृति उसे सौंप दे और भारत की सत्ता और जनता उसके संकेत पर नृत्य करने को बाध्य हो जाए।

एकमेव जिम्मेवार

वामभार्गियों और भाजपा के बीच का विवाद भी राजनीतिक अस्थिरता और स्थिरता, स्वदेशी और विदेशी मन के साथ जुड़ा है। इंदिरा कांग्रेस के शासन को राजनीतिक स्थिरता का प्रमाण मानने की भूल न की जाय। देश को आज की स्थिति में लाने में यदि किसी को एकमेव जिम्मेवार मानना हो तो इंदिरा कांग्रेस को माना जा सकता है। अस्थिरता, अराजकता और आतंक उसकी राजनीतिक शक्ति है। वह स्वयं, अपने दल एवं सरकार को भी स्थिर नहीं रहने देती। केन्द्रीय मंत्रिमंडल के सदस्य हों या राज्यों के मुख्यमंत्री, सभी अस्थिर हैं। कोई भी मंत्री या मुख्यमंत्री अपना

कार्यकाल पूरा नहीं कर पाता। किसी पारिवारिक व्यावसायिक प्रतिष्ठान के मालिक की तरह यदि यहां कोई स्थिर है, सुनिश्चित है तो वह एक व्यक्ति राजीव है। शेष लोगों की स्थिरता को वह अपने व्यावसायिक सत्ता प्रतिष्ठान के लिए खतरा समझता है।

लेकिन केवल इंदिरा कांग्रेस या राजीव को दोषी ठहरा कर अस्थिरता के कारणों की तलाश की मंजिल पर नहीं पहुंचा जा सकता। विरोधी दल भी निषेध, बहिष्कार और बेदखली की राजनीति से मुक्त नहीं हैं। विश्वनाथ प्रताप सिंह इंदिरा कांग्रेस और सरकार से निकाले गए तो देशवासियों ने उनकी ओर बड़ी ही आशा भरी दृष्टि से देखा। उन्हें मूल्याधिष्ठित और परिवर्तन की राजनीति करने वाला अवतारी पुरुष माना गया, किन्तु जो विश्वनाथ प्रताप सिंह नई व्यवस्था देने विकल्प प्रदान करने और देश चलाने आए थे वे एक दल भी नहीं चला पा रहे हैं। उनका जनता दल बहिष्कार और बेदखल के संकट से ग्रस्त हैं। उनके दल के लोग उनसे त्यागपत्र की मांग करने लगे हैं। वहां प्रत्येक व्यक्ति, प्रतयेक गुट, प्रत्येक घटक एक दूसरे का विरोध करता है। चन्द्रशेखर विश्वनाथ प्रताप सिंह को बेदखल करने की कोशिश करते रहे हैं तो रामकृष्ण हेगड़े चन्द्रशेखर का विरोध करने लगते हैं। अजीत सिंह देवीलाल को और देवीलाल अजीत सिंह को पार्टी से निकाल देने के हर संभव प्रयास में रत रहते हैं। यह प्रक्रिया केन्द्रीय नेतृत्व से लेकर राज्यों तक में चल रही है। इसी विरोध और बहिष्कार वृत्ति ने जनता दल की कर्नाटक सरकार को कूड़ेदान में फेंका। इसी कारण जनता दल व्यक्तिवाद से लेकर घटकवाद तक से पीड़ित है। व्यक्तिवाद महत्वाकांक्षा में से जन्मी बेदखली की इस राजनीतिक मानसिकता ने जनता दल को दल बनने नहीं दिया, विरोधी दलों की विश्वसनीयता और विकल्प की संभावनाओं को निर्णायक आघात पहुंचाया है।

बात केवल व्यक्ति या दल की नहीं है, बात है देश में संभावित राजनीतिक अस्थिरताजन्य अराजकता की। इस प्रश्न का उत्तर खोजा जाना चाहिए कि यदि भारतीय लोकतंत्र मजबूत हो रहा है या लोकतंत्र ने अपनी जड़ें गहरी जमा ली हैं तो फिर राजनीतिक अस्थिरता क्यों है ? विकल्प का अभाव क्यों है ? वे कौन से तत्व हैं जिनका अस्थिरता बनाए रखने में निहित स्वार्थ है ? यदि हम स्थिरता के तत्वों की तलाश कर लें तो प्रश्नों का उत्तर हमें सहज रूप से मिल सकता है।

प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक पिण्ड होता है। उस पिण्ड से जुड़ा हुआ और उसके आसपास वहां का जीवन चलता है। उसमें से ही उसी संस्कृति बनती है। परंपराएं उपजती हैं। व्यवस्था जन्मती हैं। वही पिण्ड संकटकाल में देशवासियों को शक्ति प्रदान करता है। वही उसका इतिहास होता है। वही उसके भूगोल को बनाता और बिगाड़ता है। जब तक देशवासी अपने मूल पिण्ड से जुड़े रहते हैं तब तक उसके प्रति उनकी निष्ठा असंदिग्ध रहती है, तब तक युगधर्मानुकूल गतिशील स्थायित्व का सृजन सहज रूप से स्वतः होता रहता है। भारत की विडम्बना यहीं से प्रारंभ होती है। गत

हजार बारह सौ वर्षों से इसे इसके मूल पिण्ड से काटने का हर संभव प्रयास चल रहा है। यहां की संस्कृति, सभ्यता, संस्कार, दर्शन और व्यवस्था की निषेध प्रक्रिया तब से अब तक अबाध गति से चली आ रही है। यदि भारतीय जीवन धारा का प्रवाह अति प्रबल न होता, यदि यहां की राष्ट्रीय संस्कृति सबल न होती तो अब तक भारत भी यूनान ओर रोम की तरह अपना सब कुछ गंवा कर भूगोल पर तो बना रहता किन्तु दर्शन और संस्कृति, राष्ट्र और समाज के रूप में समाप्त हो गया होता।

भारत को उसके मूल पिण्ड से काटने का जो कार्य गत बारह सौ वर्षों से चला आ रहा था आजादी के आन्दोलन के समय और आजादी के बाद भी वह चलता आ रहा है। राष्ट्र और राष्ट्रीयता की गलत अवधारणा, राजनीति और सत्ता की प्रदूषित संकल्पना, गुमराह करने वाला इतिहास बोध, धर्म और मजहब का घालमेल,यहां की संगमनी संस्कृति को मिली जुली संस्कृति मानने की तथाकथित प्रगतिशीलता, क्षेत्रीय, भाषाई और रीति रिवाज की विविधता को अलग-अलग राष्ट्रीयता और अलग-अलग संस्कृति मान लेने की नादानी, राष्ट्रीय समाज को पहले मुस्लिम और गैर मुस्लिम फिर अल्पसंख्यक बहुसंख्यक में बांटने की दुर्बुद्धि, मजहबी तुष्टीकरण और खुशमद सत्ता के लोभ में एक भारत को दो राष्ट्रों में मजहब के आधार पर भौगालिक विभाजन करके सतत बिखराव और विभाजन का बीजारोपण इस राष्ट्र के मूलपिण्ड के विरुद्ध है। यह भारत की सम्प्रदाय निरपेक्ष सर्वधर्मसमभावी राष्ट्रीयता और संस्कृति के मूल पिण्ड पर प्रहार करती है तो अस्थिरताजन्य अराजकता की आग की चिन्गारियां फूटने लगती हैं। यही इस देश को एक महिमामय राष्ट्र की जगह एक ऐसी सराय बना देता है जहां की आबादी में केवल मुसाफिर होते हैं ओर मौका पाकर वे उस सराय के मालिक होने का दावा केवल इस आधार पर करना चाहते हैं कि उसमें पहले घुसा कौन ? पहले किस ने कमरा लिया ? इस धक्कापेल में वे यह जानने की भी जरूरत नहीं समझते कि आखिर इस सराय को बनाया किसने ? इसी प्राण पिण्ड पर प्रहार करने के लिए अंग्रेजों ने यह प्रचार किया कि 'यहां जो आदिवासी हैं वे जंगली हैं, जो सभ्य हैं वे 'आर्य' बाहर से आए और क्योंकि यह देश बाहर से आने वालों का देश है इसलिए यहां कोई विशिष्ट नहीं है।' अंग्रेजों ने भारत के मूल पिण्ड को इतना संदिग्ध और अस्थिर बना दिया है कि आज भारत का पढ़ा लिखा और तथाकथित सभ्य व्यक्ति इस सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि आर्य बाहर से नहीं आए और भारत में आर्य नाम की कोई जाति कभी नहीं रही। यह शब्द जाति नहीं, गुणवाचक है।

विभाजन का तोरणद्वार

भारत का मूल पिण्ड अस्थिर हुआ तो उसके जीवन के प्रत्येक पक्ष का अस्थिर होना स्वाभाविक था। राजनीति से लेकर अर्थव्यवस्था, संस्कृति, समाज, शिक्षा,

साहित्य, दर्शन, प्रेरणा प्रतीक और पुरुष सब कुछ अस्थिर हो गया और देश तथाकथित आधुनिकता के प्रवाह में कटे हुए निर्मूल वृक्ष की तरह बहने लगा। सिद्धान्त, नीति, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं की आधार भूमि इतनी भुरभुरी हो गई है कि उस पर टिक पाना असंभव की सीमा तक कठिन हो गया है। जब सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएं, सिद्धान्त, नीति और नैतिकता विहीन हो जाती है तो राष्ट्र धर्म की मान्यताएं बदल जाती हैं। तब राष्ट्र श्रद्धा की नहीं, भोग की वस्तु बन जाता है। राष्ट्र की आराधना और पुनर्निर्माण का साधन नहीं, साध्य बन जाती है। तब किसी भी राजपुरुष या उसके समर्थकों के लिए सिद्धान्त, परंपराएं और मान्यताएं निरर्थक हो जाती हैं। इसके लिए सार्थक होता है केवल उनका स्वार्थ, उनकी सत्तासुख भोग करने की लालसा। इसी में से क्षेत्रीय ओर भाषाई अस्मिता का अभिमान उभरता है। इसी की पैदाइश है खुशामद और तुष्टिकरण की नीति, यह किसी भी राजनेता को अपना दल तोड़ने, उनका विलय या विसर्जन करने, राजनीतिक पाला बदलने में शर्म का अनुभव नहीं होने देता। इसी कारण कोई 'रामनेरश यादव कभी समाजवादी होता है, कभी जनता दली और कभी कांग्रेसी।

रामनरेश यादवों की यह परंपरा सत्तास्वार्थ की पूर्ति को 'घर वापसी' का सैद्धान्तिक जामा तो पहनाती है। किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देने से कतरा जाती है कि आखिर रामनरेश यादव, प्रणव मुखर्जी, चन्द्रजीत यादव, भजनलाल, हरद्वारी लाल, हेमवंती नंदन बहुगुणा, कमला बहुगुणा, बुद्धप्रिय मौर्य, अशोक सेन, विद्याचरण शुक्ल, देवगौड़ा, सुब्रह्मण्यम स्वामी आदि अपना घर छोड़ते फिर घर वापस आते क्यों हैं ? वाममार्गी दल भारत की राष्ट्रीयता पर प्रहार क्यों करते हैं ? कांग्रसी क्यों अलगाववादियों का तुष्टीकरण करके देश के विभाजन का महापाप करते हैं ?

क्यों भाजपा पर विश्वनाथ प्रताप सिंह से लेकर नम्बूदिरीपाद और राजीव के दरबारी तक सभी संयुक्त प्रहार करते हैं। केवल इसलिए कि भाजपा भारत के प्राण पिण्ड पर अपना शरीर न्यौछावर किए हुए है और अस्थिरतावादियों का राजनीतिक गदा प्रहार उस पिण्ड पर निर्णायक चोट कर पाने में सफल नहीं हो पा रहा है। सब कुछ अस्थिर करके स्थिर करने और सब कुछ तोड़कर जोड़ने की सोच, एकता एकात्मता, गतिशील स्थायित्व और युगाधर्मानुकूल व्यवस्था का शत्रु है। कम्युनिस्टों, कांग्रेसियों और जनता दल वालों की राजनीति का उत्स है अराजकता, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा और राजनीतिक लेन देन। इनमें से किसी में भी स्थिरता का अंश नहीं है। उनकी राजनीति केवल चुनावी राजनीति का गणित है, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का दर्शन नहीं है। गतिशील राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए राजनीतिक चालाकी नहीं, राष्ट्रीय श्रद्धा और स्थायी भाव आवश्यक हैं।

अपने इस विश्लेषण को मैं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनुभूति को उद्धृत करके विराम देना चाहूंगा कि देश मनुष्य की सृष्टि है। देश मृण्मय नहीं, चिन्मय है। मनुष्य यदि प्रकाशमान हो, तभी देश प्रकाशित होता है। सुजला सुफला मलयज शीतला भूमि की बात जितने ही उच्च कण्ठ से रटी जाएगी उसकी जवाबदेही उतनी ही बढ़ेगी। मनुष्य के हाथ में देश का पानी यदि सूख जाय फल अगर मर जाय,, मलयज अगर महामारी के कीटाणुओं से भर जाय, फसल की जमीन अगर बांझ हो जाये तो देश की लज्जा को ढका नहीं जा सकेगा। देश मिट्टी से नहीं, मनुष्यों से बनता है, इसी से देश अपनी ही सत्ता को प्रमाणित करने के लिए उनकी बाट जोहता है जो किसी साधना में सफल हैं। वे न भी हों तो पेड़ पौधे, जीव जन्तु पैदा होते ही हैं, वर्षा होती ही है, नदी बहती ही है। लेकिन देश मरुभूमि कीतरह बालु में ढका रहता है। जिस दिन देश किसी मनुष्य को आनंद के साथ अंगीकार करता है उसी दिन मिट्टी की गोद से निकल कर देश की गोद में उस मनुष्य का जन्म होता है।

और यही मिट्टी की गोद से निकल कर देश की गोद में जन्म लेना वह स्थायी भाव है। भारत के तमाम राजनीतिक दल जिसका निषेध करके अस्थिरता का पोषण करते हैं। स्वयं तो देश की गोद में जन्म लेने से कतराते ही हैं, मनुष्य को भी देश की गोद से, जन्म लेने से, गोद में बैठने से रोकते, बाधक बनते और गुमराह करते हैं। जिस देश का स्थायी भाव ही अस्थिर है वहां राजनीतिक स्थिरता की आशा मात्र दुराशा है। जिस देश का राष्ट्रीय चिन्तन जितना सतही होता है वहां उतने ही बौने नेता पैदा होते हैं। इसी कारण देश, दल और सबका निषेध सबका बहिष्कार और सबको बेदखल करने की प्रतितद्वन्द्विता प्रबल रूप से चल पड़ी है। अतएव स्थायित्व के लिए आवश्यक है कि पहले हमारे हृदय की भूमि पर देश जन्मे और फिर हम देश की कोख से जन्म लेकर उसकी गोद में बैठें। इस प्रक्रिया को रोकने, इस प्रेरणा पर प्रहार करने वाले दल, नेता और विचार इस देश में अस्थिरता, अलगाव और अराजकता की अगवानी करनेवाले तत्व हैं। राजनीतिक अस्थिरता के कारणों और स्थायित्व की तलाश इस गलियारे से गुजर कर की जाएगी तो ही मंजिल तक पहुंचा जा सकेगा। प्रकाशित देश के लिए चाहिए प्रकाशवान मनुष्य, ऐसा मनुष्य जो घने अंधकार में भी अपने देश के हित को साफ साफ देख लें और अधिकारपूर्वक अहित को नकार दें।

21 मई 1989

एक और राजनीतिक धोखेबाजी

'सत्ता जनता को' का नारा लगाकर, पंचायतों को सर्वाधिक कवच की सुरक्षा प्रदान करके सत्तारूढ़ इंदिरा कांग्रेस के अध्यक्ष प्रधानमंत्री, पार्टी के नेता, और प्रसार माध्यम—सभी ने यह आंधी चला रखी है कि जैसे इंदिरा कांग्रेसियों, राजीव और उनके दरबारियों के अतिरिक्त अन्य सभी लोग ग्राम पंचायतों को अधिकार दिये जाने के विरुद्ध हैं। ग्राम पंचायतों के संदर्भ में 'सत्ता जनता को' के अंधाधुंध एक पक्षीय प्रचार ने विरोधी दलों को राजनीतिक हाशिये पर पटक दिया है। कर्नाटक से जनता दल की कौरवी कलह के बाद विरोधी दलों के पांव लड़खड़ाए तो पंचायतों को सांविधानिक अधिकार दिये जाने का पासा फेंककर सत्तारूढ़ दल ने पूरी जमीन हथिया लेने की बिसात बिछा दी।

इरादों में खोट

बिसात चाहे जितनी चतुराई से बिछाई गई हो, इरादा और उद्देश्य पंचायतों को अधिकार देकर, उन्हें आत्मनिर्भर बनाकर सत्ता का जनता के हाथों सौंपे जाने का नहीं है। मानसून सत्र में संविधान में संशोधन करके, राज्य सरकारों से विधेयक पास कराकर पंचायतों को नया स्वरूप और नया अधिकार देने के लिए समय ही नहीं है। यदि समय पर चुनाव कराए जाने हैं तो दिसंबर में लोकसभा के आम चुनाव होने हैं तब तक पंचायतों के चुनाव और उनके गठन की व्यापक प्रक्रिया को पूरा कर पाना कठिन होगा। हां, 'सत्ता जनता को' नारे के आधार पर ग्रमवासियों को भरमाया अवश्य जा सकता है कि राजीव जीते तो गांववासियों को अपना शासन चलाने का अधिकार प्राप्त हो जाएगा ?

'नई बहुरिया करेला मां झोल' वाली बात है। सुने हुए जनतांत्रिक शब्दों के अवसरवादी प्रयोग का यह ताजा नमूना है। बहू जी को यदि रसदार सब्जी ही बनानी आती है तो वह क्या करे बेचारी ? करेले की सब्जी का भी झोल बनाकर खुश होती है कि उसने एक नया प्रयोग कर लिया है। राजीव का पंचायती राज्य 'करेले का झोल' बनाने जैसा काम हैं।

बिगड़ी बनाने का 'उपकार'

जहां नक्कारे (युद्ध के) बजते हैं वहां कानून कायदे चुप हो जाते हैं। इस समय

राजीव का पंचायती राज का नक्कारा बहुत जोर से बज रहा है। जैसे यह उनकी अपनी मौलिक खोज है। 27 जनवरी, 1989 को उत्तर पश्चिमी राज्यों के पंचायती राज्य सम्मेलन में राजीव ने कहा था कि 'ये वायदे आजादी की लड़ाई के दौरान किए गए थे। इन्हें हमारे संविधान में शामिल किया गया। लेकिन किसी ने भी इसे कारगर ढंग से लागू नहीं किया। जो लोग चोटी पर थे, वे राजनीति और प्रशासन में अपनी स्थिति मजबूत बनाने में ही लगे थे, और उन्होंने संघीय संस्थाओं की पूर्णतः उपेक्षा की। जब भी पंचायतों के चुनाव हुए वे नाम भर को हुए और पिछले बारह तेरह वर्षों में इन संस्थाओं—पंचायतों को नामजद किए लोग चला ही रहे हैं। इससे आधार स्तर पर, बुनियाद पर मजबूती नहीं आएगी।' राजीव का यह कथन रूस के ख्रुश्चेव और गोर्बाचोव की तर्ज और तरीके का ही है जो अपने पूर्व शासकों को कटघरे में खड़ा करके बिगड़ी का 'उपकार' भावना से भाषण करते घूमते हैं। और जब वायदा खिलाफी हो रही थी, लोकतांत्रिक संस्थाओं का दमन किया जा रहा था तो ये सभी लोग देश के हित में ताली बजा रहे थे। कहते थे गांव की मूर्ख जनता के हाथ में सत्ता सौंपना बंदर के हाथ में उस्तरा देने जैसा होगा। कांग्रेस कुल की कल्पना का लोकतंत्र 'दिन में ब्रहमचारी और रात में व्यभिचारी' जैसा है। बात लोकतंत्र की मजबूती की करना और काम उसको एक एक पोवं को कमजोर करते हुए धीरे-धीरे अपने हित में सत्ता की दराती से उसे काटते रहना।

जो कुछ पंचायतों के लिए किया जा रहा है इससे भी अधिक स्पष्ट बात 1952 में भारतीय जनसंघ ने कही थी। 1952 से लेकर 1972 तक के सभी घोषणापत्रों और अखिल भारतीय सम्मेलनों में पारित किए गए प्रस्तावों में भारतीय जनसंघ ने जो कुछ कहा है यदि वह तब के जवाहर लाल और इंदिरा ने उस ओर ध्यान दिया होता और आज के राजीव ने उसे पढ़ा होता तो 'पंचाचती राज' की व्यवस्था को चुनाव के दल दल में न फंसा कर जनसंघ के उन प्रस्तावों और घोषणाओं को साभार स्वीकार करते। उसमें आवश्यक परिवर्तन करके पंचायती राज्यव्यवस्था को एक दल विशेष का 'बच्चा' न बनाकर उसमें सभी दलों और विशिष्ट जनों का आवश्यक योगदान लेकर पंचायतों को दलीय राजनीतिक हिताहित से मुक्त रखते।

1952 में अपने प्रथम कानपुर अधिवेशन में भारतीय जनसंघ ने पंचायतों और स्थानीय निकायों को स्वतंत्र इकाई के रूप में गठित किए जाने की मांग की थी। राज्य पुनर्गठन आयोग के प्रस्तावित प्रतिवेदन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए 19 फरवरी 1954 की जनसंध ने कहा था कि 'स्थानीय निकायों को संविधान के अन्तर्गत शक्ति दी जाए। 19 अगस्त, 1954 को फिर कहा था कि 'जनसंघ ग्राम पंचायतों की ग्राम जीवन का केन्द्र और शासन का आधार बनाएगा ? पंचायतों को भूमिकर में से एक निश्चित धनराशि पाने का अधिकार होगा जिससे ये अपने दायित्वों का भलो भांतिं पालन कर सकें।' 1957 के अपने घोषणापत्र में सत्ता का विकेन्द्रीकरण

उपशीर्षक के अन्तर्गत इस कल्पना को और अधिक स्पष्ट किया—'जनसंघ जनतंत्र में विश्वास करता है। प्रत्येक जन को शासन में भागीदार बनाने के लिए वह राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण करेगा।

'ग्राम पंचायतें, नगरपालिकाएं और अन्य स्थानीय संस्थाएं, जो जनसाधारण को विकेन्द्रित शासन का अवसर प्रदान करती हैं, राष्ट्र के सर्वोच्च अधिनियम—संविधान—में अपना गौरवपूर्ण अधिकार प्राप्त करेंगी और उसी से शक्ति ग्रहण करेंगी। स्थानीय संस्थाओं के अधिकारों तथा उनके साधन स्रातों की आश्वस्ति और वृद्धि की जाएगी जिससे वे अपने दायित्वों का उचित रूप से निर्वाह कर सकें।

निचले स्तर से

'ग्राम पंचायतों को ऊपर से न लादकर जन सहयोग द्वारा नीचे से ही विकसित किया जाएगा। दलबंदी तथा जातिवाद को जो वर्तमान पंचायत व्यवस्था का सबसे बड़ा अभिशाप है, न पनपने देने के लिए पंचायत की स्थापना सर्वसम्मति से करने की प्राचीन पद्धति प्रचलित की जाएगी। निर्वाचन गुप्त मतदान से होगा। पंचायतों को भूमिकर में से निश्चित धनराशि प्रदान की जाएगी जिससे उन्हें अनुदानों पर निर्भर न रहना पड़े।'

15 अप्रैल, 1958 को अंबाला में संपन्न महाधिवेशन में जनसंघ ने ग्राम, राज्य और स्थानीय शासन पर और अधिक व्यापक स्तर पर विचार किया। अधिवेशन में पारित प्रस्ताव में कहा गया 'स्थानीय स्वायत्त संस्थाएं जनततंत्र की मूल इकाइयां हैं। इन्हें सबल और सक्षम बनाए बिना विकेन्द्रित शासन व्यवस्था का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। खेद का विषय है कि संविधान में स्वायत्त संस्थाओं को भारतीय गणराज्य की महत्वपूर्ण तथा आधारभूत इकाइयों के रूप में प्रतिष्ठित करने हेतु कोई प्रावधान नहीं किया गया है।.........पंचायतों, जनपद सभाओं, जिला परिषदों और नगरपालिकाओं आदि के बीच कार्यक्षेत्रों और उनके साधन स्रोतों को स्पष्ट अनुदानों के लिए स्थानीय संस्थाएं सदैव ही प्रान्तीय सरकारों की मुखापेक्षी रहती हैं। जहां से संस्थाएं विरोधी दलों के हाथों में होती हैं वहां शासन व्यवस्था पग-पग पर रोड़ा अटकाती और उन्हें हटाने का अवसर ढूंढा जाता है। पंजाब में हिन्दी रक्षा आंदोलन का बहाना बनाकर सरकार ने जनसंघ के अनेक सदस्यों को अकारण ही अपदस्थ कर दिया था। जबकि आंदोलन के उद्देश्यों और स्थानीय संस्थाओं के सदस्य के नाते उनके कर्तव्यों में कोई पारंपरिक संबंध नहीं था। अतएव यह आवश्यक है कि (1) स्थानीय निकायों के स्वरूप, अधिकार और साधन स्रोत संविधान द्वारा निर्धारित हों ? (2) इनके चुनाव चुनाव आयोग के निरीक्षण में आयोजित हों। (3) इन संस्थाओं को राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम का आधार बनाया जाए और समस्त विकास योजनाओं को उनसे संबद्ध किया जाए। (4) प्रान्तीय सरकारों का अनुचित हस्तक्षेप रोकने के लिए प्रचलित

अधिनियमों में आवश्यक संशोधन किये जाएं। जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि तब तक निलंबित या अपदस्थ न किये जाएं जब तक उनके विरुद्ध लगाए गए आरोप किसी न्यायालय में प्रमाणित न हो जाएं। स्वायत्त संस्थाओं का स्वरूप लोकतांत्रिक हो प्रान्तीय सरकारों द्वारा सदस्यों का मनोनयन न किया जाए।'

अपने जन्मकाल 1952 से 1954, 57, 58, 62, 67 और 72 तक जनसंघ के जितने अधिवेशन हुए, बैठकें हुईं और सत्ता के विकेन्द्रीकरण के संदर्भ में जब जब बहस हुई जनसंघ अपने उपरोक्त विचारों पर बार बार बल देता रहा और हर बार नेहरू जी से लेकर इंदिरा जी तक उस पर केन्द्रीय और प्रान्तीय सत्ता को कमजोर करने का आरोप लगाते रहे। 1957 में बाराबंकी की चुनाव सभा में नेहरू जी ने पंचायतों को बहुत अधिक अधिकार देने की बात करने वाले जनसंघ को कोसते हुए कहा था कि 'उन्हें तो लोकतंत्र की समझ ही नहीं ? गांवों की जनता को इतने अधिक अधिकार दे दिये जाएंगे तो केन्द्रीय सत्ता कमजोर होगी और देश टूट जाएगा।'

आत्मनिर्भरता

ग्राम पंचायतों को सबल और सक्षम लोकतांत्रिक इकाई बनाने की बात केन्द्रीय सत्ता और कांग्रेस ने प्रामाणिकता के साथ कभी नहीं मानी। ग्राम पंचायतों को केन्द्र राज्य सरकारों, और पार्टी की एजेंट से अधिक वे और कुछ नहीं चाहते थे। वही आज राजीव भी कर रहे हैं। संविधान में पंचायतों को स्थान देकर, नियमित चुनाव कराने, साधन और धन देने की 'सांविधानिक प्रक्रिया' संविधान के शब्दों एवं भावना के अनुरूप नहीं, सत्तारूढ़ दल की राजनीतिक सुविधा असुविधा के अनुसार चलेगी। अनुदान सीधे केन्द्र सरकार से मिलने का अर्थ है दिल्ली के बादशाह का दान। बदले में उसका गुणगान। आत्मनिर्भरता अनुदान में से नहीं, स्थानीय राजस्व का एक बड़ा अंश पंचायतों को स्वतः प्राप्त हो जाने की व्यवस्था में से आएगी।

और कई मुद्दे हैं जिन्हें कई राजनीतिक दलों, विशेषकर जनसंघ ने बहुत साफ शब्दों में कहा किन्तु उनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। दिल्ली में 10 फरवरी, 1952 और 26 दिसंबर 1958 को बंगलौर अधिवेशन में जनसंघ, ने महिलाओं, को राजनीतिक, सामाजिक सहभागिता का अवसर दिये जाने की मांग की थी और कहा था कि 'स्त्री को श्वसरु के संयुक्त परिवार का अंग मानकर सम्पत्ति में पति के साथ समान अधिकार दिया जाए।' राजीव महिलाओं का प्रतिनिधित्व बढ़ाने का शोर अब मचा रहे हैं।

आज काम के अधिकार को सांविधानिक मूलाधिकार बनाने की चर्चा चल रही है। इस बहस की पहल भी जनसंघ ने ही की थी। 19 अगस्त, 1954 इन्दौर में और फिर 1957 के अपने चुनाव घोषणा पत्र में जनसंघ ने कहा था—'भारत की सबसे बड़ी पूंजी उसका जनबल है। आर्थिक निर्माण और विकास का आधार यही जनबल

होगा। इसे जागृत करने के लिए जनसंघ प्रत्येक व्यक्ति के लिए काम की व्यवस्था कराएगा। कर्म करने का अधिकार मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। जनसंघ आजीविका के लिए कर्म करने के अधिकार को संविधान द्वारा स्वीकृत मूलभूत अधिकारों मे समाविष्ट करेगा। जिन नागरिकों के लिए काम की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी उनके उदर भरण का दायित्व शासन पर होगा। बाद के दिनों में बेरोजगारों को रोजगार न दे पाने पर 'बेरोजगारी भत्ता' देने की बात भी कही।

गांवों की बात

1955 में जोधपुर के तीसरे महाधिवेशन में रोजगार की गारंटी की बात पर जनसंघ ने और अधिक बल देकर कहा कि—'आर्थिक, नियोजन का उद्‌देश्य अधिक से अधिक व्यक्तियों को काम देना होना चाहिए। जीविकोपार्जन का अधिकार मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। हमारा उद्‌देश्य ऐसी व्यवस्था करना होना चाहिए जिसमें शासन सब नागरिकों के इस अधिकार को स्वीकार करे और इसके लिए न्यनूतम स्तर की गारंटी दे। यह मांग भारतीय जनसंघ 1952 से ही लगातार करता आया है। 17 अगस्त 1965 को दिल्ली में आयोजित प्रतिनिधि सभा में जनसंघ ने आर्थिक योजना के चार मूल उद्‌देश्य बताए।

(1) पूर्ण रोजगार, (2) प्रत्येक नागरिक को न्यूनतम जीवन स्तर की आश्वस्ति, (3) सभी क्षेत्रों का समान विकास (4) राष्ट्र की प्रतिरक्षा संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति।

1962 में वाराणसी की बैठक में कृषि और किसानों की स्थिति पर विचार करते हुए जनसंघ ने अपने घोषणा पत्र में कहा—'किसानों की फसल का बीमा किया जाएगा। जनसंघ यह व्यवस्था करेगा कि किसान अपनी उपज का उचित और लाभप्रद मूल्य पा सकें। उचित दाम न मिलने की अवस्था में न्यूनतम पूर्व घोषित मूल्यों पर शासन द्वारा उपज को खरीदने की व्यवस्था होगी। न्यूनतम मूल्य निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि कृषक को उत्पादन मूल्य के साथ उचित लाभ भी मिल सके। 1971 के चुनाव घोषणा पत्र में अलाभकर जोतों के किसानों को ब्याज मुक्त ऋण की व्यवस्था करने का आश्वासन दिया गया कि किसानों की जोत लाभ कर हो सके। देश के सभी किसानों को सस्ते ब्याज पर ऋण की व्यवस्था करने की भी घोषणा की, जिससे छोटे किसानों के खेतों में भी कृषि क्रांति हो सके।

25 जनवरी, 1965 को विजयवाड़ा अधिवेशन में किसानों को उनकी फसल का प्रोत्साहन मूल्य दिये जाने की सिफारिश की।

जिस चुनाव सुधार को लेकर राजीव सरकार अपने सीने पर तमगा टांगे घूम रही है उसकी मांग सर्वप्रथम जनसंघ ने आज से लगभग दो दशक पूर्व की थी। 7 मई

1972 को भागलपुर अधिवेशन में चुनाव पद्धति में सुधार करने के लिए जो चौदह सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया था उसके नवें दसवें और चौदहवें सूत्र में कहा गया था कि मताधिकार के लिए आयु की की सीमा 21 से घटाकर 18 वर्ष की जाए, विधानसभाओं में प्रत्याशी बनने के लिए आवश्यक आयु 25 वर्ष से इक्कीस वर्ष करने के लिए आवश्यक कानून बनाया जाए, अवैध मतदाताओं को फोटो युक्त परिचय पत्र, दिया जाए और दलबदल पर कानूनी रोक लगाई जाए।

ये सभी मांगें भारतीय जनसंघ (अब भाजपा) और अन्य कुछ मांगें अन्य विरोधी दलों की हैं किन्तु तात्कालिक राजनीति लाभ हानि का विचार किसी दूरगामी चिन्तन का निषेध करता है। तात्कालिक लाभ प्राप्त करने की दौड़ में बाजी मार लेने की रणनीति राजनीति व्यवस्था को स्थायित्व और आत्मनिर्भरता प्राप्त नहीं करने देती।

देश का भविष्य पक्ष विपक्ष के हिताहित की सूली पर टांग दिया गया है। और फिर प्रश्न नीयत और इरादे का भी है। जो सत्तारूढ़ दल वायदा करके अपने दल तक का चुनाव दो दशक तक नहीं करा रहा है, मनोनयन द्वारा देश और दल दोनों चलाने में जिसका निहित स्वार्थ है जो राज्य विधान सभाओं को अस्थिर करके राष्ट्रपति शासन द्वारा लोकतांत्रिक एवं सांविधानिक प्रक्रिया को अपनी राजनीतिक सुविधा के लिए अवरुद्ध और अपमानित करता रहता है, सत्ता के दलाल और दरबारी जिसकी राजनीति के जनतांत्रिक दूत हैं, पैसे से जहां सब कुछ खरीदा जा सकता है जो सत्ता को अपने दांत के नीचे दबाए बैठा है, वह सत्ता जनता को सौंपेगा यह विश्वास करना केवल आत्मप्रवंचना है। गांव-गांव में सत्ता के दलाल खड़ा करके इक्कीस सौ करोड़ रुपये ग्राम प्रधानों के हाथों बांटने की लालच देकर चुनाव में इंका के राजनीतिक ठेकेदार बनाए जाने के तत्व इस पंचायती राज निर्माण अभियान में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

राजीव को यदि पंचायती राज का मर्म पता होता तो उसे वे चुनाव के नजदीक केवल एक पार्टी का मामला ब बनाते। लोग जानते हैं कि जो व्यक्ति अपनी पार्टी का भी अधिकार किसी और को नहीं देता, वह पंचायतों के स्तर पर नेतृत्व का उदय कैसे होने देगा। उसमें 'बिल्ली को दूध का रखवाला' बनाने जैसा खतरा छिपा है। राजीव के इस पंचायती राज अभियान के विषय में राजीव से एक व्यक्ति ने पूछा—क्या होता है पंचायती राज ? क्या होता है सत्ता को जनता के हाथों में सौंपना ?' तो वे बोले—'केन्द्रीय योजना में सहयोग देने वाली इकाइयों का गठन अर्थात केन्द्र की मर्जी के मुताबिक कार्य करने वाली इकाई।'

ऐसा ही एक प्रश्न किसी नववधु से उसकी ससुराल वालों ने पूछा था कि—'बहू लवण क्या होता है ?' बहू बड़े गर्व से बोली—'निप्पा भट्ट की बेटी, अप्पा भट्ट की बहू, क्या मैं लवण का अर्थ नहीं जानती ? लवण का मतलब भैंस का गोबर।' अप्पा भट्ट (कांग्रेस की) यह नई बहू (राजीव) करेले के झोल में भैंसे के गोबर का नमक

डालकर पंचायती राज की चासनी बना रही है। चुनाव के पूर्व यह चासनी बन नहीं पाएगी, चुनाव के बाद इसको चखने का अवसर नहीं आएगा। जो भी सरकार आएगी वह पुनर्विचार के बहाने इसे आगे बढ़ा देगी। तब तक राजीव मतदाताओं को 'सत्ता जनता को' का लालच देकर अपने चुनावी कारकून अवश्य तैयार कर लेंगे। चुनाव के बाद लोग आकाश की ओर देखते हुए कहेंगे कि सत्ता कब उनके ऊपर आकर गिरे और कब वे सत्ताधीश के नाते गणतंत्र का संचालन अपने गांव में बैठकर करें।

एक बार फिर देश के साथ राजनैतिक धोखा किए जाने की पूरी व्यवस्था की जा चुकी है। सत्ता के दलाल 'दिन में ब्रह्मचारी रात में व्यभिचारी की तरह स्वच्छ शासन और जनाधारित जनतंत्र की पालकी उठाए हुंकार रहे हैं। इस पालकी की मंजिल गांव नहीं, राजीव का रेसकोर्स स्थित प्रधानमंत्री निवास है। कृतज्ञता ज्ञापन उनकी राजनीतिक संस्कृति का अंश नहीं है। नहीं तो ऊपर बताए गए दस्तावेजों को पढ़कर, चिन्तकों को बुलाकर, उनसे सलाह करके, उनका आभार मानकर, उन्हें उनका श्रेय प्रदान करते और सर्वसम्मति से ग्रामपंचायत या ग्राम राज की अवधारणा को धरती पर उतारते।

28 मई 1989

बहुमत और बहुमत का अन्तर

अल्पमत और बहुमत का सोच बल पकड़ रहा है। चुनाव के बादलों के साथ—साथ यह सोच भी घनीभूत हो रहा है। राष्ट्रीय बहुमत और मजहबी बहुमत के क्षेत्रीय प्रभाव को समतुल्य माना जा रहा है। संसद में साम्प्रदायिकता पर बहस हुई तो नेताजी सुभाष चन्द्र के फार्वर्ड ब्लाक के वाममार्गी नेता श्री चित बसु ने किसी क्षेत्र विशेष के मजहबी बहुमत और राष्ट्रीय बहुमुत को एक ही गज से नाप दिया। बोले, यदि समूचे देश में हिन्दुओं के बहुमत के आधार पर राष्ट्रीता राष्ट्रीय बहुमत और समस्याओं के समाधान का विचार किया जाएगा तो देश के उन क्षेत्रों में, जहां मुसलामनों और ईसाइयों का बहुमत है, अलग राट्र की मांग उठेगी। श्री बसु ने कश्मीर में मुस्लिम बहुलता, पंजाब में सिख बहुलता और पूर्वांचल के कई राज्यों में ईसाई बहुलता का उल्लेख करते हुए उनके अलग राष्ट्र की मांग के औचित्य की ओर संकेत किया।

अलग राष्ट्र की अवधारणा

वाममार्गी और तथाकथित सेक्युलरिस्ट अपने इस तर्क को अन्तरराष्ट्रीय आधार प्रदान करते हैं। वे विश्व के उन 159 राष्ट्रों का उल्लेख करते हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं। कहते हैं, इन 159 राष्ट्रों में 90 राष्ट्रों जनसंख्या केवल एक करोड़ है। 65 राष्ट्रों की आबादी 50 लाख, 30 राष्ट्रों की आबादी दस लाख से कम है, जिनमें कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जहां की जनसंख्या 20 हजार के आसपास है। ये सभी सम्प्रभुता सम्पन्न स्वतंत्र राष्ट्र हैं। यदि विश्व के अन्य भागों में बीस हजार की जनसंख्या वाले राष्ट्र बन सकते हैं तो भारतीय 'उपमहाद्वीप' में ऐसा क्यों नहीं हो सकता? कुछ लोग इस अवधारणा का प्रचार करके देश के विभिन्न भागों में यह चेतना जगा रहे हैं कि देश के किसी भी भूभाग या किसी मैदान में दस—बीस हजार लोग एकत्र होकर राष्ट्र—राज्य स्थापित कर सकते हैं। इसी संकल्पना में से कश्मीर को एशिया का स्विट्जरलैण्ड बनाने के लिए एक स्वतंत्र राज्य की मांग समय—समय पर उठती रहती है। ईसाई, नागा और मिजो की स्वतंत्र राष्ट्र—संघ की स्थापना हेतु सशस्त्र मुहिम भी इसी का परिणाम है। पंजाब के खालिस्तानियों को भी यह तर्क ताकत प्रदान करता है। उनका कहना है कि भारत में उनकी संख्या लगभग डेढ़ करोड़ है, अस्सी—नब्बे

लाख केवल पंजाब में रहते हैं, उनका अपना एक राष्ट्र होना चाहिए। सभी सिखों को खालिस्तानी मानकर उनमें अलग सार्वभैम राष्ट्र–राज्य प्राप्त करने की लालसा जगाई जा रही है। विकासशील भारत राष्ट्र की यह पीड़ा दिन–प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। और मजहबी उदारता, क्षेत्रीय चेतना, आर्थिक विकास और राजनीतिक अधिकारों के संदर्भ में अधिकांश लोग इसे बढ़ावा दे रहे हैं। इन 'अधिकांश' मे वे समस्त राजनीतिक दल, संस्थाएं, व्यक्ति और बुद्धिजीवी शामिल हैं जो इस देश को तथाकथित सेक्युलरिटी की रस्सी से बांधकर तथाकथित जनाधिकार के प्रवक्ता के रूप में अलग–अलग वर्गों को स्थापित राष्ट्र सत्य प्रतिपादित करते हैं, विविधता में एकता के प्रत्यक्ष ओर परोक्ष सूत्रों को नकारते हैं और प्रत्येक विविधता में एक अलग राष्ट्र का बिम्ब देखते हैं। बगीचे की प्रत्येक क्यारी और प्रत्येक लता–वृक्ष को अलग–अलग स्वतंत्र उद्यान बताने जैसी बात है यह। कली को फूल से, फूल को फल से, फल को डाल से, डाल को तने से, तने को मूल से अलग बताकर उनमें अलग स्वतंत्र अस्तित्व बोध जगाकर उनके एक सम्पूर्ण उद्यान होने की कल्पना सरीखी यह बात भी है कि भारत राष्ट्र में जितनी जातियां, बोलियां, रीति–रिवाज, तीज–त्योहार, खान–पान, प्राकृतिक और भौगोलिक क्षेत्र हैं उनकी अपनी अलग संस्कृति, उनके अपने अलग इतिहास और पहचान है। इस सबका अर्थ यह है कि भारत एक नहीं, अलग–अलग संस्कृतियों का गड़बड़झाला बाजार है कि जिसे जो माल चाहिए खरीद ले, जहां जिसकी इच्छा हो अपनी दुकान लगा ले और जिसकी दुकान जितनी बड़ी होती जाएगी। बाजार में उसका अधिकार उतना ही अधिक बढ़ता जाएगा।

इस सोच का संदर्भ है पश्चिम में राष्ट्रवाद के जन्म की पाश्र्वभूमि और चर्च की मजहबी अंधेरगर्दी। राज्य पर चर्च और पोप के पंजे से मुक्त होने के अभियान में से जन्म उनकी सेकुलर राज्य की संकल्पना। किन्तु पश्चिम राष्ट्रों का राज्य पोप और चर्च के चंगुल से मुक्त हुआ तो उसने अपने राष्ट्रजनों को अल्पमत–बहुमत में नहीं बांटा। किसी के केथोलिक या प्रोटेस्टेंट होने के आधार पर उनके राजनीतिक अधिकारों या आर्थिक सुविधाओं का निर्धारण नहीं किया। पूजा–पद्धति को राष्ट्र नहीं माना। यदि वे ऐसा मानते तो समस्त ईसाई मतावलम्बियों का केवल एक राष्ट्र होता। फिर फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड, कनाडा, अमरीका आदि अलग–अलग राष्ट्र और राज्य न होते।

मूल से कटा राष्ट्र–राज्य

स्पष्ट है, राष्ट्र और राज्य जब अपने धर्म का पालन करते हैं, धर्म (विधि) सम्मत व्यवस्था और परम्पराओं के संदर्भ में विकासमान राष्ट्र की संरचना की जात है तो वहां की विविधताएं, बहुआयामी विचारधाराएं और लौकिक–पारलौकिक आंकाक्षाएं समान लक्ष्य से जुड़ जाती है, पंथ की भिन्नताएं और पथिकों की मानसिकताएं

विकारमुक्त होकर विकास करती हैं। इसी विकास प्रक्रिया में से समान आशा—आकांक्षा, समान रक्त—बोध, समान सुख—दुःख और समान इतिहास—बोध, समान सुख—दुःख और समान इतिहास—बोध की राष्ट्रीय चेतना का जन्म होता है। इसी राष्ट्रीय चेतना की भूमि में से सर्वसमावेशी व्यवथा का अंकुर उपजता है, जिसका विकास सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के रूप में होता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी—अपनी प्रवृत्ति, प्रकृति, अपनी विकास प्रक्रिया के अनुरूप और अपनी परिस्थितियों के अनुकूल अपनी सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था करता है। अपने मूल से कटकर नकल के आधार पर राष्ट्र राज्य की संरचना करने से शक्ल बिगड़ जाती है। नित्य नई—नई समस्याओं का जन्म होता है। और यही भारत में हो रहा है।

भारत के अधिकांश राजनेता और बुद्धिजीवी राष्ट्रीय समाज और राष्ट्रजन के बहुमत और मजहबी एवं साम्प्रदायिक बहुमत के आधारभूत अन्तर को समझने का प्रयास नहीं करते। वे ऐतिहासिक वास्तविकताओं का सामना करने से कतराते हैं। अतीत के अनुभवों को स्वीकार करने से डरते हैं। उनका यह भय और उनकी यह कतराहट उन्हें राष्ट्रीय सत्य से जुड़ने नहीं देती। वे केवल वोट राजनीति के गणित के उत्तर के आधार पर राष्ट्रीय अस्मिता का निर्धारण करते हैं, चुनाव में हार-जीत के आधार पर अखिल भारतीयता का निर्णय करते हैं, अखिल सोच और सार्वभौम सिद्धान्त उनके लिए बेमानी है। वे सांस्कृतिक एकसूत्रता की तुलना में मजहबी भिन्नता को वरीयता प्रदान करते हैं। इसी कारण वे बहुमत—बहुमत में अन्तर समझ नहीं पाते। इसी कारण वे हिन्दू बहुमत और ईसाई एवं मुस्लिम बहुमत को समान मानते हैं। किन्तु इतिहास और अनुभव इस स्थापना को अमान्य करते हैं। भारत में हिन्दू बहुमत भारत राष्ट्र की सांस्कृतिक सनातनता, सामाजिक, राष्ट्रीय निरन्तरता और भौगोलिक अखण्डता की गांरटी है। भारत की भूमि पर हिन्दू का अल्पमत होना भारत के भूगोल को छोटा करता हैं। सिंध, पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल में हिन्द अल्पमत में हुआ तो भारत का भूगोल सिमटक्र बिगड़ गया। कश्मीर और पूर्वी राज्यों में जहां—जहां मुसलमान और ईसाई बहुमत में और हिन्दू अल्पमत में है वहां—वहां एक अलग सार्वभौम, सर्वप्रभुता सम्पन्न अलग राष्ट्र-राज्य की मांग उठ रही है, अर्थात् वहां का समाज भारतीय भूखण्ड पर भारतीय परम्परा, संस्कृति, संविधान और केन्द्रीय सत्ता से अलग अपनी अस्मिता की स्थापना करना चाहता है। वहां का बहुमत भारत की अखण्डता और राष्ट्रीय अस्मिता का पोषण नहीं करता, वह भारत की सनातन संस्कृति, परम्परा, केन्द्रीय सत्ता और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है। उसकी अपनी भिन्न प्रतिबद्धताएं और आकांक्षाएं है। वे आकांक्षाएं राष्ट्रीय अखण्डता को खण्डित करती हैं, एकता को तोड़ती है, समान राष्ट्रीय अहसास पर चोट करती है।

हिन्दू–अस्मिता

हिन्दू बहुमत इससे सर्वथा भिन्न है। हिन्दू अस्मिता भारत की राष्ट्रीय अस्मिता का पर्यायवाची है। राष्ट्रीय अखण्डता पर किसी भी प्रकार का आघात वह अपने सीने पर लगा आघात मानता है। भारत का भूगोल उसकी भावना में बसा है। भारत का इतिहास उनकी जीवन–यात्रा की कथा है। भारत का गौरव उसका अपना गौरव है। वह भारत को केवल भूखण्ड, केवल रोटी, केवल अधिकार और केवल मजहब नहीं मानता। अधिकार और रोटी नहीं मिली तो भी अपने राष्ट्रभाव को भक्तिभाव से सीने से लगाए अपने कलेजे के रक्त से उसका पालन-पोषण करता है। भारत में हिन्दू भूमि का ही नहीं, भावना के विभाजन का भी निषेध करता है। वह मजहब, सम्पद्राय, कर्मकाण्ड, भाषा और क्षेत्र के आर--पार जाकर एक अखण्ड राष्ट्रीय सत्ता की संरचना करता है। इस देश में हिन्दू चेतना जागृत होने का अर्थ है राष्ट्रीय चेतना, सनातन संस्कृति, वैश्विक मानव धर्म, समदृष्टि और समान–भाव का जागरण। भारत का राष्ट्रीय मन बांझपन, एकात्मा, समभाव और मजहबी पहचान को तो स्वीकार करता है किन्तु अलगाव और भिन्न स्वायत्त अस्मिता को सर्वथा अस्वीकार करता है। केवल बहुमत और आबाद सार्वभौम राष्ट्र-राज्य के निर्माण की शर्त नहीं है, इसके लिए आस्था, भावात्मक और सकारात्मक आकांक्षा आवश्यक है। किसी भी राष्ट्रीय समाज का अपनी राष्ट्रभूमि के साथ जीवन मरण का रिश्ता होता है। वह राष्ट्रभूमि और उसके वैभव की छीना-झपटी नहीं करता। वह भूमि की रक्षा, भौतिक वैभव की अभिवृद्धि और सांस्कृतिक धारा को पुष्ट करता है। कश्मीर और पूर्वांचल के क्षेत्रों में रह रहे हिन्दू अल्पमत और ईसाई अल्पमत में यही अंतर है। वहां का अल्पमत इन क्षेत्रों को भारत की मूलभूमि, मूलभावना और मूलधारा से जोड़ता है किन्तु वहां का बहुमत इस भावना से भिन्न है। राष्ट्रीय एकता और साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए बहुमत-बहुमत के इस अन्तर को समझना अतीव आवश्यक है। इसी को न समझने की भूल गत बयालीस वर्षों से लगातार की जा रही है।

राष्ट्रीय संस्कृति

भारत में हिन्दू संस्कृति पर आधारित राष्ट्रीयता की अवधारणा देश का नए सिरे से हिन्दुकरण करना नहीं है। मजहबी आधार पर देश में उत्पन्न की जा रही अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक मानसिकता सामाजिक और साम्प्रदायिक शत्रुता को जन्म दे रही है। इसका निदान डा. के. ए. दुर्रानी की इस स्थापना में है कि "वास्तविकता यह है कि यह प्रायद्वीप हिन्दू भारत है, जिसमें हिन्दु, मुस्लिम, हिन्दू ईसाई, हिन्दू सिख, हिन्दू जैन, जरथरस्त्रुवादी और हिन्दू यहूदी मिलकर रहते हैं। सुन्दरता और अनुग्रह की इस भूमि में परमात्मा की समस्त रचना का धार्मिक और सांस्कृतिक विश्व वास करता है — जिसे भारतमाता कहते हैं।"

एक दूसरे विचारक श्री शेरवानी द्वारा इस समस्या का प्रस्तुत किया गया समाधान

यह है कि "मैं अपने भारत में ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, बंगलादेश, हिन्दुस्तान, नेपाल, इंडोनेशिया और श्रीलंका आदि को सम्मिलित करता हूं। मेरी राय से ईरानी भी हिन्दू है, बंगलादेशी भी हिन्दू है, इण्डोनेशियाई भी हिन्दू है और भारतीय तो हिन्दू हैं ही। हम सब हिन्दू हैं और यह सारा देश हिन्दू है।"

इन दोनों स्थापनाओं में एक जनहित भावना निहित है जो मजहब के आधार पर अल्पमत—बहुमत की विषमयी अवधारणा का निषेध करती है। यदि सभी एक ही धारा के जलकण हैं तो अल्पमत और बहुमत कैसा ?

18 जून 1989

कम्युनिज्म की आयु का अंतिम दशक

दिसम्बर 1962। कानपुर के परेड मैदान पर एक मजदूर सभा का आयोजन। वक्ता थे भारतीय मजदूर संघ के संस्थापक महामंत्री श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी। अक्तूबर, 1962 में चीनी हमला। भारत की पराजय और चीन के एकाकी युद्धविराम के बाद हतबल देशवासी। कम्युनिज्म अपने यौवन पर, और सभा मे श्री ठेंगड़ी की घोषणा, कि "जो मजदूर भाई कम्युनिस्टों से लड़ने के लिए भारतीय मजदूर संघ में आए हैं, वे अपने घर वापस चले जाएं। अपना बिस्तर बिछाकर आराम से निश्चिन्ततापूर्वक सो जाएं। कम्युनिस्टों से लड़ने जैसा अब कुछ शेष नहीं है। कम्युनिज्म समाप्त हो चुका है, कम्युनिस्ट स्वतः समाप्त हो जाएंगे। कम्युनिस्ट और कम्युनिस्टों का अब कोई भविष्य नहीं हैं किन्तु जो मजदूर भाई राष्ट्र का पुनर्निर्माण करने का संकल्प करके यहां आए हों, वे यहां ठहरें। उनके लिए हमारे पास कार्य—योजना और लक्ष्य है।"

सत्य होती भविष्यवाणी

और 26 वर्ष बाद, 24 अक्तूबर, 1988 । नागपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डा० हेडगेवार की जन्म—शताब्दी के उपलक्ष्य के में एक विशिष्ट अखिल भारतीय आयोजन। वक्ता वही श्री दत्तोंपत ठेंगड़ी। उस दिन वे बोल नहीं रहे थे मानों भविष्य का आलेख पढ़ रहे थे। उन्होंने घोषणा की— "जब ईसवी सन् की बीसवीं शताब्दी का अंत और इक्कीसवीं शताब्दी का पहला सूर्य क्षितिज पर उदित होगा उस समय तक समस्त लाल झंडे भगवा रंग में परिवर्तित हो चुके होंगे।"

संयोग से मैं दोनों अवसरों पर उपस्थित था। किन्तु न छब्बीस वर्ष पूर्व दिसम्बर, 1962 वाली उस घोषण पर विश्वास हुआ था और न छब्बीस वर्ष बाद 1988 वाली इस घोषणा का विश्लेषण और आधार जानने का प्रयास किया, किन्तु इसके अतिरिक्त कि "कम्युनिज्म में वह आन्तरिक शक्ति है ही नहीं जो समय के दबाव और परिवर्तन के प्रवाह में टिक सके। कम्युनिज्म अपनी ही कमजोरी से समाप्त हो जाएगा और उसे स्वयं कम्युनिस्ट समाप्त करेंगे।" उन्होंने न और कोई विश्लेषण किया, न कोई आधार बताया।

किन्तु अब ऐसा लगने लगा है कि शायद 1962 और 1988 का उनका यह भविष्य—दर्शन सत्य सिद्ध होने वाला है।

कम्युनिस्ट रूस में गोर्बाचोव का पुनर्रचना और खुलापन का अभियान तथा कम्युनिस्ट चीन में जनाधिकार की मांग और जन स्वांतत्र्य का उफान, इसकी पुष्टि करते हैं। रूस के गोर्बाचोव और चीन के तंग दोनों परिवर्तन चाहते हैं। लेकिन दोनों दो अलग-अलग भूमि पर खड़े हैं। दोनों देशों का माहौल, जनता और नेतृत्व का मन भिन्न है। गोर्बाचोव गहराई में उतरकर गंभीर प्रयास कर रहे हैं। उन्होंने एक नया राजनीतिक, सामाजिक-आर्थिक दर्शन गढ़ने की प्रक्रिया प्रारम्भ की है। उन्हें अपने देश की जनता का समर्थन प्राप्त है, किन्तु पार्टी संगठन में उनका विरोध है। इस विरोध का एकमेव कारण है कम्युनिस्ट संगठन से जुड़े लोगों का कम्युनिस्ट अर्थव्यवस्था में निहित स्वार्थ होना। संगठन के विरोध और समाज के समर्थन के बीच द्वंद्व की स्थिति है।

द्वंद्व की स्थिति

यही द्वंद्व चीन में भी है। चीन का कम्युनिस्ट नेतृत्व आथिक-राजनीतिक खुलापन चाहता है, कम्युनिज्म की असफलता का अहसास भी उसे हो चुका है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि किस प्रकार का और क्या परिवर्तन किया जाए ? वह अपनी कम्युनिज्म विचार यात्रा के एक ऐसे अंधे मोड़ पर खड़ा है जहां से आगे का रास्ता उसे दिखाई ही नहीं पड़ रहा है। वह परिवर्तन की गति और दिशा भी निश्चित नहीं कर पाया है। यदि चीन तेज गति से परिवर्तन का मार्ग अपनाता है तो जेल में नजरबन्द माओ की पत्नी सहित "चौगुटे गिरोह" को उस पर माओ का रास्ता छोड़ने का आरोप लगाकर, संगठन को भड़काकर बगावत कराने का अवसर मिला जाता है और यदि गति धीमी होती है तो जनता का कोपभाजन बनना पड़ता है। कम्युनिस्ट चीन की अर्थ और राज्य व्यवस्था में भी रूस की तरह कम्युनिस्ट संगठन का निहित स्वार्थ है। संगठन परिवर्तन नहीं चाहता।

परन्तु रूस-चीन की स्थिति में एक मौलिक अंतर है। रूस के गोर्बाचोव का रूसी कम्युनिस्ट संगठन विरोध करता है, किन्तु उन्हें जनसमर्थन प्राप्त है। चीन के नेताओं का संगठन समर्थन करता है, किन्तु जनता उनका विरोध करती है। वैसे देखा जाय तो इस समय चीन में जो आंदोलन उभर रहा है उसका प्रणेता आज का चीनी नेतृत्व ही है। वह चाहता था कि "चौगुट" की उपेक्षा करके लोकतत्र और नई अर्थ-रचना के लिए जनता में से आवाज उठे। परन्तु वह आवाज नेतृत्व के विरूद्ध नहीं, व्यवस्था के विरूद्ध हो कि उनका भ्रष्ट नेतृत्व भी बना रहे और व्यवस्था भी बदल जाए। आवाज तो उठी, किन्तु नेतृत्व और व्यवस्था, दोनों को बदलने के लिए। भ्रष्ट नेतृत्व और असफल व्यवस्था के विरूद्ध जनरोष भड़का तो उसे "प्रतिक्रांति" कहकर चीन के कम्युनिस्ट नेतृत्व ने उसका दमन शुरू कर दिया। इस अपराध में अब तक चीन की सेना द्वारा लगभग पन्द्रह हजार युवक मारे जा युके हैं। सैकड़ों युवक नजरबन्द हैं।

चार सौ से अधिक जनतंत्रवादियों को फांसी दी जा चुकी हैं देश की सीमाएं बंद कर दी गई है कि कोई 'विद्रोही' विदेश न भाग जाए।

प्रश्न यह है कि यह क्रूर कर्म क्यों कर रही है चीन की कम्युनिस्ट सरकार? केवल इसलिए कि चीन के युवक लोकतंत्र, खुलेपन, जनता के प्रति जवाबदेह सरकार, नई व्यवस्था, समाचारपत्रों और विचार अभिव्यक्ति की आजादी, अपनी देशभक्ति की मान्यता, भ्रष्टाचारमुक्त और निर्मल नेतृत्व की मांग कर रहे हैं। उनका इरादा कम्युनिस्ट पार्टी को समाप्त करके सरकार को अपदस्थ करने का नहीं है। वे केवल ली फंग और तंग जैसे नेताओं को बदलकर अपना जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। आर्थिक भ्रष्टाचार से पीड़ित छात्र और चीन की नई पीढ़ी अब और अधिक प्रतीक्षा कैसे करे जब चीन में सरकारी नौकरियां तक खरीदी–बेची जाने लगी हैं। युवकों के लिए अब उस अध्ययन का कोई अर्थ नहीं रहा जो केवल बेरोजगारी देता है और रोजगार के रूप में उसे अत्यन्त अल्प वेतन वाली नौकरी। चीन के छात्र और युवक आत्म–बलिदान के मार्ग पर चल पड़े हैं। अन्न और रोजगार के अभाव में भूखा मरने की तुलना में वह भ्रष्ट नेतृत्व और असफल व्यवस्था को बदलने के लिए गोली खाकर मरना अच्छा समझते हैं। बेरोजगार तरूणों, भूख और भ्रष्टाचार से पीड़ित देशवासियों के लिए गोली, मृत्यु और शहादत, आत्मसम्मान, साहस, असंदिग्ध और प्रामणिक राष्ट्रभक्ति का पर्याय बन गए हैं।

भारतीय कम्युनिस्टों का चरित्र

यह तो हुई चीन और रूस के कम्युनिस्टों तथा वहां की जनता की बात। अब भारत के कम्युनिस्टों के साम्यवादी चरित्र की चर्चा करें। गत चार जून को लोकतंत्र और खुलेपन की मांग के बदले चीन के लगभग पन्द्रह हजार युवकों को वहां की कम्युनिस्ट सरकार ने गोलियों से भून दिया तो सारा संसार कांप उठा। लेकिन भारत के कम्युनिस्टों को चीनी युवकों के आंदोलन में समाजवादी व्यवस्था को तोड़ने के लिए साम्राज्यवादी सरमायेदारों की साजिश की दुर्गन्ध आई। चीनी युवकों के गर्म लहू से वहां की धरती लाल हुई तो भारत के कम्युनिस्टों का अपने लाल झंडे के और अधिक लाल हो जाने का आनन्द मिला। तरूणों के दमन को 'प्रतिक्रान्तिकारियों' की समाप्ति के अनुष्ठान की सफलता माना गया। रूस और चीन की जनता जिस स्टालिनी कम्युनिज्म को बदलने की मुहिम चला रही है, भारत के कम्युनिस्ट उसी का बंदी बने रहने में समाजवादी प्रगतिशीलता अनुभव करते हैं। आम जनता और मजदूरों की आर्थिक और राजनीतिक गुलामी को भारत के कम्युनिस्ट लोकतंत्र मानते हैं। वे हजारों युवकों की हत्या को "प्रतिक्रान्तिवादियों" को "सही सबक सिखाना" सिद्ध करने के लिए अपनी पूरी ताकत से जुटे हुए हैं। यही कार्य उन्होंने मास्को में स्टालिन विरोधियों की हत्या, 1956 में हंगरी में किए गए रक्तपात, चेकोस्लाविया और

अफगानिस्तान पर रूसी हमले का औचित्य सिद्ध करने के लिए भी किया था। चीन के तंग की इस घोषणा से कि "चीन में दस लाख लोगों की हत्या हो जाना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है, चीन की आबादी को देखते हुए यह संख्या अत्यंत ही महत्वहीन और नगण्य है," भारत के कम्युनिस्टों का मन नहीं कांपा। इससे उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता पर तनिक भी आंच नहीं आई।

भारत के कम्युनिस्टों को "जनवाद" और "लोकतंत्र" 1975-77 तक इंदिरा गांधी के आपातकाल का पक्षधर केवल इसीलिए बना रहा था कि उनके लिए भारतीय लोकतंत्र की व्यवस्था को अंदर से ध्वस्त करने का वह एक अच्छा अवसर था। लोकतंत्र पर आने वाले संकट के हर मोड़ पर भारत के कम्युनिस्ट लोकतंत्र के विरूद्ध खड़े मिलते हैं। वे अभी तक 1917 वाली अपनी पुस्तकीय मानसिकता से उबर नहीं पाए हैं। वे बदलते समय के साथ न तो बदलने के लिए तैयार हैं और न यह सत्य स्वीकार करने का साहस ही जुटा पा रहे हैं कि कम्युनिज्म दर्शन और कम्युनिस्ट-व्यवस्था असफल हो चुकी ह। वे भविष्य का यह संकेत भी नहीं देख पर रहे हैं कि कम्युनिज्म का अन्तर्राष्ट्रीयतावाद अब राष्ट्रीयता के थपेड़ों से तार-तार हो चुका है।

राष्ट्रीय पहचान की कसमसाहट

यूरोपीय रूस को छोड़कर यू०एस०एस०आर० के अन्तर्गत शामिल एशियाई राष्ट्रीयताएं अपनी स्वायत्त एवं स्वतंत्र राष्ट्रीय, राजनीतिक, आर्थिक अस्मिताओं की स्थापना करने के लिए कसमसाने लगी है। नब्बे के दशक में सोवियत रूस से टूटने और बिखरने की सबल संभावनाएं हैं।

यूगोस्लाविया पहले ही रूसी छाया से मुक्त अपनी राष्ट्रीय अस्मिता की घोषणा कर चुका है। वहां के स्लाव भी अब यूगोस्लाविया से अपना अलग स्वतंत्र राष्ट्रीय अस्तित्व चाहते हैं। चेकोस्लोवाकिया अपनी अलग रचना कभी ओर बढ़ रहा है। पोलैण्ड ने कम्युनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को धत्ता बताकर सालिडरिटी को अपना भाग्य सौंप दिया है। चीन की जनता अपना जनाधिकार प्राप्त करने के लिए बलिपथ पर चल पड़ी है। चीन के वारलार्डस (सेना प्रमुख) अपनी—अपनी प्रवृत्ति—प्रकृति और क्षेत्रीय अस्मिताओं के अनुरूप विभाजित हो गए हैं। उनके अंदर अलग-अलग सूबेदारी का भाव प्रबल हो रहा है। कठिनाई केवल यह है कि चीन की जनता के लिए लोकतंत्र एकदम नई संकल्पना है। वे सहिष्णु तो है किन्तु स्वंय के द्वारा शासित होने की उनकी न परम्परा है, न उनका स्वभाव। किन्तु चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा अपनी विश्वसनीयता पुनः प्राप्त कर पाना अब संभव नहीं है और सैनिक दमन बहुत दिन तक चल नहीं सकता। ऐसी स्थिति में या तो वारलार्डस अपने-अपने क्षेत्र में सत्ता संभाल लेंगे या फिर चीन को आज नहीं तो कल पोलैण्ड के रास्ते पर जाकर चुनाव का लोकतांत्रिक तरीका अपनाना पड़ेगा। यदि ऐसा न हुआ तो चीन में क्षेत्रीय

स्वायत्ता की मांग जोर पकड़ेगी और परिणामस्वरूप चीन खण्ड-खण्ड हो जाएगा। चीन की केन्द्रीय कम्युनिस्ट सत्ता को अब वार लार्डस, क्षेत्रीय स्वायत्तता, स्वतंत्रता की मांग और व्यवस्था बदलने के लिए चल रहे आंदोलन का एक साथ सामना करना पड़ेगा। चीन की राष्ट्रीय एकता का अब एक मात्र उपाय है कम्युनिस्ट व्यवस्था और कम्युनिज्म के समाजवादी अर्थ-दर्शन को तिलांजलि देकर लोकतंत्र का ईमानदार प्रयोग।

कम्युनिज्म के अन्तिम चरण में उसकी वास्तविकताओं का सामना या उसी की असफलताओं को स्वीकार करने के लिए भारत के कम्युनिस्ट मानसिक रूप से तैयार नहीं है। इसीलिए वे लोकतंत्र को समाजवादी व्यवस्था का शत्रु, चीन के तरूणों के आंदोलन को साम्राज्यवादी सरमायेदारों की प्रतिक्रांति ओर सरकारी रक्तपात को कम्युनिज्म का सुरक्षाकवच बता रहे हैं। भारत के कम्युनिस्टों की भितरघाती-विश्वासघाती प्रवृत्ति उन्हें यह देखने और विश्वास ही नहीं करने देती कि उनका प्रेरणा-स्रोत रूस और चीन भारतीय जीवन-दर्शन का प्रकाश पाने के लिए तड़प रहे हैं। वे गीता और उपनिषद् में अपने भविष्य-निर्माण का संकेत एवं संदेशा देने वाले श्लोकों की तलाश कर रहे हैं। कम्युनिज्म दर्शन के विकल्प के रूप में वे उपनिषदीय दर्शन को स्वीकार करने की मन और माहौल बना रहे हैं। अन्तर केवल यह है कि चीन की चिंता नेतृत्व की है, रूस की चिंता है रूसी राष्ट्र का भविष्य और भारत के कम्युनिस्टों में रूस के समाजवादी जूठन को चाटते रहने का लालच।

अर्थहीन सिद्धान्त

स्पष्ट है कि रक्त और हत्या के दर्शन, एकाधिकारवाद ओर एकरूप बन्धक व्यवस्था के दिन बीत रहे हैं। बहुआयामी, बहुविध और विविधता के सृष्टि सत्य को स्वीकार करके एकात्म दर्शन के आधार पर पुनर्रचना करने का समय आ गया है। परिवर्तनशील किन्तु युगानुकूल संरचना का यह दर्शन विश्व में केवल भारत के ऋषिवंशीय हिन्दुत्व दर्शन एवं संस्कृति में ही है। इसलिए भारत के कम्युनिस्ट अब अपना विश्वासघाती, खूनी और विदेशी बस्ता बांध लें। कम्युनिज्म की पुरानी किताब के फटे पन्नों पर लिखे तत्कालिक और परिस्थिति सापेक्ष सिद्धान्त अब अर्थहीन हो चुके हैं। लुप्त राष्ट्रीय मुख्यधाराएं अब अपने पूरे वेग के ऊपर आ रही हैं। उसे साम्राज्यवादी, सरमाएदार, समाजवाद विरोधी ओर साम्प्रदायिक होने की गाली न देकर भारत के कम्युनिस्ट भी भारत की मुख्य राष्ट्रीय धारा में अवगाहन करके अब तक की अपनी समस्त हत्याओं, रक्तपात, विश्वासघात और जनाधिकारों के अपहरण का समर्थन करके अपने सभी पापों का प्रायश्चित एवं परिमार्जन कर लें।

रूस और चीन में कम्युनिज्म का तानाबाना टूट रहा है। रूसी-चीनी ब्राण्ड कम्युनिज्म समय के सवालों का जवाब दे पाने में पूरी तरह विफल रहा है। और

भारतीय ब्राण्ड मानव-समाज दर्शन (हिन्दू-दर्शन) सभी सवालों के जवाब लेकर खड़ा है किन्तु विडम्बना यह है कि भारत के कम्युनिस्ट भारत की मुख्य राष्ट्रीय धारा से केवल पूरी तरह कटे हुए ही नहीं है बल्कि वे भारतीय जीवन—दर्शन के दुश्मन भी हैं। अतएव मुख्यधारा से कटे भारतीयता के शत्रुओं के नाले का सूख जाना निश्चित है। नब्बे का दशक कम्युनिज्म की आयु का अन्तिम दशक होगा। यही वर्तमान का सत्य है, यही भविष्य का संकेत है। इसी की ओर संभवतः श्री ठेंगड़ी जी ने संकेत किया।

2 जुलाई 1989

भारत की राजनीति का यथार्थ

प्रत्येक संकट में कोई न कोई संदेश निहित होता है। प्रत्येक घटना किसी न किसी सत्य को उघाड़ देती है। कम्युनिस्ट चीन के छात्र-युवा आंदोलन और कम्युनिस्ट सरकार के सैनिकों द्वारा किए गए नरसंहार ने कम्युनिज्म व्यवस्था, नेतृत्व की कमजोरियों और चरित्र को तो उजागर किया ही, भारत सहित विश्व के अनेक लोंकतांत्रिक देशों के राजनीतिज्ञों और राजनीति का चरित्र भी उजागर कर दिया। लोकतांत्रिक प्रक्रिया और व्यवस्था के माध्यम से अपने-अपने राष्ट्रों के भाग्य और भविष्य की रचना करने वाले राष्ट्रों के राष्ट्राध्यक्षों और उनके दलीय नेताओं द्वारा चीन में लोकतंत्र को कत्ल करने के कुकृत्य पर व्यक्त की गई प्रतिक्रियाएं इसकी साक्षी है। अमरीकी राष्ट्रपति, फ्रांस के राष्ट्राध्यक्ष, पश्चिमी जर्मनी के प्रधानमंत्री, इंग्लैण्ड की श्रीमती थैचर की प्रतिक्रियाएं उनकी लोकतांत्रिक प्रतिबद्धताओं की परिचायक हैं। उनका त्वरित उद्गार और चीन के साथ अपने भावी राजनयिक सम्बन्धों के लिए लगाई गई लोकतांत्रिक शर्तें यह स्पष्ट करती हैं कि लोकतंत्र उनके लिए केवल सत्ता में बने रहने का साधन नहीं, एक ऐसी राजनीतिक जीवन–पद्धति है जिसमें सभी की सहभागता, जनाधिकार और जनस्वातंत्र्य की सुनिश्चित है।

किन्तु भारत ? भारत चीन के निकटतम पड़ोसी देशों में एक प्रमुख देश है। कुछ नगण्य अपवादों को छोड़ दें तो यहां का प्रत्येक नेता, प्रत्येक बुद्धिजीवी और प्रत्येक नागरिक लोकतंत्र के प्रति अपनी निष्ठा और प्रतिबद्धता की खुलेआम घोषणा करने में गर्व का अनुभव करता है लेकिन लोकतंत्र के प्रति उसका गर्व कितना गहरा, अहसास कितना आन्तरिक और प्रतिबद्धताएं कितनी सुदृढ़ हैं, इसका जायजा लेंगे तो आम आदमी तो खरा दिखाई देगा, किन्तु लोकतांत्रिक सत्ता प्रतिष्ठान के संचालकों, संरक्षकों, अधिकांश राजनीतिक दलों और नेताओं की लोकतांत्रिक निष्ठा वोट राजनीति में सफलता–असफलता की ऊहापोह करते हुए मतदान केन्द्र और मतपेटी तक जाकर समाप्त हो जाती है।

सत्ता स्वार्थ की दासता

यह अनुमान या आकलन नहीं, भारत की सत्ता राजनीति का यथार्थ है। चीन में तरूणों की सरकारी हत्या के माध्यम से प्रकारान्तर से लोकतंत्र का प्राणहरण करने के

अमानुष कार्य पर भारत के राजनीतिक दलों और नेताओं की प्रतिक्रिया और मौन दोनों ने यह सिद्ध कर दिया है कि लोकतंत्र मे उनकी आस्था उनके सत्ता—स्वार्थ की दासी है। यदि ऐसा न होता तो जनता दल के अध्यक्ष विश्वनाथ प्रताप सिंह शताब्दी के इस भीषण नरसंहार पर केवल इसलिए मौन धारण न कर लेते कि भारत के कम्युनिस्ट उनके "सहज सहयात्री" हैं, और चीन में लोकतंत्र की हत्या कम्युनिस्ट व्यवस्था कर रही है, इसलिए उसके विरूद्ध वे बोलेंगे तो उनके "स्वाभाविक मित्र" भारत के कम्युनिस्ट नाराज हो जाएंगे।

यदि ऐसा न होता तो भाजपा अध्यक्ष श्री लालकृष्ण आडवाणी की सलाह पर जनता दल के संसदीय दल के नेता श्री मधुदण्डवते द्वारा चीन की निंदा करने के लिए तैयार किए गए संयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने से उन्हीं के उपनेता श्री जयपाल रेड्डी और तेलुगू देशम के श्री उपेन्द्र यह कहकर हस्ताक्षर करने से मना न कर देते कि इससे भारत के कम्युनिस्ट नाराज हो जाएंगे। और फिर श्री दण्डवते को वह वक्तव्य फाड़कर फेंक न देना पड़ता और न श्री आडवाणी को एकाकी वक्तव्य प्रसारित करना पड़ता कि "चीन में किया जा रहा नरसंहार कम्युनिस्टों की लोकतंत्रघाती परम्परा की मात्र एक कड़ी है। यह चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, अफगानिस्तान आदि में कम्युनिस्ट सत्ता द्वारा किए गए कार्यों का विस्तार मात्र है। यह लोकतंत्र पर खुला आक्रमण और उसको खुली चुनौती है।" यदि ऐसा न होता तो गांधी जी की इस स्पष्टोक्ति के बाद भी कि "आप (कम्युनिस्ट) महान आदर्शों की बात तो करते हैं, किन्तु व्यवहार उसके विपरीत करते हैं। आप सच और झूठ, न्याय और अन्याय में कोई अंतर नहीं मानते। मेरे लिए सबसे दुःखद बात यह है कि आप रूस को अपना आध्यात्मिक पीठ मानते हैं। भारतीय संस्कृति को नष्ट करके आप यहां रूसी व्यवस्था स्थापित करने का सपना देखते हैं" ('महात्मा' — तेंदुलकर खण्ड आठ, पृष्ठ 8-9), राजीव कम्युनिस्टों का और कम्युनिस्ट राजीव का आहवान न करते कि "आओ, हम दोनों हाथ मिलाकर साम्प्रदायिकता के विरूद्ध साझा युद्ध करें।" यदि ऐसा न होता तो कम्युनिस्ट वासवपुनैया यह न कहते कि "मार्शल लॉ के बाद भी जब छात्र नहीं हटे तो चीन के पास चारा ही क्या था ? आखिर सरकार तो यह बताएगी ही कि वह राज्य कर ही है।" तो फिर कम्युनिज्म के झंडावाहक नम्बूदिरीपाद चीन के युवकों के लोकतांत्रिक, अहिंसक आंदोलन को समाजवाद विरोधी और समाजवादी व्यवस्था को विध्वंस करने की साम्राज्यवादी साजिश बताकर बदनाम न करते। यदि ऐसा न होता तो चीन के अस्सी वर्षीय भ्रष्ट नेतृत्व द्वारा आयोजित सत्तर वर्षीय भ्रष्ट नेताओं की बैठक के हेतु की कि साठ वर्ष की आयु वाले भ्रष्टाचारी कम्युनिस्टों को सजा दी जानी चाहिए भारत के कम्युनिस्ट सराहना न करते। गत चार जून को श्येनमन चौकी पर किए गए कत्लेआम को भारत के कम्युनिस्टों द्वारा जनवाद की मजबूती बताना क्या उनकी लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता का परिचायक है ? यदि कम्युनिस्टों कीं लोकतंत्र

में रूचि और निष्ठा होती तो विश्व के लोकतांत्रिक देशों को साम्राज्यवादी सरमाएदार तंत्र का शिकार बताकर कम्युनिस्ट व्यवस्था की जकड़न को असली जनतंत्र और जनवाद बताने का साहस न करते और उन्हें अपने किए पर लज्जा आती। वे रूस और चीन की ही नहीं तथाकथित कम्युनिज्म अन्र्राष्ट्रीयता की मानसिक और शरीरिक गुलामी की तौंक भी तोड़कर फेंक देते।। देश के आज के दूसरे दल सही अर्थों में लोकतंत्र के प्रति निष्ठावान होते तो न तो वे कम्युनिस्टों द्वारा पंडित जवाहरलाल नेहरू को साम्राज्यवादी गुर्गा कहा जाना भूलते और न देश की आजादी के आंदोलन के प्रति विश्वासघात करने वाले मुस्लिम लीग के मददगार, पाकिस्तान बनाने के पश्चात् तेलंगाना में सशस्त्र विद्रोह करने वाले, 1962 में चीनी आक्रमण के समय चीन की हमलावर सेना को जनमुक्ति सेना कहकर उसका स्वागत करने वाले कम्युनिस्टों की सहायता लेकर इंका और दूसरे दल सत्तासीन होने की राजनीतिक रणनीति बनाते।

छल और प्रवंचना

भारतीय राजनीति में मूल्यों और सिद्धान्तों की राजनीति अब केवल पाखण्ड है। अब प्रमुख है वोट बैंक और छवि। छवि बिगड़ने का भी और वोट बैंक का लोभ भारत के राजनेताओं को राष्ट्र सत्य को झुठलाने और आत्म प्रवंचना करके देश की जनता को छलपूर्वक गुमराह करने को बाध्य कर देता है। नहीं तो विश्वनाथ प्रताप सिंह चीन जाते, वहां लोकतंत्र की हत्या का दर्दनाक दृश्य देखते और अपने सहज–स्वाभाविक साथियों (कम्युनिस्टों) से जवाब तलब करते कि "तुम चीनी नरसंहार पर मौन क्यों हो ? तुम लोकतंत्र को सैनिक बूटों और बन्दूकों से कुचलने और भूने जाने को जनवाद और समाजवाद क्यों मानते हो ? विश्वनाथ प्रताप कम्युनिस्ट नेता राजेश्वर राव को टोकते और उनके इस कथन की निंदा करते कि "कहीं साम्राज्यवादी शक्तियां इस स्थिति, नरसंहार और लोकतांत्रिक आंदोलन का लाभ समाजवादी चीन के साथ–साथ महान समाजवादी विचारधारा को बदनाम करने के लिए न करें।" मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के पोलित–ब्यूरो के इस मत को जानने के बाद कि "चीन के छात्रों को गोलियों से भूनने का आदेश उचित था, क्योंकि कुछ शरारती तत्वों द्वारा गुमराह किए गए छात्रों का यह आंदोलन चीन की सत्तारूढ़ कम्युनिस्ट पार्टी और समाजवादी व्यवस्था को चुनौती के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता" विश्वनाथ प्रताप सिंह कम्युनिस्टों को देश की राष्ट्रीय लोकतांत्रिक धारा से बाहर निकाल देते और साम्यवाद, सम्प्रदायवादी, और राष्ट्रवादी चरित्र, खूँखार, खूनी, द्वेषपूर्ण, अवसरवाद, अलगाववादी और राष्ट्रीय लोकतांत्रिक दृष्टि की स्पष्ट परिभाषा की जाती।

यदि देश की दलीय राजनीति सिद्धान्तों और राष्ट्रय जीवन मूल्यों से अनुप्राणित होती तो सुभाषचन्द्र बोस को 'तोजो का कुत्ता कहने वालों, बदलती रूसी नीति के

प्रकाश में द्वितीय महायुद्ध को जनयुद्ध बताने वालों, मुस्लिम लीग के साथ राजनीतिक गठबंधन करने और उनके साथ साझा सरकार का गठन करने वालों, मुस्लिम बहुल मल्लापुरम जिला बनाने वालों, आपतकाल के समय लोकतंत्र और आजादी का अपहरण किए जाने पर प्रसन्न होने वालों, हिंसा और हत्या की राजनीति और बन्दूक की नली से सत्ता का सिंहासन प्राप्त होने के सिद्धान्त पर विश्वास करने वालों से विश्वनाथ प्रताप सिंह, उनका जनता दल और राजीव के इंदिरा कांग्रेस यह क्यों नही कहते कि वे अपनी राष्ट्रनिष्ठा, लोकतंत्र और सेक्युलरिटी का प्रमाण दें और यदि वही उनकी राष्ट्रीय निष्ठा, लोकतंत्र और सेक्युलरिटी है तो उनके साथ राजनीतिक, सामाजिक रिश्ते—नाते रखने के प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार क्यों नहीं करते ? यदि साम्प्रदायिकता का विनाश करना है तो क्या यह ईसाई और मुस्लिम राज्य की स्थापना करने का आश्वासन देकर किया जा सकता है ? क्या शहाबुद्दीनों, बुखारियों, मुस्लिम लीगियों और जॉनपालों का तुष्टीकरण और उनकी फिरकापरस्ती को राजनीतिक—सामाजिक मान्यता और देश के शेष राष्ट्रीय समाज की भावनाओं को साम्प्रदायिक कहकर उसका अपमान करना साम्प्रदायिक सद्भाव निर्माण करने का रास्ता है ?

जहरीले रिश्ते

क्रूरता और कम्युनिज्म सहयात्री हैं। साम्प्रदायिकता और मुस्लिम अल्पसंख्यकता का रिश्ता रक्त का रिश्ता है भ्रष्टाचार और अनैतिकता कांग्रेसी संस्कृति की सत्ता व्यवस्था और राजनीति की मुख्य फसल है। तुष्टीकरण की राजनीति, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को तोड़ने और खण्डित करने में कांग्रेस, कम्युनिस्ट और जनता दल में शामिल अधिकांश नेता विशेषज्ञ हैं। जाति का जहर, क्षेत्र का अहंकार, भाषा का दुर्भाव लगाने में ये अपनी राजनीतिक सफलता मानते हैं। गरीबी और बेरोजगारी में इनका निहित स्वार्थ है। 'चोर—चोर मौसेरे भाई' की तरह ये एक दूसरे की करनी पर अंगुली नहीं उठाते। ये सब मिलकर अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए ऐसे लोगों पर सामूहिक आक्रमण करते हैं जो लोकतंत्र, सामाजिक समरसत्ता, सर्वधर्मसमभाव, राट्रीय जन, राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्र की भौगोलिक एकता के प्रति मन और प्राण से प्रतिबद्ध है।

चीन की घटना ने वहां के लोकतंत्रवादी तरूणों के ही नहीं, भारत के राजनीतिक दलों और नेताओं के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और लोकतांत्रिक जीवन—मूल्यों के चीथड़े भी उड़ा दिये हैं। कम्युनिस्ट तो अपना मुंह छिपाकर अपनी खोह में घुस गए, अपने सार्वजनिक अड्डों से गायब हो गए, बयानबाजी बन्द कर दी। एक सफदर हाशमी की हत्या पर जनाधिकार और जनतंत्र की हत्या होने का हंगामा खड़ा करने वाले कम्युनिस्ट, इप्टा, प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक

संगठन मलयश्री हाशमी, एन० के० रैना, तमस के भीष्म साहनी, कैफी आजमी और त्रिलोचन शास्त्री कहां चले गए ? चीन में किए गए नरसंहार के विरूद्ध इप्टा नुक्कड़ नाटक क्यों नहीं करती ? जनतंत्र की मांग करने वाली चीनी जनता की हत्या के विरूद्ध 'जनवाद' खेमा गोष्ठियों और प्रदर्शनों का अयोजन क्यों नहीं करता? जनता दल सहित दूसरे विरोधी दलों और राज़ीव की इंदिरा कांग्रेस का लोकतंत्र और मानवधिकार प्रेम का मुंह नहीं खोल पा रहा है ? शहाबुद्दीनों और लीगियों की बोलती क्यों बन्द हैं? लोकतंत्र और मानवधिकार की लड़ाई भारत में केवल भाजपा और विद्यार्थी परिषद् जैसे कुछ संठन ही क्यों लड़े? वही अकेले चीनी दूतावास पर प्रमुख प्रदर्शन करने क्यों जाएं ? इस कार्य में कम्युनिस्ट, कांग्रेसी और लीगी शामिल क्यों नहीं हुए? सरकारी स्तर पर बोलने से राजीव डरते थे तो दलीय स्तर पर इंकाई नेताओं ने चीनी जनता के अधिकारों, का पक्ष क्यों नहीं लिया ?

इन सब प्रश्नों और चीनी हादसे से जुड़ी समस्त घटनाओं ने भारत के राजनतिक चरित्र को नंगा कर दिया है कि केवल सत्ता के गलियारे में घूमने वाली यहां की राजनीति का आधार सिद्धान्त नहीं, अवसरवाद है। यहां महत्व राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं का नहीं, चुनाव की रणनीति और राजनीतिक लेन-देन तथा जोड़-तोड़ का है। यहां लोक़तंत्र, समाजवाद और सेक्युलरिटी के नाम पर केवल राजनीतिक पाखण्ड किया जाता है। कम्युनिस्ट तो इस सैद्धान्तिक बहस में नहीं पड़ेंगे, किन्तु मूल्यों की राजनीति करने और व्यवस्था बदलने के लिए विद्रोह की आग जलाने और सृजन का स्वरालाप करने वाले विश्वनाथ प्रताप सिंह और जनता दल को तो अपना पक्ष स्पष्ट करना ही चाहिए। भाजपा से उसकी सेक्युलरिटी और राष्ट्रीय निष्ठा का प्रमाण मांगने वाले लोग कम्युनिस्टों और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों और लीगियों से उनकी राष्ट्रीय, लोकतांत्रिक, सामाजिक सद्भावना और सेक्युलरिटी का अतीत और आधुनिक संदर्भ में प्रमाण क्यों नहीं मांगते ? भारत के 'राम' से जुड़े सवाल को साम्प्रदायिक कहने वाले राम से द्वेष करने वालों की साम्प्रदायिकता की पर्तें क्यों नहीं उतारते ? गत आधी शताब्दी के कम्युनिस्टों और लीगियों के कारनामों के अनुभव के आधार पर अपनी 'मूल्याधिष्ठित' राजनीति की आधारशिला क्यों नही रखते?

यह निश्चित है कि ये लोग ऐसा कदापि नहीं करेंगे, क्योंकि उनकी रूचि राष्ट्र के सृजन में नहीं, केवल सत्ता सुख ओर निजी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में है। यह भगवत्कृपा है कि कपड़े चीन की कम्युनिस्टों के उतारे गए और नंगे भारत के राजनेता और राजनीतिक दल हो गए। कम्युनिस्टों के विषय में क्या कहा जाए ? उन बेचारों की न अपनी बुद्धि है, न अपना कोई राष्ट्रीय लक्ष्य। पेइचिंग और मास्को का रिमोट कंट्रोल उनका संचालन करता है।

9 जुलाई 1989

'पंचायती राज प्रलाप'

पंचायत राज के माध्यम से 'सत्ता जनता को' सौंपने के प्रलाप का वेग इतना प्रबल है कि मानो वह राजीव को कोई अपना नया आविष्कार है एक ऐसा आविष्कार जिससे देश की जनता अब तक पूर्णतः अनभिज्ञ थी। 'सत्ता जनता को' देने से लेकर आर्थिक विकास, बेरोजगारी की समाप्ति और साम्प्रदायिकता के विनाश सरीखे सभी कार्य राजीव आगमी छह महीने में कर डालने का आभास दे रहे हैं। छह माह बाद चुनाव है न!

चुनाव के पूर्व सब कुछ जनता की झोली में डाल देने की आतुरता और चुनाव के बाद का व्यवहार देशवासियों का जाना–पहचाना है। पंचायती राज सम्बन्धी धुआंधार प्रचार का एक प्रमुख पक्ष भी है कि देशवासियों को यह बताया जा रहा है कि केन्द्र में सत्तारूढ़ सरकारी दल और नेता के अलावा शेष सभी दल और अधिकांश बुद्धिजीवी पंचायत राज अर्थात् 'सत्ता जनता के हाथों में' सौंपने के विरूद्ध अर्थात् लोकतंत्र विरोधी हैं और राजीव ही उसके एकमात्र प्रणेता और पुरस्कर्ता हैं। जबकि वास्तवकता यह है कि पंचायती राज की संकल्पना न गांधी जी की मौलिक सूझ है, न नेहरू, जयप्रकाश नारायण, लोहिया और दीनदयाल की। यह संकल्पना भारत के ऋषियों और द्रष्टाओं की विकासमान सुचिंतित समाज और राज्य व्यवस्था की आधारशिला है। ग्रामराज्य की वैदिक संकल्पना कालान्तर से स्वराज्य और महाराज्य आदि सबको मिलाकर हिमालय से लेकर समुद्र तक विस्तृत भूभाग को समेटी हुई समस्त पृथ्वी का एक राष्ट्र होने की अवधारणा तक पहुंची।

ग्राम–राज्य का आविष्कार

ग्रामराज्य का आविष्कार भारत भूमि पर रहने वाले सुसंस्कृत समाज को हिन्दू नाम मिलने से हजारों वर्ष पूर्व हुआ था। इसका जन्म वैराज्य की कोख से हुआ और भोज्य राज्य, साम्राज्य, महाराज्य, अधिपति राज्य, सामन्त मण्डल राज्य, लोकराज्य, स्वराज्य और समस्त वसुधा का एक राज्य अर्थात् पृथ्वी का एक शासक (विश्व सरकार) की योजनापूर्ण करने तक यह विचार यात्रा चलती रही। ग्रामराज्य व्यवस्था कमजोर हुई तो अधिपति, सामन्ती और राजतंत्र शासन प्रबल हुए। ग्रामराज्य जब तक प्रबल रहा तब तक गणतंत्र पर राजतंत्र अपना प्रभाव नहीं जमा पाया। इस मूल

इकाई की उपेक्षा, अवज्ञा और उसकी नैतिक शक्ति का अपहरण करके ग्राम समिति के अध्यक्ष वंशगत रूप से बनने के कारण ग्रामवासी उदासीन होते गए और देश के विभिन्न भागों में अपनी—अपनी प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसार लोकप्रिय, निरंकुश, दयालु, क्रूर, प्रजापालक, लोकरंजन और शोषक राजाओं की परम्परा चली जिसमें राम जैसे राजा भी हुए और रावण जैसे शासक भी। कृष्ण जैसे समाज की नैतिक शक्ति सम्पन्न सत्ता और निरपेक्ष जननायक और धर्मराज युधिष्ठिर भी हुए और कंस, धृतराष्ट्र, दुर्योधन जैसे लोभी और क्रूर शासक भी। यह इतिहास बहुत लम्बा है। हजारों वर्ष की परम्परा का यह संकेत मात्र है।

पौराणिक पृष्ठ भूमि

बात पंचायती राज की पुरातनता से आरम्भ हुई थी। अथर्ववेद (8/10/1) में समाज की ऐसी व्यवस्था का वर्णन है जब कोई राजा नहीं था और तब राजा की कल्पना का जन्म भी नहीं हुआ था। इसे वैराज्य (राज्यविहीन) शासन कहा जाता था। जब राज्यविहीनता तो थी, किन्तु "अराजकता" नहीं थी। ग्राम के सभी लोग मिलकर अपना शासन स्वयं करते थे। सभी एकत्र होकर किसी भी समस्या का समाधान सामूहिक रूप से सर्वसम्मति से करते थे। सतयुग में इसी वैराज्य को धर्मानुसार शासन कहा गया है। तब सेना नहीं थी, राजा नहीं था, दण्ड नहीं था, दण्डाधिकारी नहीं थे। वैराज्य की यह प्रारमिक अवस्था थी। इसे पण्डित जवाहरलाल ने अपने भारत की खोज में कबीलाई, असभ्य और जंगल व्यवस्था कहा है। किन्तु आधुनिक सभ्यता के शिखर पर बैठा आज का वैज्ञानिक विश्व यह कल्पना तक नहीं कर सकता कि क्या बिना किसी को हानि पहुंचाए, सबको सबका भाग प्रदान करके सर्वमान्य निर्णय की व्यवस्था की अवस्था पुनः प्राप्त की जा सकती है?

तब के लोग दूरदर्शी थे। उन्होंने सोचा कि यह "वैराज्यता" बहुत दिन नहीं चल पाएगी। उनके मन में यह भय सहज रूप से जन्मा कि यह स्थिति भविष्य में सदा बनी नहीं रह सकती। भयजनक स्थिति का निराकरण करने के लिए उन्होंने ग्राम सभा की व्यवस्था की। अथर्ववेद ने इसे ''सा उद्कामत सा सभाया न्यक्रामत'' अर्थात् जनशक्ति की उत्क्रान्ति की कोख में से "ग्राम सभा" का जन्म हुआ और जनता के अपने अधिकार ग्राम सभा के सदस्यों को सौंप दिए। जनशक्ति की पुनः उत्क्रान्ति हुई तो राष्ट्र समिति बनी। राष्ट्रसमिति अर्थात् प्रान्त अथवा राष्ट्र की समिति। जनशक्ति में और अधिक उत्क्रान्ति हुई तो राष्ट्रीय स्तर पर मंत्रिमण्डल बना और वह मंत्रिमण्डलीय व्यवस्था तक पहुंची। ऋग्वेद (5/66/6) ने जिस श्रेष्ठ शासन की व्यवस्था बताई है उसे स्वराज्य शासन कहा है। इसका स्पष्ट वर्णन भी किया है — "आ यद्वामीयचक्षण मित्र वयं च सूरयः। व्यचिस्ठे बहुपाप्ये यतेमहि स्वराज्ये।" अर्थात् 'हे विशाल दृष्टिवालो! हे मित्रभाव से व्यवहार करने वालो! विस्तृत तथा बहुतों द्वारा

जिसका पालन किया जाता, ऐसे स्वराज्य में सब लोगों का हित साधन करने क लिए हम सब मिलकर यत्न करेंगे। 'ऋग्वेद में वर्णित' 'स्वराज्य' में शासनाधिकार अपने या अपने पक्ष की अधीन रखने की स्पर्धा नहीं है, प्रत्युत 'स्व' अर्थात् प्रत्येक मतदाता को परिष्कृत और परिपूर्ण करने की पराकाष्ठा है।

अथर्ववेद की ग्राम सभा, राष्ट्र समिति ओर मंत्रिमण्डल, ऋग्वेद का स्वराज्य और एतरेय ब्राह्मण में राज्य के प्रकार, सम्पूर्ण वसुधा का एक राष्ट्र और उसमें 'महाराज्य' की विश्व सरकार की कल्पना के अनेक आयाम ऐसे हैं जिन्हें या तो आधुनिक सभ्यता, शासन व्यवस्था और सत्ता प्रतिष्ठान के मालिकों ने भ्रष्ट कर दिया है या यह सब उनकी पहुंच के बाहर है अथवा अपने अतीत की उपलब्धियों से वे पूरी तरह अनभिज्ञ हैं। ऋग्वेद के स्वराज्य और अथर्ववेद और एतरेय ब्राह्मण की शासन व्यवथा में राज्य सत्ता और अर्थशक्ति के ऊपर से नीचे की आरे नहीं, नीचे से ऊपर की ओर जाती थी। केन्द्रीय सत्ता को अर्थ और राजशक्ति ग्राम सभा में निहित जनशक्ति में से मिलती थी। ग्रामसभा की अवज्ञा करने वाले राष्ट्र समिति और मंत्रिमण्डल के अध्यक्ष को जनता पदच्युत कर देती थी। राज्य और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सेना और सेवा के लिए धन–कोश बनाने के लिए ग्राम सभाएं अपनी आय का छठा भाग स्वेच्छा से राजकोश में देती थीं। केन्द्रीय सत्ता को यह धन मांगना नहीं पड़ता था। ग्राम सभा अपना धर्म मानकर यह कार्य स्व–प्रेरणा से करती थीं ओर जो ग्राम सभा राजकोश को अपनी आयु का छठा भाग नहीं देती थी, ग्राम की जनशक्ति उसका पुनर्गठन करती थी। ग्राम सभाएं पूर्ण स्वायत और आत्मनिर्भर होती थीं।

गांधी जी का ग्राम स्वराज्य लोहिया के चौखम्भा राज्य, दीनदयाल के एकात्म मानववाद की आधारभूमि स्वयंपूर्ण, आत्मनिर्भर, स्वायत्त, संविधान द्वारा पूर्णतः संरक्षित पंचायत की प्रेरणा, वैराज्य के स्वराज्य और महाराज्य की वेद एवं एतरेय ब्राह्मण विहित अवधारणा है। राजीव जिस पंचायती राज का प्रचार कर रहे हैं उसमें गांधी जी के ग्राम स्वराज्य का बीज नहीं है। राजीव का पंचायती राज केन्द्रीय सत्ता पर निर्भर पूर्णतः परजीवी इकाई होगी जो केन्द्र सरकार के एजेंट के रूप में कार्य करेगी यह केन्द्रीय योजना आयोग, केन्द्र और राज्यों की सरकारों की योजनाओं को नीचे तक पहुंचाने का मात्र एक साधन होगी।

आक्रमण की शुरूआत

राजीव के पंचायती राज के अन्तर्गत 'सत्ता जनता को' देने की घोषणा के कारण जो लोग खुश हो रहे हैं वे यह समझ लें कि यह पंचायती राज जनता को सत्ता नहीं देगा। यह 'जनसत्ता' को गुलाम बनाकर अपने पक्ष में बनाए रखने का मायाजाल है। कोई यह समझने की भूल न करें कि इस पंचायती राज में ग्राम सभाएं अपनी योजना स्वयं बनाएं, और उनका क्रियान्वयन भी स्वयं करेंगी। ग्राम की योजना केन्द्रीय

योजना आयोग की कृपा पर आश्रित होगी। उसकी स्वीकृति के बिना ग्राम पंचायत कुछ भी नहीं कर पाएगी। यह दीनदयाल उपाध्याय की कल्पना का वह पंचायती राज नहीं होगा कि जिसमें ग्राम भू—राजस्वका एक बहुत बड़ा भाग ग्राम पंचायतों की सांविधानिक अधिनियम के अन्तर्गत स्वतः मिल जाएगा। बिना किसी पूर्व निर्धारित रूपरेखा के राजीव द्वारा प्रचारित पंचायती राज निराकार ब्रह्म की तरह है। भू—राजस्व ग्राम पंचायतों को देने की घोषणा उत्तर प्रदेश सरकार ने की है किन्तु वह केवल घोषणा है। यह पंचायत राज ग्राम स्तर तक राष्ट्र का राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक विभाजन करेगा। यह भूख, नग्नता और बीमारी से मुक्त आत्मनिर्भर ग्राम जीवन निर्माण नहीं होने देगा।

ग्राम स्वराज्य की अवधारणा पर सबसे बड़ा आक्रमण प्रथम पंचवर्षीय योजना से आरम्भ हुआ। पश्चिमी तौर—तरीके पर देश का औद्योगिकरण करने की होड़ में गांवों को शहरों की बैसाखी पर टांग दिया गया। जब पण्डित नेहरू द्वारा नई औद्योगिक संस्कृति वाले बड़े—बड़े बांधों और कल—कारखानों को आधुनिक देवालय कहा गया तो गांधी के चर्खे को चूल्हे में जला दिया जाना उसकी स्वाभाविक परिणति बना। जब भारत के तत्कालीन वाणिज्य मंत्री श्री टी०टी० कृष्णमाचारी ने अपने सरकारी कक्ष में लगे चर्खे के चित्र की ओर संकेत करके कहा कि "जब तक यह चरखा यहां टंगा रहेगा, भारत का आर्थिक और औद्योगिक विकास नहीं हो सकता," उसी क्षण गांवों की सरकारी और आर्थिक गुलामी और अधिक मजबूत ही नहीं हुई, अपितु वे पूर्ण रूप से सत्ताजीवी बन गए। गांधी जी का चरखा केवल सूत कातने का यंत्र नहीं, वह भारत की विकेन्द्रित और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का प्रतीक था। वैदिक परम्परा की यह ग्राम—व्यवस्था उसमें जुड़ी हुई थी, जिसमें से स्वावलम्बी ग्राम स्वराज्य और सार्वभौम राष्ट्र स्वराज्य का जन्म हुआ था।

संविधान में चौसठवां संशोधन करके राजीव जनता को जो सत्ता सौंपना चाहते हैं वह ग्राम स्वराज्य की वह जनसत्ता नहीं है, जिसकी उत्क्रान्ति में से राष्ट्र समिति और स्वराज्य का उदय होता है। यह पंचायती राज व्यवस्था भारत की वैदिक परम्परा की नहीं, अंग्रेजों की सहजात सोच की उपज है। अंग्रेजी शासन केन्द्र और राज्यों से नीचे नहीं गया। यदि कुछ सीमा तक आगे गया भी तो अपनी केन्द्रीय सत्ता का विस्तार मात्र है। यह न सत्ता का भावात्मक विकास है, न विकेन्द्रीकरण। यह गांधी जी और उन के ग्राम स्वराजय की स्वीकृति नहीं, गांधी का अपमान हैं। गांधी गांवों की आत्मनिर्भरता में स्वराज्य की सफलता मानते थे। जिस सत्ता संचालन में अपनी विकास योजनाओं के निर्माण और क्रियान्वयन में राज्य सरकारें तक स्वतंत्र नहीं हैं, योजना आयोग और केन्द्रीय सत्ता के संचालकों की मुखापेक्षी हैं उसके अन्तर्गत ग्राम पंचायतें अपने निर्माण की योजना बनाकर उसका क्रियान्वयन करने के लिए स्वतंत्र होंगी, यह दिवास्वप्न नहीं तो और क्या है ? यदि केन्द्र के रास्ते में राजनीतिक रोड़ा

बनने वाले राज्य सरकारें सांविधानिकता के नाम पर भंग कर दी जाती हैं तो पंचायतों की क्या बिसात ?

आधारभूत चिंतन

स्पष्ट है, आधारभूत और अनुभूत चिंतन के अभाव के कारण वोट राजनीति के दबाव में किया जा रहा यह कार्य अकारथ होगा। वस्तुतः हमारी यह कमजोरी आज की नहीं आजादी के संघर्ष के समय से ही है। स्वराज्य के बाद स्वराष्ट्र की रचना में कोई मोटी–मोटी रूपरेखा भी बनाने की ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। उस समय गांधी जी और गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसों ने चेताया तो उसके उत्तर में कहा गया कि "पहले स्वराज्य मिल जाय, फिर देश की सोचेंगे।" "स्वराज्य पहले और देश की साधना बाद में की बात ने ही हमें भित्ति और आधारहीन स्वराज्य प्रदान किया। रवीन्द्रनाथ ने ठीक ही कहा था, "हमारे यहां मनुष्य देश में कवल जन्मग्रहण करता है, वह देश की सृष्टि नहीं करता। देश के अनिष्ट से प्रत्येक व्यक्ति को अनिष्ट बोध नहीं होता। हम अपने देश और राष्ट्र सत्य को आयतन और आकार में नापते हैं और गीता का यह संदेश भूल जाते हैं कि सत्य का बल आयतन में नहीं, स्वयं अपने में होता है।"

अपने राष्ट्र के बल का बिन्दु भुला देने के कारण हम स्वराज्य को मूली-गाजर समझ बैठे। जबकि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, "विश्व में विधाता का जो अधिकार है, वही उसका स्वराज्य है, अर्थात विश्व की सृष्टि करने का अधिकार। हमारा स्वराज्य भी वैसा ही है, अर्थात् अपने देश का स्वयं निर्माण करने का अधिकार। जिस गांव के लोग शिक्षा, स्वस्थ्य, अन्नोपार्जन और दूसरे कार्य हंसी-खुशी और मिल-जुलकर कर करते हैं वह गांव सारे भारत के स्वराज्य पथ पर दीप जलाता है। भारत के ग्राम–ग्राम में जो सामाजिक स्वराज्य व्याप्त था, उस पर राज्य शासन ने अधिकार कर लिया। यह शासन परिपक्व हुआ तो गांव–गांव में तालाब का पानी सूख गया। मंदिर की पुरानी अतिथिशालाएं खाली पड़ गईं। उनमें पीपल के पेड़ उग आए। झूठे मुकदमों के जाल से लोगों को बचाने वाला कोई नहीं रहा। रोग, दैन्य, अज्ञान तथा अधर्म उसे रसातल की ओर ले गए।"

राजीव के पंचायती राज में भी भारत के सामाजिक और ग्राम स्वराज्य को राज्य शासन का गुलाम बनाने की अन्तर्भूत प्रक्रिया विद्यमान है। इस पंचायती राज प्रक्रिया के द्वारा वे अपने एक "नायकत्व" की पुष्टि करना चाहते हैं। हमारी संस्कृति इसका निषेध करती है। इस प्रक्रिया में जनसाधारण की सहज सहभागता नहीं, सरकारी प्रेरणा ओर प्रोत्साहन प्रमुख है। यह हमारे गुरूजनों की इस चेतावनी के विरीत है कि "देश के भाग्य–निर्माण में यदि जनसाधारण का चित्त सहज रूप से सम्मिलित होता है तो ही निर्माण प्रक्रिया सजीव और स्थायी होती है। जो अपने "एक नायकत्व" पर लुब्ध

होता है वह दूसरों के चित्त को अशिक्षा द्वारा जड़ बनाना चाहता है। जनता का भाग्य यदि उसकी अपनी इच्छा से निर्मित और पोषित न हो तो एक ऐसा पिंजरा तैयार हो जाता है जिसमें दाना—पानी तो पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है, लेकिन उसे हम घोंसला नहीं कह सकते। वहां रहने वाले पक्षी के पंख निर्जीव हो जाते हैं। एक नायकत्व जहां भी हो – शास्त्र में, गुरू में या राष्ट्र नेता में – उससे मनुष्य की हानि होती है। नायक चालित देश मोहाच्छन्न हो जाता है जब एक जादूगर उससे विदा होता है तो कोई और जादूगर किसी और मंत्र की सृष्टि करके उसे महोमोहाष्टि कर देता है।"

पंचायती राज के अधांधुंध प्रचार में 'एक नायकत्व' की स्थापना की दूषित योजना स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रक्रिया में शहर बलवान बनेंगे, गांव अपंगु और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह कथन सत्य सिद्ध हो जाएगा कि "अब नगर नितांत नगर हो उठा है उसके खिड़की—दरवाजों से गांव का प्रवेश नहीं होता। इसी को कहते हैं "घर के लिए आंगन विदेश। नगर के चारों ओर गांव है, परन्तु ऐसा लगता है मानों वे शत योजन दूर हैं।"

किन्तु जब कोई महाभारत के व्यास की भांति दोनों हाथ ऊपर उठाकर कहता है कि "भाई मेरी सुनी, सही रास्ता वह नहीं, यह है तो बदले में राजीव और उनके दरबार के नवरत्न उसे पंचायतों का विरोधी बताकर इस कथा की तरह रूपायित हो उठते हैं कि "किसी दवाखाने में डाक्टर के पास एक बूढ़ा आया करूण स्वर में बोला, "बुखार"। डाक्टर ने झटपट एक अत्यंत कड़ुवी दवा उसके गले से नीचे उतार दी। बूढ़ा हांफने लगा। डाक्टर को रोकने का उसे समय ही नहीं मिला। उस समय किसी ने डाक्टर से कहा, "डाक्टर साहब, बुखर इसे नहीं, इसकी पत्नी को है," तो डाक्टर ने जवाब दिया, "तो फिर तुम ही इलाज क्यों नहीं करते ? मैंने कम से कम एक दवा तो किसी को पिलाई, तुम तो केवल आलोचना कर रहे हो।"

प्रश्न यह है कि वास्तविक समस्या क्या है ? बीमारी मां को है कि बाप को? बीमार मां है, दवा बापको पिलाई जा रही है। बापको दवा पिलाने से यदि मां स्वस्थ नहीं हो सकती तो अपने—एकनायकत्व' की स्थापना के लिए केन्द्रीय राज्य शासन के अन्तर्गत न ग्राम स्वराज्य की स्थापना हो सकती है, और न सत्ता जनता को मिल सकती है। अपने देश के परम्परागत अधिष्ठान की स्थापना करने का बीज और इच्छाबल राजीव कल्पित पंचायती राज में नहीं है। इस योजना के अन्तर्गत कुछ लोगों को पद् और कुछ को पैसा अवश्य मिल जाएगा। जिन्हें यह मिलेगा वे केन्द्रीय सत्ता के अधीन परजीवी, परावलम्बी, ग्राम पंचायत के सरकारी कारिन्दा तो बन सकते हैं, आत्मनिर्भर जनशक्ति की उत्क्रान्ति करने वाले ग्राम स्वराज्य के निर्माता नहीं।

16 जुलाई 1989

समता और बंधुता की आदि भूमि

सन् 1789 और 1989 की चौदह जुलाई! दो सौ वर्ष का समय बीत गया। 1789 की चौदह जुलाई को फ्रांस की राज्य की क्रांति आरम्भ हुई थी। एक लम्बी, रक्तपात से परिपूर्ण संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा फ्रांस की जनता ने राजशाही के सर्वसत्तावाद का ध्वंस करके अपना जनाधिकार अर्जित किया था। कहा गया था कि अब आम आदमी अपने भाग्य का निर्माता और नियन्ता स्वयं होगा। स्वतंत्रता, समता और बंधुता का मंत्र फ्रांस की राज्य क्रांति के अनुष्ठान का चरम बन कर प्रगटा। मानवाधिकार को प्रतिष्ठा मिली। फ्रांसीसी क्रांति को 'आदि क्रांति' की संज्ञा प्रदान की गई। राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता और जनशक्ति की सार्वभौतिकता का अहसास पश्चिमी जगत को पहली बार स्पष्ट और प्रभावी रूप में हुआ। विश्व के भूगोल पर राष्ट्रों की गरिमामय सीमाओं के निर्धारण के साथ-साथ राजा के स्थान पर जनता अपने देश का प्राण बनी।

पश्चिमी देशों का दम्भ

पश्चिमी जगत का दावा और दम्भ अन्य क्षेत्रों की तरह राज्य क्रांतियों, स्वतंत्रता, समता, बंधुता और आम आदमी के राष्ट्रीय अहसास और अवदान पर भी लागू होता है। कृषि-क्रांति की दस हजार वर्ष की यात्रा के अनुभव के आधार पर लगभग चार शताब्दी पूर्व शुरू हुई केन्द्रीकृत औद्योगिक विकास को औद्योगिक क्रांति का नाम देकर विश्व के उस हिस्से को जंगली और अंधयुगीन सिद्ध किया गया जो दर्शन, साहित्य, संस्कृति, शिल्प, कला, उद्योग समुद्री व्यापार और समाज रचना के क्षेत्र में प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका था और जिसने पश्चिम को प्रकृति और सृष्टि का रहस्य जानने की जिज्ञासा और दृष्टि प्रदान की। सभ्यता के क्षेत्र में कभी सिरमौर रहे राष्ट्रों के पतन और उनकी गुलामी के कारण पश्चिमी जगत को भौतिक विकास की प्रत्येक प्रक्रिया और जनाधिकार की प्रत्येक अवधारणा का आदिस्रोत स्वयं को सिद्ध करने का अवसर मिला। पश्चिम के आधुनिक बच्चा राष्ट्रों के भौतिक और सांस्कृतिक दादागिरी ने दूसरे देशों में हीनभावना को जन्म दिया। परिणामतः वे आत्मगौरव तो भूले ही, अपनी राष्ट्रगौरव और राष्ट्रीय परम्परा को तिलाजंलि देकर गोरे गुरूओं की गुलामी में गौरव का अनुभव करने लगे।

क्रांति की धुरी टूट गई

प्रथम महायुद्ध के आसपास से लेकर द्वितीय महायुद्ध के बाद गुलामी का तौंक तोड़ने का आन्दोलन आरम्भ हुआ तो एक के बाद दूसरा देश सामन्ती और पश्चिमी साम्राज्यवाद के चुंगल से स्वतंत्र होने लगा। गोरे शासन से मुक्त भूरे और काले लोगों का एक नया संसार बना। भौतिकता से समृद्ध किन्तु संवेदनशून्य तथाकथित विकसित देशों ने भूगोल पर एक तीसरा विश्व बनाया जो धन से कंगाल, शरीर से स्वतंत्र किन्तु मन से गुलाम है। स्वतंत्रता, समता और बंधुता की जिस धुरी पर फ्रांस की राज्य क्रांति हुई थी वह धुरी फ्रांस की राजशाही की समाप्ति के साथ ही टूट गई। फ्रांस दुनिया को गुलाम बनाने, भौतिक और सांस्कृतिक शोषण करने की होड़ में किसी से पीछे नहीं रहा। दूसरे देशों की तरह उसने भी अपने उपनिवेश बनाए और उन फ्रांसीसी उपनिवेशों से इंग्लैण्ड और पुर्तगाल की तरह उसने भी स्वतंत्रता, बंधुता और समता को सदा सूली पर टांग कर रखा।

'आदि क्रांति' का मूल देश

फ्रांसीसी राज्य क्रांति को 'आदिक्रांति' कहने वाले लोगों ने इतिहास को अपनी मुट्ठी में बन्द करना चाहा कि उह उसी बिन्दु से अपनी यात्रा का आरम्भ करे जिसे वह 'आदि' कहे। यदि वे प्रामाणिक या ईमानदार होते तो क्रांति का 'आदि स्रोत' दो सौ साल पूर्व के कल के फ्रांस के राजनीतिक कोलाहल में नहीं, भारत के वैदिक काल के ऋषियों के नेतृत्व में हुई प्रथम राजनीतिक क्रांति में खोजते। राजा वेन को ऋषियों द्वारा अपदस्थ करके जनता की राय से दूसरे व्यक्ति को सत्ता सौंपने का कार्य फ्रांस के जन्म के कई हजार वर्ष पूर्व भारत में हुआ थ। महाभारत के शांतिपर्व में जनक्षोभ के कारण हुई इस राज्य क्रांति का उल्लेख है। भारत के घर–घर में प्रहलाद द्वारा हिरण्यकशिपु को राज्यच्युत करने की कथा राज्यक्रांति की ही कथा है। योगी अरिविन्द ने योगेश्वर श्रीकृष्ण को पांच हजार वर्ष पूर्व का प्रथम राजनीतिक विप्लवी कहा है। कृष्ण की गीता का प्रत्येक श्लोक क्रांति का मंत्र है। वैदिक युग से लेकर रामायण–महाभारत और चाणक्य के बाद से अब तक भारत में इतनी राजमीतिक–सामाजिक क्रांतियां की जा चुकी हैं कि फ्रांस की राज्य क्रांति उनकी प्रतिनिधि होने योग्य भी नहीं है।

फ्रांसीसी राज्य क्रांति के विश्लेषण का निष्कर्ष जनाधिकार, स्वतंत्रता, समता और बंधुता पर एक दुःखद टिप्पणी के रूप में प्राप्त होता है। वैसे देखा जाय तो फ्रांसीसी क्रांति पश्चिम की पहली क्रांति नहीं थी। 1649 में क्राम्वेल, 1778 में अमरीकी क्रांति की कतार में 1789 की यह क्रांति भी खड़ी मिलती है। फ्रांसीसी क्रांति की प्रेरणा उसकी जितनी और मौलिक प्रेरणा नहीं थी। वह आस–पास के माहौल का परिणाम थी। एंजेल्स भी इसकी पुष्टि करते हैं कि 'क्रांतियां किसी की इच्छा और निर्णय से

नहीं होतीं। वे क्रांतिपूर्व की उन परिस्थितियों का परिणाम होती हैं, जिन पर दलों और वर्गों का प्रभाव नहीं होता।'

फ्रांसीसी क्रांति के पूर्व और बाद की क्रांतियों की तरह फ्रांसीसी क्रांति भी अपनी घोषणाओं से भटक गई है। वह एन्जेल्स की इस चुनौती का दावे के साथ उत्तर नहीं दे पा रही है कि 'क्रान्ति के पूर्व की घोषणाओं और क्रांति के बाद उसके क्रियान्वयन के बीच एक गहरी खाई रहती है और किसी भी क्रांति ने आज तक जनता के प्रति अपने आश्वासन पूरे नहीं किए। वर्जिनाऊ के इस कथन के अनुसार कि "क्रांति अपने ही बच्चों को खा जाती है", फ्रांसीसी क्रांति भी अपनी घोषणाओं, आदर्शों और सिद्धान्तों को एक—एक करके खा रही है। स्वतंत्रता, समता ओर बंधुता में से वह अब तक समता और बंधुता को खा चुकी है। स्वतंत्रता और जनाधिकार को वह केवल इसलिए नहीं खा पा रही है कि उनके आसपास एक ऐसा रक्षा कवच बन गया है जिसको भेद पाना उसके बूते और हित की बात नहीं है। फ्रांसीसी राष्ट्र—राज्य की सुरक्षा के लिए भी वह आवश्यक है।

जनाधिकार की मान्यता और उसके प्रथम उद्घोषक के प्रश्न पर इंग्लैण्ड फ्रांस की इस घोषणा का विरोध कर रहा है कि जनाधिकारियों का प्रथम प्रवक्ता फ्रांस है। उनका कहना है कि यदि जनाधिकारों का प्रथम उद्घोषक फ्रांस है तो उसके पूर्व मेगनाकार्टा की घोषणा क्या थी?

मितरां का शाही ठाट

समता और बंधुता की अपनी घोषणा का फ्रांस स्वयं उपहास कर रहा है। 14 जुलाई, 1789 में फ्रांस की गरीब जनता ने राजशाही और अमीरों के विरूद्ध विद्रोह किया था, 14 जुलाई 1989 फ्रांसीसी क्रांति की द्विशताब्दी पर फ्रांस सहित विश्व के सात सम्पन्न देशों ने पेरिस में एकत्र होकर तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की आर्थिक कंगाली पर घड़ियाली आंसू बहाते हुए अपना व्यापार बढ़ाने और खजाना भरने की योजनाएं बनाइं। उत्तर—दक्षिण सम्वाद की पेशकश को अमान्य कर दिया। अमीर देश गरीब देशों से समानता के आधार पर साथ—साथ बैठकर बात नहीं करेंगे। दो सौ वर्ष पूर्व फ्रांसीसी जनता ने क्रांति करके जिस राजतंत्र को उखाड़ फेंका था दो सौ वर्ष बाद उसी क्रांति के समारोह में समाजवादी फ्रांसीसी राष्ट्रपति मितरां ने जो शाही ठाटबाट दिखाया उसे देखकर राजशाही को भी लज्जा आ जाती। समता का शब्द सुनते ही आज का फ्रांस क्रुद्ध हो जाता है। 'बंधुता' की शब्द ध्वनि कानों में पड़ते ही वह किसी अज्ञात भय से कांपने लगता है। समता और बंधुता के प्रति अपनी अश्लीलता और घृणा को स्वंत्रता के पारदर्शी वस्त्र से ढककर अपनी इज्जत बचाने का वह हर सम्भव प्रयास कर रहा है। वह अपने देश के भी कंगालों और पिछड़े लोगों को यह अवसर नहीं देना चाहता। समता और बंधुता उसके लिए एक

कल्पित दैत्य के समान है। 'राष्ट्रपति मितरां के एक समय के सलाहकार रेगिस डेब्रे और फ्रांस के अधिकांश बुद्धिजीवी फ्रांसीसी जनता को यह समझाने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं कि 1789 की राज्यक्रांति अब खत्म हो चुकी है। फ्रांस की राज्य शक्ति ने जनशक्ति पर अपना पंजा जमा लिया है। अंदर और बाहर से भी आर्थिक साम्राज्यवाद को सुदृढ़ करने के अतिरिक्त फ्रांस का अब और कोई उद्देश्य नहीं है। फ्रांस की क्रांति दो सौ वर्ष बाद अब दक्षिण और वामपंथ की बहस में फंस गई है। आर्थिक बाजार का जंगली कानून बनाकर विश्व के छः बड़े औद्योगक देशों के साथ फ्रांस भी दुनिया का आर्थिक बंटवारा करने की शतरंजी चाल चल रहा है।

भेद–भाव

फ्रांस ने समता और बंधुता की निर्लज्ज अवमानना का ताजा उदाहरण प्रस्तुत किया। गत 14 जुलाई, 1989 को क्रांति की द्विशताब्दी समारोह में सम्मिलित होने के लिए फ्रांस ने भारत सहित तीस देशों को आमंत्रित किया था। संयुक्त राष्ट्र संघ के 158 सदस्य राष्ट्रों में से केवल तीस राष्ट्रों को ही यह न्यौता क्यों दिया गया इस सवाल का जवाब अभी तक किसी ने नहीं मांगा। समता और बंधुता की तुला का यह असंतलुन क्या फ्रांसीसी क्रांति के घोषित आदर्शों के विरूद्ध नहीं है ? तीस देशों के जो राष्ट्राध्यक्ष और शासनाध्यक्ष पेरिस पहुंचे उनमें से छः बड़े औद्योगिक और विकसित देशों – अमरीका, कनाडा, इंग्लैण्ड, पश्चिम जर्मनी, जापान और इटली के राष्ट्राध्यक्षों और शासनाध्यक्षों की विशेष और शेष चौबीस देशों के शासनाध्यक्षों के लिये सामान्य व्यवस्था की गई। 14 जुलाई को आयोजित रात्रि भोज में भी भेदभाव किया गया। अमरीका, कनाडा, पश्चिमी जर्मनी, इंग्लैण्ड, जापान और इटली के राष्ट्राध्यक्षों और शासनाध्यक्षों को राष्ट्रपति मितरां ने अलग भोज दिया और उनके साथ वे स्वयं उपस्थित रहे। शेष चौबीस देशों, जिन में भारत के प्रधानमन्त्री राजीव भी शामिल थे, को राष्ट्रपति मितरां की पत्नी और प्रधानमन्त्री ने ठीक उसी समय अलग भोज दिया। समता और बंधुता के आदर्शों की स्थापना का दावा करने वाला फ्रांस छोटे–बड़े, अमीर–गरीब, और ऊंच–नीच के आधार पर व्यवहार करे और वह भी अपने आमंत्रित, सम्मानित राष्ट्रों के साथ – तो इसे क्या कहेंगे ?

तीसरी दुनिया को सबक

मितरां ने फ्रांस की सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता को जिस अश्लीलता के साथ केवल कल्पित और शाब्दिक सिद्ध किया है उससे भारत सहित समस्त तीसरी दुनिया को सबक सीखना चाहिए। जनाधिकार और स्वतंत्रता के प्रति फ्रांस और पश्चिमी राष्ट्रों की उनकी निष्ठा के कारण नहीं बाध्यता के कारण है। अमरीका के नीग्रो और दक्षिणी अफ्रीका के काले लोगों की नारकीय और घृणास्पद जिन्दगी इन्हीं राष्ट्रों की देन हैं। स्वतंत्रता, समता और बंधुता शब्द प्रयोग वे शौकिया तौर पर अपना बाजार भाव

बनाए रखने के लिए करते हैं। शब्दों के अर्थ और उनकी गरिमा से उनका कोई वास्ता नहीं है। शब्दों की गरिमा और संस्कार भारतीय संस्कृति का बीजभाव है। यह भावना भूगोल के इस भूखण्ड पर रहने वालों को हिन्दू संज्ञा प्राप्त होने के पूर्व से ही प्रतिष्ठित है। वैदिक ऋषियों द्वारा रचित इस ऋचा के बाद फ्रांसीसी क्रांति की तथाकथित आदि अवधारणा भारत की अनुगामी से अधिक और कुछ नहीं रह जाती कि—

अय निजा परोवेति गणना लघु चेतसाम्
उदार चरितानाम् तु बसुधेव कुटुम्बकम्।

अर्थात यह अपना, वह पराया है यह गणना करने वाले लोग तुच्छ होते हैं। उदार चरित्र वालों के लिए सारी वसुधा एक कुटुम्ब है। किन्तु यह अनुभूति यदि पश्चिम के रक्त और बीज में ही नही हैं तो वे सबको समान और बंधु कैसे मानें? स्वदेशों भुवनत्रयं का उद्घोष करके भारत का कोई हिन्दू संन्यासी ही तीनों लोकों को स्वदेश स्वीकार कर सकता है, पश्चिम के सौदागर राष्ट्र और नागरिक नहीं। समता और बंधुता की आदि भूमि भारत है, फ्रांस नहीं। फ्रांसीसी राज्य क्रांति की द्विशताब्दी समारोह के अवसर पर फ्रांस ने समता और बंधुता को अपने घर बुला कर अपमानित किया है। पता नहीं इस अपमान का अहसास पेरिस गए भारत सहित उन चौबीस राष्ट्रों ने किया कि नहीं जिनके साथ रहन—सहन, बातचीत और भोज तक में भेदभाव किया गया और जिन्हें अपने आर्थिक साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़ने के लिए सात बड़े औद्योगिक देशों ने अलग बैठकर सामूहिक रूप से योजना बनाई।

30 जुलाई 1989

राजीव की पक्षधरता का अर्थ

राष्ट्रभाव सुप्त होता है तो जो कुछ आज के भारत में हो रहा है, वही सब होता है। राज्य और सत्ता की राजनीति राष्ट्रनीति राष्ट्र और राष्ट्रनीति की तुलना में अधिक प्रबल हो जाती है तो राष्ट्रजन सरकार के द्वार पर भिखारी से अधिक और कुछ नहीं रह जाते। सरकार पर निर्भर समाज आत्मनिर्भर नहीं हो पाता। आत्मनिर्भरता का अभाव आत्मग्लानि उत्पन्न करके राष्ट्रजन को परजीवी बना देता है। परजीविता में अन्याय, अत्याचार, अनाचार, कदाचर, घूस, लूट-खसोट और लोभ—लालच से लड़ने का बल नहीं होता। राष्ट्रजन अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य-बोध गंवा देते हैं तो जनतंत्र और जनमत का कोई अर्थ नहीं रह जाता। तब सत्ता पुरूष शासन नहीं चलाते, सरदारी करते हैं। आर्थिक विकास नहीं करते, सौगात बांटते हैं। आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण नहीं, केन्द्रीकरण करते हैं।

छल की पुरानी शुरूआत

यह राजनीतिक छल केवल अस्सी के दशक में शुरू नहीं हुआ। साठ के दशक में जब श्रीमती इंदिरा गांधी ने पहले अपने बिखरे हुए विचार बंगलौर के शीशमहल में हो रही कांग्रेस की कार्यसमिति में भेजे, फिर कांग्रेस को तोड़ा और राष्ट्रपति पद के लिए स्वंय द्वारा प्रस्तावित प्रत्याशी संजीव रेड्डी के साथ अन्तरात्मा की आवाज के नाम पर राजनीतिक विश्वासघात करके वी०वी० गिरि को जिताकर अपने दल के उम्मीदवार को हराया, तभी से यह छल चल रहा हैं। तब जनता के नाम पर राजाओं का जेब-खर्च समाप्त किया गया था। बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया। गरीबी हटाओ का नारा दिया गया था। चुनाव में पोस्टर छपे, 'मैं कहती हूं गरीबी हटाओ, वे कहते हैं इंदिरा हटाओ, अब आप ही सोचिए।' देशवासियों ने सोचा, 'इंदिरा जी ठीक कह रही हैं। देश में जनतंत्र आ गया है तो राजतंत्र के अवशेष क्यों बने रहें? देश के सभी जन समान रहने चाहिएं किसी को विशेषाधिकार क्यों? कोई प्रजा क्यों रहे? जनता के धन पर कोई राजवंश भोग-विलास क्यों करे? क्यों किसी दल के कुछ नेता देश की सरकार को अपने मन के मुताबिक चलाएं? इसलिए समाजवादी इंदिरा सरकार के रास्ते में रोड़ा अटकाने वालों को राजनीति के हाशिए पर खड़ा कर देना या राजनीति के कूड़ेदान में फेंक देना ही अच्छा।'

इंदिरा जी ने जो कुछ किया उसे स्वीकृति देने के लिए देशवासी पागलपन की सीमा लांघ गए। उन्हें लगा कि 'अब उनकी गरीबी मिटी। अब सत्ता में उनकी वास्तविक साझेदारी हुई।' अतएव 1971 चुनावों में मतदाताओं ने लोकतांत्रिक राष्ट्रीय गठजोड़ को सत्तालोभियों का चौगुटा कहकर लात मार दी। गरीबी हटाने के नाम पर इंदिरा जी सबको रौंदती हुई लोकप्रियता की लहर पर सवार होकर देश की एकछत्र नेता बन गईं। 1971 के चुनाव के समय उन्होंने इतने शिलान्यास किए कि बाद में उनका पता लगाना भी कठिन हो गया। चुनाव के ठीक पूर्व जनता को लोभ–लालच में फंसाने का शिलान्यास तभी से एक सटीक उपाय बन गया। तब से अब तक के प्रत्येक चुनाव का यही इतिहास है। हरियाणा और तमिलनाडु के चुनाव के पूर्व राजीव ने भी इतने आश्वासन दिए, इतनी घोषणाएं कीं और इतने शिलान्यास किए कि अब उन्हें स्मरण रखने के लिए एक अलग मंत्रालय की आवश्यकता हैं वहां चुनाव में हार जाने के कारण अब राजीव यह आवश्यक नहीं समझते कि उन्होंने जो कुछ कहा और किया है उसको स्मरण रखना और पूरा भी करना है अपनी मां की तरह अब वे भी यह कहने लगे हैं कि गैर-इंकाई राज्य सरकारें जो कुछ आर्थिक विकास कर रही हैं वह मेरा धन है, वह आर्थिक अनुदान मेरी सरकार ने दिया है, वर्ना ये सरकारें क्या कर पातीं। राजीव की यह सामन्तवादी अदा लोकतांत्रिक व्यवस्था का मटियामेट कर रही हैं राष्ट्रीय एकात्मकता को केन्द्र और राज्य का यह चुनावी राजनीतिक मलयुद्ध कमजोर कर रहा है।

लोकतंत्र 'मैं' से नहीं 'हम' से चलता है। वह व्यक्तिवाचक नहीं, बहुवाचक है लोकतंत्र की इस बहुवाचकता को एक दल और एक व्यक्ति का बन्दी बनाने की जिस प्रक्रिया को अत्यन्त मासूमियत के साथ इंदिरा जी ने 1969 में शुरू किया था, 1989 में वह इंका का स्थायी भाव बन चुकी है। 1969 में 'सिंडीकेट' के चंगुल से कांग्रेस को मुक्त करने के इंदिरा जी के राजनीतिक जेहाद ने दो दशक में कांग्रेस को पूरी तरह अपने खानदान के खूंटे से बांध दिया। देश की गरीबी हटाते–हटाते गरीब इतने अधिक बढ़ गए कि अब उनकी गणना करना ही बहुत बड़ी मुसीबत है। अड़तालीस से बावन और अट्ठावन प्रतिशत देशवासियों के गरीबी की रेखा के नीचे होने के 'अलग-अलग' बांकड़े दिए जाते हैं। शिक्षित और अशिक्षित बेरोजगारों की सूची नही बन पा रही है। रोजगार कार्यालयों में जो नाम दर्ज हैं वे कुल बेरोजगारों का एक चौथाई भी नहीं है। उसमें नगरों के सभी शिक्षित बेरोजगारों का नाम भी दर्ज नहीं है, तो गांवों के बेपढ़ों की गिनती कौन करे?

अर्थात् जिन मुद्दों पर इंदिरा जी ने अपना राजनीतिक जेहाद शुरू किया था, वे मुद्दे और अधिक अनियंत्रित हुए हैं। उनका स्वरूप और अधिक बिगड़ा है। शिलान्यास के पत्थर पुरातत्व की निधि बन गए हैं कि कभी खुदाई की जाएगी तो 'विकास–प्रयास के चिहन' के रूप में पत्थर मिलेंगे कि कैसी-कैसी योजनाएं बनती थीं

तब। या फिर इन 'शिलाओं' की 'अहिल्या का उद्धार करने के लिए किसी 'राम' को अवतार लेना पड़ेगा।

बातें ही बातें

अब फिर नारे लगाए जाने लगे हैं। चुनाव का चक्र तेजी से घूम रहा है। 'सत्ता जनता को' का नारा हवा में तैर रहा है। नेहरू रोजगार योजना के दो हजार छह सौ करोड़ रूपए की थैली खनकाई और खाली की जा रही है। बड़े—बड़े प्रकल्पों का शिलान्यास किया जा रहा है। गरीबों को मालामाल करने के करिश्मों की कल्पित कथाएं सुनाई जा रही हैं। पिछड़े वर्गों को आर्थिक विकास की गारंटी दी जा रही हैं महिलाओं को सत्ता में तीस प्रतिशत की भागीदारी देने की घोषणाएं की जा रही हैं हरिजनों, वनवासियों, गिरिवासियों और कंगालों को गले लगाने की संवेदना दिखाई जा रही है। प्रत्येक परिवार में एक व्यक्ति को रोजगार देने, प्रत्येक गरीब और अर्द्धनग्न नारी को साड़ी बांटने, बच्चों को दूध, पढ़ाई और दवाई का प्रबन्ध करने, किसानों को बिजली—पानी देने, आयातित और उधार ली गई तथाकथित उच्च तकनीक के आधार पर देश का औद्योगिकरण करके मालामाल होने की बातें की जा रही हैं।

बातों की क्या बात है? बातें और भी हैं जो बताई जा सकती हैं। प्रश्न बातों, आश्वासनों और योजनाओं का नही है, प्रश्न है बातों, आश्वासनों और योजनाओं के पीछे की नियति का। प्रश्न यह है कि जो आश्वासन आज दिए जा रहे हैं, जो शिलान्यास आज किए जा रहे हैं, वे कब पूरे होंगे? आज की आवश्यकताओं की पूर्ति कल करने का आश्वासन देने का क्या लाभ? रोगी को दवा आज चाहिए, आश्वासन दस वर्ष बाद — बीसवीं सदी के अंत और इक्कीसवीं सदी के आरम्भ का दिया जा रहा है। शिलान्यासों के पत्थर अपने उद्धार के लिए कब तक किसी राम के आगमन की प्रतीक्षा करते रहेंगे कि वह उन पर पड़ी धूल हटाकर निर्माण की प्रक्रिया शुरू करेगा? राज्यों के आर्थिक विकास और प्रकल्पों की पूर्ति के लिए केन्द्र द्वारा किया जा रहा धन क्या किसी व्यक्ति, राजीव या किसी दल इंका का है? क्या राजीव इस देश के राजा हैं जो अपनी प्रजा का पालन करने की कृपा कर रहे हैं?

'सत्ता जनता को' देने की घोषणा करने वाला व्यक्ति, दल और तंत्र आत्मकेन्द्रित नहीं होता। वह जनमत को लोभ—लालच ओर भय दिखाकर खरीदता नहीं, उसको निष्पक्ष और निर्भीक अभिव्यक्ति का अवसर देता हैं सरकारी कोष को बांटकर वह गांव-गांव में अपने दल का अभिकर्ता और अपना राजनीतिक दलाल नहीं बनाता। धन, साधन, सत्ता और गुण्डा शक्ति के बल पर वह जनमत को भ्रष्ट नहीं करता। वह अपने आचरण, आदर्श और प्रशिक्षण द्वारा जनमत का परिष्कार करता है कि उसे चुनाव के समय एक-दो दिन की रोटी, एक साड़ी, कुछ समय के लिए रोजगार और कुछ पैसे के लालच में राष्ट्रहित बिसर न जाए। एक दिन की सुविधा, एक दिन की

बादशाहत, पांच साल की जलील—गलीज जिंदगी और शोषण के संताप की भट्टी में जो व्यवस्था, जो राजनीति, जो शासक, जो दल देश को झोंकने की गर्हित और दूषित चाल चलता हो वह न सत्ता जनता को देगा ओर न लोकमत को परिष्कृत होने देगा। सुप्त राष्ट्रभाव ही उसकी राजनीतिक शक्ति होती हैं। प्रबल राष्ट्रभाव वाले जागृत लोकमत को छल, लोभ-लालच, जातीय, साम्प्रदायिक, भाषाई, क्षेत्रीय तुष्टीकरण और भूखों को रोटी का चन्द्रमा दिखाकर गुमराह नहीं किया जा सकता। जागृत लोकमत परजीवी नहीं, आत्मनिर्भर होता हैं आत्मनिर्भरता व्यक्ति को लोभ-लालच से बचाती हैं उसका कर्त्तव्यभाव जागृत रखती हैं उसे राष्ट्र के हिताहित का विवेक प्रदान करती है।

बेमानी मर्यादाएं

गत दो दशक में राजनीति का जो चरित्र बना है उसमें मर्यादा, ईमानदारी और चरित्र के अतिरिक्त भ्रष्टाचार, अनैतिकता, विश्वासघात, सत्ता का दांव-पेंच, जनता के साथ छल-कपट सहित एब कुछ है। आज की राजनीतिक संस्कृति का राष्ट्रीय संस्कृति से कोई वास्ता नहीं है। उसके लिए सार्वजनिक जीवन की मर्यादाएं और मान्यताएं बेमानी हैं। बोफोर्स और सुरक्षा सौदों में कमीशन से प्राप्त धन और भारत के उद्योगपतियों की तिजोरी के नोट अपने ब्रीफकेस में भरकर, जीवों में सवार सत्ता के हजारों दलालों ने गांव—गांव घूमकर देशवासियों का ईमान खरीदने के हर संभव उपायों का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। यह माहौल बनाया जा रहा है कि देशहित और लोकतंत्र के प्रति यदि कोई एक व्यक्ति समर्पित है तो वह केवल राजीव हैं, शेष सभी राष्ट्र और जनता के शत्रु सामन्तवादी और 'सत्ता जनता को' देने के विरोधी हैं। बेरोजगारी समाप्त करने और कंगाली मिटाने के मार्ग में बाधक हैं। देश की जनता को एक दिन का 'दरिद्रनारायण भोज' कराकर बदले में पांच साल का सत्ता सुख खरीदने का प्रयोग और प्रयास प्रक्षेपास्त्र की गति से चलाया जा रहा है। और लोग कहने लगे हैं कि अब माहौल राजीव के पक्ष में बदल रहा है।

देश का माहौल राजीव के पक्ष में बदलने का अर्थ यह है कि देशवासी राजीव के भ्रष्टाचार को स्वीकार नहीं करते हैं, कि वे राजीव मुस्लिम अल्पसंख्यकवाद और तुष्टीकरण के समर्थक हैं, कि भारत में मानवधिकार को अमान्य करके अल्पसंख्यक अर्थात् मुस्लिम विशेषाधिकार को मान्य करते हैं, कि वे अपने साथ किए जा रहे राजनीतिक छल से अनभिज्ञ हैं, कि वे यह नहीं जानते की उनकी गरीबी, बदहाली, भूख, बीमारी तथा अशिक्षा को उनकी 'मूल संस्कृति' के रूप में सुरक्षित रखने में राजीव और उनके राजनीतिक कुनबे का निहित स्वार्थ है, कि देश की अखण्डता एवं एकता को सदा खतरे में डालकर रखना राजीव की सत्ता—राजनीति को रास आता है और उसे देशवासी अनेदखा करते हैं, कि वे इस प्रश्न पर विचार नहीं करना चाहते कि यदि भ्रष्टाचार के आरोप में जापान के तनाका और ताकीसोने प्रधानमंत्री का पद

त्याग सकते हैं तो भारत के राजीव अपने समस्त भ्रष्ट साथियों सहित सत्ता में क्यों बने रहते हैं, खुलेआम अपना ईमान खरीदने देना, बेईमान को अपना नेता मानकर उसे सत्ता ही नहीं, अपनी भाग्यडोर भी सौंप देना और फिर भ्रष्टाचार मुक्त, स्वच्छ प्रशासन, सदाचारयुक्त सार्वजनिक जीवन और चरित्र की अपेक्षा करना, विडम्बना और आत्मप्रवंचना ही नहीं तो और क्या है?

राजीव, उनका राजनीतिक कुनबा और उनकी सत्ता के दलाल राष्ट्र को रोटी बनाकर कंगालों की मजबूरी पर अपनी सत्ता राजनीति का महल बनाकर उसे धनपतियों के कालेधन और विदेशी कमीशन से सजाने में लगे हैं कि 'गरीब सुदामा' की तरह देश की गरीब जनता राजीव की चमकती 'द्वारका' दिल्ली में प्रवेश करने से घबड़ाए और सत्ता की महिमा को दूर से ही प्रणाम करके संतुष्ट हो जाय कि सत्ता उसके लिए नहीं, कुछ विशिष्ट जनों के लिए बनी है और विशिष्ट जनों का जन्म होता ही इसलिए है कि वे शेष लोगों पर शासन करें। ऐसे में लोकतंत्र नहीं चलता; लोकतंत्र का केवल नाटक चलता है भावना, उत्तेजना और मजबूरी के वशीभूत होकर अपना राजनीतिक निर्णय देने वाले लोकमत के समक्ष उसका राष्ट्र नहीं, उसकी बाध्यता ही हैं इस बाध्यता से मुक्ति का एकमेव उपाय है लोकजीवन का राष्ट्रभक्ति से परिपूर्ण होना और निजी स्वार्थ, दबाव और लोभ से मुक्त होकर राष्ट्रहित की कसौटी पर अपने निर्णय को परखना।

निर्णय का समय

इस बार भी राजनीतिक छल का जाल बिछाया जा रहा है। अतएव यही समय है अपनी बाध्यताओं के दबाव से मुक्त होकर, अपने अन्तर्यामी को साक्षी मानकर, अतीत के अनुभवों के आधार पर अपने भविष्य का निर्णय करने का। राष्टहित का ध्रुवतारा सामने रहेगा तो ही रास्ता मिलेगा, अन्यथा 'किन्तु—परन्तु' के भ्रमजाल के परिणाम स्वरूप आगामी पांच साल तक सत्ता के दलालों की चक्की में पीसे जाते रहेंगे। जनता अपनी सत्ता अपने हाथ में ले, इसका अर्थ है कि जनमत कुछ इस रूप में अभिव्यक्त हो कि जिन प्रतिनिधियों को वह सत्ता सौंपे, वे जनता के प्रति पूरी तरह प्रतिबद्ध और उत्तरदायी हों, और किसी दल, किसी व्यक्ति और खानदान विशेष के हित को वरीयता देने की सामन्ती प्रक्रिया और मानसिकता का अन्त हो जाए। इसी का अर्थ है सुप्त राष्ट्रभाव को जागरण और इनसे ही न जगाने देने की चालें चली जा रही हैं। प्रकल्पों, शिलान्यासों, —सत्ता जनता को' देने की घोषणाओं, नेहरू रोजगार योजना आदि का संदर्भ समाज—सुख नहीं, केवल चुनाव हैं। चुनाव के बाद फिर वही ढाक के तीन पात होंगे। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि इंकाई इस प्रश्न का उत्तर नहीं देते कि ये योजनाएं चार वर्ष पूर्व भी तो शुरू की जा सकती थीं, फिर चुनाव के समय ही क्यों?"

23 जुलाई 1989

लोकसभा में विरोधी दलों की सूनी सीटों की साक्षी

रूस के गोर्बाचेव के रूसी भाषा के पेरेस्त्रेइका (पुनर्रचना) और ग्लासनोस्त (खुलापन) शब्दों को स्वीकार करके अंग्रेजी शब्दकोश समृद्ध हुआ है तो बोफोर्स तोपों के सौदे में घोटाला कर कै राजीव ने भी एक ऐसे शब्द का योगदान किया है जो तोप और कारखाने से कटकर भ्रष्टाचार, अनैतिकता, झूठ, राष्ट्रीय एकता, अखण्डता, सुरक्षा का सौदा और लोकतंत्र का अनादर आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है। बोफोर्स अब भ्रष्टाचार का पर्यायवाची बन गया है। यह शब्द सुनते ही ऐसे व्यक्तियों और कार्यों का चित्र साकार हो उठता है जो भ्रष्ट हैं और जिनमें घोटाला किया गया है।

गत दो वर्षों से बोफोर्स पर संसद में ही नहीं समाचारपत्रों और खेत-खलिहानों तक में सार्वजनिक बहस चल रही हैं। स्वीडन के सूत्रों से लेकर भारत के महालेखा नियंत्रक और परीक्षक तक ने इस घोटाले की पुष्टि की है। समाचार पत्रों ने दलालों के नाम प्रकाशित किए हैं। स्विट्जरलैण्ड के उन गुप्त खातों को उजागर किया है जिनमें दलाली का धन जमा हैं प्रधानमन्त्री राजीव ने भी पहले अस्वीकार करने के बाद यह स्वीकार किया है कि बोफोर्स तोपों के सौदों में दलाली दी गई है। विरोधी दल और देश की जनता यह जानना चाहती है कि संसद और देश से तत्सम्बंधी सच्चाई छिपायी क्यों जा रही है? सुरक्षा सोदों में दलाली का धन वस्तुतः किसे मिला? यही वे प्रश्न हैं जिनका उत्तर देने से राजीव कतराते हैं और यही कारण है कि गत 24 जुलाई को विरोधी दलों के सदस्यो ने लोकसभा से सामूहिक इस्तीफा दे दिया।

निरंकुशता की ओर

विरोधी दलों के सांसदों द्वारा लोकसभा का त्याग एक असामान्य घटना है। इस प्रकरण ने लोकतंत्र से जुड़े अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े किए हैं। यह केवल वोट राजनीति का खेल नहीं है। यह राजनीति के चरित्र और राजनीतिक संस्कृति से जुड़ी घटना है। लोकसभा का विपक्षविहीन सूना हिस्सा लोकतंत्र के रथचक्र के ध्वस्त हो जाने का संकेत है। विपक्ष विहीन लोकतंत्र और विधायिका बेमानी हैं यह घटना लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति सत्तापक्ष की जवाबदारी पर भी प्रश्न चिन्ह लगाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शासक दल लोकतंत्र का छत्र भंग करके निरंकुश तानाशाही की ओर बढ़ रहा है।

सत्ता और शासकदल निरंकुश न हो जाय, वह लांकतांत्रिक और लोकार्पित बना रहे, इसके लिए भारतीय संविधान के निर्माताओ ने कुछ अंकुश और संतुलन की व्यवस्था की थी। राष्ट्रपति को भारतीय गणराज्य की सर्वोच्च नैतिक सत्ता सम्पन्न संस्था के रूप में प्रतिष्ठित किया था कि शासनाध्यक्ष उद्धत हो जाए, मनमानी और नादानी करें तो राष्ट्राध्यक्ष उसे पितामही सलाह ओर सुझाव देकर रोके। शासनाध्यक्ष द्वारा राष्ट्राध्यक्ष को अपनी गतिविधियों, विचारों और उपलब्धियों का विवरण देते रहने की परम्परा बनाई गई। सर्वोच्च न्यायालय को संविधान ओर कानून का भाष्य करने का अधिकार दिया गया कि शासनाध्यक्ष कोई जनविरोधी, असंवैधानिक कार्य न कर सके। जनप्रतिनिधित्व द्वारा विधायिका का गठन किया गया कि शासक दल जनता के प्रति उत्तरदायी रहे। कार्यपालिका का कर्त्तव्य बताया गया कि वह विधायिका के निर्देश और कानूनों का क्रियान्वयन करें। समाचार पत्रों और प्रसार माध्यमों की लोकतंत्र के प्रहरी के रूप में मान्यता दी गई। आर्थिक अनुशासन बनाए रखने के लिए महालेखा नियंत्रक और परीक्षक की संस्था बनायी। सत्तारूढ़ दल की जनविरोधी प्रवृत्तियों और कार्यों को रोकने, उन पर अंकुश लगाने के लिए विरोधी दलों को लोकतंत्र के एक आवश्यक और महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार किया गया। इन समस्त व्यवस्थाओं का मूल उद्देश्य था शासन को उसकी जवाबदारी से बांधकर रखना। बोफोर्स और दूसरे प्रकरणों ने राजीव शासन की जनता के प्रति इस लोकतांत्रिक जवाबदारी को शूली चर चढ़ा दिया गया है और फिर भी यह कहा जा रहा है कि "विरोधी दल लोकतंत्र के दुश्मन और 'जनता को सत्ता' दिए जाने के विरोधी हैं।"

जवाबदारी का तिरस्कार

यह सर्वविदित है कि राजीव शासन ने राष्ट्रपति को जानकारी प्राप्त करने के अधिकार से वंचित किया। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को निरस्त करके अपना राजनीतिक हित साधा। बहुमत का दुरूपयोग करके संसद और विधान–सभाओं को बंधुआ बनाया। प्रतिबद्धता के नाम पर नौकरशाही को अपना घरेलू नौकर बना दिया। समाचार पत्रों का गला दबाकर, आकाशवाणी और दूरदर्शन का दुरूपयोग करके प्रसार माध्यमों को अपना ढिंढोरची बनाया। विरोधी दलों को देश का दुश्मन, राष्ट्रद्रोही, एकता और अखण्डता के विरोधियों का समर्थक कहकर उनकी देशभक्ति को कटघरे में खड़ा करने का प्रयास किया। जनता को गुमराह करने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी कि वह उसके साथ किए जा रहे छल को जान सके। लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति राजनीतिक और नैतिक जवाबदारी को लात मारी तो महालेखा नियंत्रक और परीक्षक की तौहीन करके आर्थिक जवाबदारी को भी तिलांजलि दे दी। राजीव और उनके दल के लोगों की अब एकमेव जवाबदारी उनके अपने प्रति, ओर अपनी कुर्सी के प्रति है। राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय, विधायिका, कार्यपालिका, समाचार पत्र,

प्रसार माध्यम, विरोधी दलों और जनता की प्रतिष्ठा का प्रश्न उनके लिए बेमानी है। इस प्रश्न का बेमानी हो जाने का अर्थ है, उत्तरदायित्वहीनता। जनता के प्रति जवाबदारी का तिरस्कार। जवाबदारी के तिरस्कार का अर्थ है जनतंत्र का तानाशाही में बदल जाना।

भूमिगत प्रधानमन्त्री

लोकसभा में विरोधी दल इसी लोकतांत्रिक जवाबदारी का सवाल उठा रहे थे। राजीव और उनका शासकदल इसी जवाबदारी से कतरा रहे थे। अब राजीव का आकाशवाणी ओर दूरदर्शन यह माहौल बना रहे हैं कि विरोधी दल लोकतंत्र विरोधी है। जनघाती है। जनादेश का अपमान कर रहे हैं। संसद की मर्यादा उल्लंघन करते हैं। सदन की कार्रवाई नहीं चलने देते। बहस में भाग नहीं लेते। राजीव की प्रतिभा का प्रकाश इतना तेजोमय है कि उससे चौंधिया करके विरोधी दलों के सदस्य पलायन कर रहे हैं। यह सब केवल राजनीतिक नाटक है।

वास्तविकता यह है कि विरोधी दलों के सदस्य चाहते थे कि भारत के महालेखा नियंत्रक और परीक्षक की सुरक्षा सौदों सम्बन्धी रपट पर कार्रवाई की जाय। दोषी को दण्ड दिया जाय। दलालों को चौराहे पर खड़ा किया जाए। प्रधानमन्त्री राजीव गांधी सदन में आएं और अपने इस आश्वासन को पूरा करें कि "दोषी चाहे जितना बड़ा व्यक्ति क्यों न हो उसे दण्ड अवश्य दिया जाएगा?" विरोधी दलों के सांसद तीन दिन तक लगातार यह मांग करते रहे कि प्रधानमंत्री सदन में आएं, किन्तु वे सदन में नहीं आए। अपने कार्यालय में भूमिगत बैठे रहे। क्यों? यदि उनके अपने चरित्र की चादर बेदाग है तो सदन में आकर उस व्यक्ति का दागदार दामन क्यों नही दिखाते जिसके कारण राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ धोखा हुआ है? क्या देश की सुरक्षा को दलालों के हाथ बेच देने के विरोध में आवाज उठाना देशद्रोहिता है? क्या बहुमत द्वारा विरोधी दलों की राष्ट्रीय आवाज का अनसुना कर दिया जाना लोकतांत्रिक है? क्या महालेखा नियंत्रक और परीक्षक को गाली दिया जाना राजीव की आर्थिक जवाबदारी का प्रमाण है? महालेखा नियंत्रक और परीक्षक की रपट पर बहस की क्या तुक है? क्या संसद उनकी रपट में संशोधन कर सकती है? क्या वह उसमें कुछ बढ़ा—घटा सकती है? क्या वह उसे अस्वीकार कर सकती है? क्या वह महालेखाकार को दण्डित कर सकती है? यदि इन सबमें से संसद् कुछ भी नहीं कर सकती तो बहस किस बात पर ? महालेखाकर की रपट राजीव और उनकी सरकार के विरूद्ध है, क्यों केवल इसलिए समस्त संसदीय परम्पराओं को मटियामेट कर दिया जाना चाहिए? क्या संविधान सहित समस्त लोकतात्रिक संस्थाओं का निर्माण केवल किसी परिवार, व्यक्ति और संस्था विशेष के निजी और राजनीतिक हितों की रक्षा करने के लिए किया गया है कि उसके विपरीत निर्णय हुआ और निष्कर्ष निकला तो उनका कद छोटा कर दिया

जाएगा?

संसद के दोनों सदनों में राजीव के बंधुओं, सांसदों ने संसद को देश की जनता की आवाज कहकर विरोधी दलों को हाशिए पर खड़ा करना चाहा। प्रश्न यह है कि क्या केवल बहुमत और शासक दल के सदस्यों की आवाज ही जनता की आवाज है, क्या जनता की आवाज में विरोधी दलों के शब्द और स्वर शामिल नहीं हैं ? क्या जनता की आवाज यह है कि भ्रष्टाचारी को पकड़ो मत, उसे सजा दो। क्या जनता यह आवाज उठा रही है कि राष्ट्रपति राज्यपालों, न्यायालयों, नौकरशाही, समाचार पत्रों, संसद, विधानसभाओं, विरोधी दलों और सत्य को उजागर करने का महालेखाकार का मार्ग दर्शन करो? क्या यह जनता की मांग कि राजीव और उनके साथी चाहे जितना भ्रष्टाचार करे उन्हें प्रधानमंत्री पद पर और सरकार में बने रहना चाहिए? क्या किसी भ्रष्ट या भ्रष्टाचार के सिद्ध आरोपों से घिरे व्यक्ति का त्यागपत्र मांगना जनभावना के विपरीत है, क्या विरोधी दलों की इस मांग में देश की जनता की आवाज शामिल नहीं है कि सार्वजनिक जीवन में स्वच्छ मानदण्ड की स्थापना आवश्यक है? एक छोटी सी रेल दुर्घटना हो जाने के कारण इस भारत में तब के रेलमन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री, मूदंड़ा काण्ड के कारण वित्तमंत्री श्री टी०टी० कृष्णमाचारी, न्यायालय के साकेतिक निर्णय का सम्मान करके संजीव रेड्डी और लोकलेखा समिति की रपट में किए गए आक्षेप के कारण गनी खां चौधरी द्वारा त्यागपत्र दिया जाना यदि अनैतिक नहीं, नैतिक और लोकतंत्रसम्मत था तो हिन्दू,स्टेट्समैन, इण्डियन एक्सप्रेस, स्वीडन रेडियो, स्वीडन सरकार और भारत के महालेखाकर द्वारा प्रस्तुत तथ्यों और संदेहों के आधार पर राजीव से त्यागपत्र की मांग करना अनैतिक और अलोकतांत्रिक कैसे हो गया? जो कार्य राजीव को सहज रूप से करना चाहिए था, वह तीन दिन तक पूरे दिन सदन में खड़े रहकर भी विरोधी दल नहीं करा सके तो त्यागपत्र देकर जनता की अदालत में दावा दायर करने के अतिरिक्त उनके सामने और रास्ता ही क्या था जब संसद का इंका बहुमत विरोधी दलों की बात सुनने तक के लिए तैयार नहीं था तो वे क्या करते? जिस संसद में राजीव को चरित्र और नैतिकता का प्रमाणपत्र भजनलाल दे रहे हों, वहां किसी मर्यादा और उज्जवल परम्परा की आशा और बात करने की क्या तुक है?

बोफोर्स का राजीव समर्थकों के सीने में नुकीले बाण की तरह चुभना और उनका चीखने लग जाना ही यह सिद्ध करता है कि भ्रष्टाचार का शैतान राजीव के 'बुलेट प्रूफ जाकेट' के अन्दर छिपा बैठा है। महालेखाकार की रपट, विरोधी दलों के सांसदों के त्यागपत्र, शासकदल-राजीव की इन्दिरा कांग्रेस के सांसदों द्वारा महालेखाकर को दी जा रही गाली और राजीव के बचाव के भोड़े तरीके ने राजीव को पूरी तरह निष्कवच कर दिया है। जवाहर रोजगार योजना और पंचायती राज का पर्दा अब शासक दल ओर राजीव के भद्दे चरित्र को ढक नहीं सकता। उनका प्रयास है कि

छब्बीस सौ करोड़ रूपए बांट कर देश की जनता से अपने चरित्र का प्रमाण पत्र ही नहीं, शासन भी खरीद लें। गांव-गांव में भ्रष्टाचार का अंगरक्षक बिठा दें कि उनके चरित्र पर कोई अंगुली न उठा सके और उनके अपराधों के लिए उन्हें दण्डित करने हेतु कोई लोकतांत्रिक हाथ ऊपर उठा हुआ हाथ नीचे करके वापस चला जाए कि 'राजीव के भ्रष्टाचार के लिए उन्हें पत्थर वह मारे, जो भ्रष्ट न हो, जिसने भ्रष्टाचार न किया हो?"

ब्रिटिश उदाहरण

प्रश्न केवल पंचायती राज और नेहरू रोजगार योजना का नहीं, प्रश्न यह भी है कि क्या देश संसद और विधानसभा से लेकर ग्रामसभा तक उत्तरदायित्व विमुख लोगों और भ्रष्टाचार के माध्यम से चलेगा कि देशवासियों, लोकतांत्रिक संस्थाओं और उपबंधों के प्रति जवाबदेह लोगों के द्वारा? देशवासी वास्तविक 'लोकतंत्र' चाहते हैं कि 'लोकतांत्रिक तानाशाही'।" देश का शासन जनता क आकांक्षाओं के अनुरूप चलेगा कि किसी खानदान, संस्था और व्यक्ति विशेष के बंधक के रूप में यहां भ्रष्ट लोगों का, भ्रष्ट शासन चलेगा कि लोकतंत्र का चरित्र स्वच्छ लोकजीवन में से प्रगटेगा ?

कहां से चले थे कहां पहुंच गए हम। जिस ब्रिटिश संसदीय प्रणाली को हमने अपनी संसदीय प्रणाली का प्रेरणा-स्रोत माना उसकी ओर हमारी लोकतांत्रिक यात्रा का प्रारम्भ बिन्दु देखिए। ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली चुनाव क्षेत्र बेचने-खरीदने, सुरा और सुन्दरी के प्रयोग के साथ शुरू हुई थी और आज वह एक आदर्श संसदीय प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वहां का मंत्री प्रोफ्यूमो सदन में असत्य भाषण करने के अपराध में सरकार ओर दल से निकाल दिया जाता हैं वहां की प्रधानमन्त्री थैचर अनैतिकता और कदाचार के आरोप में कई मंत्री हटा चुकी है। अलिखित संविधान और केवल परम्पराओं के सहारे वहां की संसदीय प्रणाली चल रही है।

और हम? हमारी यात्रा का प्रारम्भ बिन्दु अति श्रेष्ठ नेतृत्व, संसदीय परम्पराओं के सम्मान और उनकी स्थापना था। किन्तु चालीस वर्ष में हम पहुंच गए घूस, कमीशन, सुरा-सुन्दरी और भ्रष्टाचार को राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन का रिवाज बना देने के बिन्दु पर। ब्रिटेन जहां से चला था आज हम वहां हैं और हम जहां से चले थे ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली की यात्रा की तुलना भारतीय संसदीय प्रणाली पर एक दुःखद टिप्पणी है।

अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति क़ेनेडी का भाई वहां के राष्ट्रपति पद का चुनाव इसलिए नहीं लड़ पा रहा है कि उस पर किसी महिला के साथ उसके अवैध सम्बन्धों का आरोप है। डेमोक्रेटिक पार्टी के कई उम्मीदवार भी इसी कारण चुनाव में खड़े नहीं हो सके। एक के बाद दूसरे जापानी प्रधानमन्त्री के इस्तीफे का उदाहरण अभी आज की बात है और भारत में प्रस्तुत किए गए कुछ उदाहरणों का भी उल्लेख ऊपर किया

जा चुका है फिर यह मानदण्ड राजीव पर लागू क्यों नहीं किया जाती ?

राजधानी के एक दैनिक पत्र में प्रकाशित तीन व्यंगचित्रों को राजीव और उनके दल के चरित्र का प्रमाण पत्र माना जा सकता है। एक व्यंग्य चित्र में राजीव के हाथ में 'बोफोर्स', बलराम जाखड़ के हाथ में 'चारा' और बूटासिंह के हाथ में 'जमीन हड़पो' की तख्ती है। तीनों साथ-साथ खड़े हैं और कह रहे हैं, "मिला सुर मेरा तुम्हारा।" दूसरे व्यंग्य चित्र में राजीव क्रिकेट खेल रहे हैं और वे 'क्लीन बोल्ड' हो गए हैं। अम्पायर ने आउट होने की अंगुली उठा दी है और राजीव कह रहे हैं– "अपनी अंगुली नीचे करो। किसी भी परिस्थिति में मुझे आउट करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है।" तीसरे व्यंग्य चित्र में महालेखाकर की रपट का हाथी राजीव को धक्का मार रहा है। राजीव पाल्थी मारकर बैठे हैं और भ्रष्टाचार का दानव राजीव की ओर संकेत करके पास खड़े किसान से कह रहा है' "देखो हमारी सरकार कितनी मजबूत और स्थिर है।"

शातिर गिरोह का काम

जिस देश की संसद में उसके प्रधानमंत्री का नाम लेकर नारा लगाया जाय कि "राजीव चोर है।" लोकसभा अध्यक्ष को यह सुनना पड़े कि यह राष्ट्र का धन और राष्ट्रीय सुरक्षा का मामला है, चारा नहीं है कि इसे कोई चर जाय और उनका प्रतिवाद करने से प्रधानमन्त्री कतरा जाए, मुंह छिपाकर बैठ जाय और बंधुआ मजदूरों की तरह उसके बचाव में उनके दल के सांसद केवल शोर मचाएं, उस संसद में कोई स्वाभिमानी व्यक्ति कैसे बैठें? क्या सत्य बहुमत का दास है? क्या पाप–पुण्य का निर्धारण बहुमत और अल्पमत की सुविधा–असुविधा और उनके हिताहित की कसोटी पर किया जाएगा? बहुमत के बल पर भ्रष्टाचार को सदाचार सिद्ध करने का कार्य कोई शातिर गिरोह ही कर सकता है, पाप की परम्परा का पोषण करना ही यदि किसी बहुमत दल का दायित्व है तो वहां न्याय और मर्यादा का मान मर्दन होगी ही। यही राजीव कर रहे हैं। इसी के विरोध में 'त्राहिमाम्–त्राहिमाम्' कहते हुए विरोधियों के लाचार सांसदों को लोकसभा से त्यागपत्र देकर जनता जर्नादन की शरण मं जाना पड़ा है। रूस के गोर्बाचेव के पेरिस्त्रेइका और ग्लासनास्त शब्दों से अंग्रेजी शब्दकोश गौरवान्वित हुआ है तो राजीव से जुड़े 'बोफोर्स' शब्द के कारण उसे अनन्त काल तक शर्मिन्दगी झेलनी पड़ेगी। लोकसभा में विरोधीदलों की सूनी सीटें इस बात की साक्षी हैं कि राजीव की अश्लील हरकतें समस्त शीलवान व्यक्तियों की सहनशीलता की सीमाएं लांघ चुकी हैं। लोकतंत्र और लोकसज्जा का प्रहरी विपक्ष लोकसभा की सदस्यता से त्यागपत्र न देता तो वह भी राजीव के भ्रष्टाचार और लोकतांत्रिक संस्थाओं की अवमानना और अवमूल्यन में सहभागी माना जाता।

6 अगस्त 1989

इतिहास से दोगलापन

राम जी संसद भवन में भी पहुंच गए। उन्हें संसद और राजनीति के कीचड़ में घसीटा राजीव जी की इन्दिरा कांग्रेस के राज्यसभा सांसदों और गृहमंत्री बूटा सिंह ने। गृहमन्त्री ने बयान दिया था कि "रामजन्मभूमि के अधिकार प्रश्न पर विश्व हिन्दू परिषद न्यायालय का निर्णय मानने के लिए तैयार है, किन्तु भाजपा न्यायालय का निर्णय न मानने की घोषणा करके समस्या का समाधान नहीं होने देना चाहती, वह श्री राम जन्मभूमि विवाद का राजनीतिक लाभ उठाने की ताक में है।"

विश्व हिन्दू परिषद् के महामन्त्री श्री अशोक सिंहल ने गृहमंत्री के इस वक्तव्य का स्पष्ट और कड़ा खण्डन किया कि 'श्रीराम जन्मभूमि देश के करोड़ों लोगों की भावना से जुड़ी, है, यह कोई दीवानी का मामला नहीं है कि न्यायालय निर्णय करे कि इसका मालिक कौन है? आगामी तीस सितम्बर से राम शिलापूजन का महाभियान और रामशिलाओं का अयोध्या आना आरम्भ हो जाएगा। नौ नवम्बर को श्री राम मन्दिर का शिलान्यास होगा, उसे कोई रोक नहीं सकता।"

निरूत्तर सरकार

श्री अशोक सिंहल के इस बेबाक वक्तव्य को इंका सांसदों ने राजनीतिक हथियार बनाया। विरोधी दलों की एकता को तोड़ने की योजना बनाई। राज्य सभा में शोर मचाया कि श्री सिंहल के बयान और शिलापूजन कार्यक्रम के कारण देश में आग लग जाएगी। साम्प्रदायिक तनाव और संघर्ष होगा। देश की एकता टूट जाएगी। इसे रोका जाना चाहिए।

क्योंकि यह मांग इंका हाईकमान के संकेत पर की गई थी अतएव गृहमंत्री ने वक्तव्य दिया कि "देश की एकता भंग नहीं होने दी जाएगी। सरकार श्रीरामजन्म भूमि पर यथास्थिति बनाए रखने का पूरा प्रबन्ध करेगी।

गृहमन्त्री के वक्तव्य पर सांसदों ने बहस की मांग की। चार अगस्त शुक्रवार को बहस आरम्भ हुई। सरकार का इरादा था कि बहस उसी दिन समाप्त हो जाए किन्तु विपक्ष के श्री लाल कृष्ण आडवाणी ने इस पर आपत्ति की। सभी विरोधी दलों ने उनका समर्थन किया कि बहस सात अगस्त सोमवार को ही की जाए। श्री आडवाणी ने कहा, "मैं आज नहीं सोमवार को बोलना चाहूंगा।" सरकारं झुकी और बहस

सोमवार के लिए टल गई।

सोमवार सात अगस्त को बहस हुई और इंका का इरादा पूरी तरह नाकाम गया। विरोधी दलों ने रामजन्म भूमि समस्या को उलझाने और टालने का आरोप सरकार पर लगा कर उसे लगभग निरूत्तर तो कर ही दिया, उसकी एकता भी बनी रही। किसी भी सदस्य ने रामजन्म भूमि और राम जी का विरोध नहीं किया। विरोध इस बात का था कि श्रीराम मंदिर का शिलान्यास करने का यह उपयुक्त समय नहीं है। देश चुनाव की तैयारी कर रहा है। ऐसे समय सामाजिक और साम्प्रदायिक तनाव हानिकारक होगा। नौ नवम्बर को सूर्य दक्षिणायण रहेगा। शुभ कार्य उत्तरायण में किए जाने का विधान है, विश्व हिन्दू परिषद दक्षिणायण के समय यह कार्य न करे। इसे टाल दे। चुनाव के बाद करे।

राजनीतिक लाभ-हानि

श्री रामजन्म भूमि मुक्ति यज्ञ अभियान को केवल एक श्री लालकृष्ण आडवाणी के अतिरिक्त सभी ने चुनाव और राजनीतिक लाभ-हानि की दृष्टि से देखा। इतिहास, परम्परा और राष्ट्रीय भावना का प्रश्न पीछे रह गया। श्री आडवाणी के इस प्रश्न का सीधा उत्तर गृहमन्त्री बूटा सिंह सहित किसी भी सांसद ने नहीं दिया कि 'यदि आजादी के तुरन्त बाद सरदार पटेल प्रभाष पाटन में सोमनाथ मंदिर को तोड़कर बनाई गई मस्जिद और कब्रिस्तान को हटाकर मन्दिर का निर्माण करा सकते हैं, यदि जवाहरलाल नेहरू मंत्रिमंडल इसकी स्वीकृति दे सकता है, और भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद नवनिर्मित सोमनाथ मन्दिर में ज्योतिर्लिंग की स्थापना और मंदिर का उद्घाटन कर सकते हैं तो राजीव सरकार श्री राम की जन्मभूमि पर बनी बाबरी मस्जिद को हटा कर वहां श्रीराममन्दिर बनाने की अनुमति क्यों नहीं देती?

स्मरण रहे कि सोमनाथ को अंतिम बार औरंगजेब ने यह कहकर तुड़वाया था कि 'इस बार इसे पूरी तरह नेस्तनाबूद कर दो कि मन्दिर का कहीं कोई निशान तक दिखाई न दे। सोमनाथ पर मस्जिद और कब्रिस्तान को सरदार पटेल ने इतिहास की विकृति का चिन्ह और राष्ट्रीय अपमान बता कर कहा था कि "राष्ट्र के गौरव की पुनप्रतिष्ठा के लिए सोमनाथ मन्दिर का पुनर्निमाण आवश्यक है।" गांधी जी भी इससे सहमत थे।

सोमनाथ मन्दिर के निर्माण और उद्घाटन प्रक्रिया अपने चरम पर तब पहुंची जब भारत सरकार ने विदेश स्थिति अपने दूतावासों को निर्देश दिया कि सोमनाथ मन्दिर में ज्योतिर्लिंग की प्राणप्रतिष्ठा के समय उस देश का जल भेजें। चीन में भारतीय राजदूत श्री पणिक्कर ने इस पर आपत्ति की। उन्होंने नेहरू जी को पत्र लिखा कि 'सेकुलर भारत में यह सब क्या हो रहा है?" मंत्रिमण्डल की बैठक हुई। तब

तक सरदार पटेल की मृत्यु हो चकी थी। नेहरू जी ने पत्र पढ़ा और श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी से पूछा — 'यह क्या हो रहा है?

मंत्रिमण्डल की बैठक से घर आकर श्री मुंशी ने नेहरू जी को एक लम्बा पत्र लिखा कि "मुझे ऐसी स्वतंत्रता नही चाहिए जो मुझे मेरी गीता और राष्ट्रीय परम्परा से अलग करे।" नेहरूजी चुप हो गए और मंदिर राष्ट्र को अर्पित करा दिया।

यदि उत्तर प्रदेश के तब के मुख्मन्त्री गोविन्दबल्लभ पंत बाधक न बनते तो रामजन्म भूमि का मामला भी 1948 में ही समाप्त हो गया होता और आज वहां राष्ट्रीय गरिमा के अनुरूप एक भव्य राम मन्दिर बना होता। किन्तु इस मसले को कांग्रेस की चुनाव राजनीति, अल्पसंख्यकवाद और मुस्लिम तुष्टीकरण में उलझा दिया गया। आजादी के बयालीस वर्ष बाद भी राम अपनी जन्मभूमि से वंचित हैं।

राष्ट्रीय अपमान

भारत के राम को आजाद भारत में भी बाबर सता रहा है, चार सौ इकसठ वर्ष पूर्व किए गए राष्ट्रीय अपमान और इतिहास की विकृति और ध्वंस के इस चिन्ह को राष्ट्रीय स्मारक बनाए जाने की दलील दी जा रही है। यह दलील देने वालों को राष्ट्रीय लज्जा और राष्ट्र गौरव में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। उन्हें यह अहसास ही नहीं होता कि यह राष्ट्रीय स्मारक नहीं, राष्ट्र की पराजय और राष्ट्रीय अपमान का चिन्ह होगा। एक आक्रमणकारी के सेनापति द्वारा अपने आका की विजय के स्मारक के रूप में भारत राष्ट्र के प्राण और प्रेरणा पुरूष श्रीराम का घर उजाड़कर वहां मस्जिद बना दिया जाना और उसको बनाए रखने का समर्थन करना इतिहास को विकृत करना नहीं तो और क्या है?

गत चार वर्ष से श्रीरामजन्म-भूमि मुक्ति आन्दोलन चल रहा है। अब तक किसी ने उस ओर गंभीरतापूर्वक झांकने का कष्ट नहीं किया। संसद के जो सदस्य इस समय चिन्तित है, उनकी नजर केवल अपने चुनाव क्षेत्र पर है। संसद के चालीस मुस्लिम सांसदों ने दलनिरपेक्ष होकर, मुसलमान होने के नाते, बार-बार इस सवाल को उठाया, बाबरी मस्जिद के पक्ष में खुलकर दलील दी किन्तु चार—पांच हिन्दू सांसदों के अतिरिक्त उस विषय में किसी ने कुछ भी नहीं कहा, क्यों ? क्या केवल इसलिए कि जब चुनाव दूर थे, और अब चुनाव सिर पर हैं, क्या इसलिए कि अब उन्हें अपने चुनाव क्षेत्र के मतदाताओं को उनके उन प्रश्नों का उत्तर देना होगा कि "रामजन्म भूमि और बाबरी मस्जिद विवाद में वे किसके पक्ष में है? किस के साथ खड़े हैं, रामजन्म भूमि के कि बाबरी मस्जिद के ? केवल इसी कारण इस विवाद को संसद में लाकर श्रीराम जी को चुनाव के राजनीतिक कीचड़ में नहीं लपेटा जा रहा है? इस प्रश्न को उछालकर, विरोधी दलों की एकता को तोड़ कर, विभाजित विपक्ष की कमजोरी का लाभ उठा कर चुनाव जीतने की चाल चली जा रही है।

इन्दिरा कांग्रेस और विरोधी दलों के उन लोगों को जो प्रच्छन्न सेकुलरिटी के झण्डावाहक हैं, तथ्य और सत्य भली भाँति समझ लेना चाहिए कि श्रीराम किसी दल की रणनीति के दास नहीं हैं, उन्हें सत्ता-राजनीति का मोहरा नहीं बनाया जा सकता। वे मर्यादा पुरूषोत्तम हैं। उन्हें दोगलापन अमान्य है और यही दोगलापन भारत की वर्तमान राजनीति की धुरी है।

यह दोगलापन किस सीमा तक और कितना गहरा है, इसका प्रमाण देखिए। गृहमन्त्री बूटा सिंह यह कहते हैं कि "श्री राम इस देश के प्राण हैं, घट–घट में राम बसे हैं। कण–कण में उनका वास है। गुरू ग्रन्थ साहब ने अपना अंतिम श्लोक श्रीराम की महिमा का स्मरण करते हुए कहा है 'मैं राम का विरोधी नहीं हूं। किन्तु एक छोटे से जमीन के टुकड़े के लिए इतना बड़ा विवाद और आन्दोलन क्यों किया जा रहा है कि देश को आग लग जाए। देश की एकता खतरे में पड़ जाय। अल्पमत और बहुमत की अवधारणा देश हित के लिए घातक है। यहां सभी नागरिक समान हैं। नागरिकता को नापने के दो अलग–अलग पैमाने नहीं हो सकते। यदि देश का बहुमत न्यायालय और लोकतंत्र मर जायगा। धर्मनिरपेक्ष राजनीति राष्ट्र की धरोहर है। इस धरोहर की रक्षा करनी ही होगी।"

राम जी की भक्ति और राम जन्म-भूमि पर राम जी का मन्दिर बनाए जाने का विरोध, घट–घट में रामजी का वास होने की घोषणा और रामजन्मभूमि को जमीन का केवल एक टुकड़ा कहना, बहुमत और अल्पमत की अवधारणा अस्वीकार और अल्पसंख्यकवाद का पोषण, समान नागरिकता की घोषणा और अलग–अलग नागरिक संहिता एवं कानून का निर्माण, धर्म निरपेक्षता को राष्ट्र की धरोहर बताना और हिन्दुओं को गाली देकर मुसलमानों सहित दूसरे अल्पसंख्यकों को प्रसन्न करना, देश के बहुमत को न्यायालय और लोकतंत्र का सम्मान करने का उपदेश और स्वयं के दलीय बहुमत द्वारा न्यायालय का अनादर और लोकतंत्र को अपने दल का बंधक बनाने का प्रयास, क्या ये दोगली बातें नहीं हैं?

शाहबानो के मामले में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय का अनादर किस ने किया, देश के बहुमत ने कि इन्दिरा कांग्रेस के बहुमत ने? समान नागरिक संहिता बनाने की मांग को अनसुना कौन कर रहा है, देश का बहुमत कि इन्दिरा कांग्रेस का बहुमत? देश की नागरिकता को नापने के दो पैमाने किसने बना रखे हैं, देश के बहुमत ने कि बूटा सिंह की पार्टी ने, धर्मनिरपेक्षता को हिन्दू विरोध और मुस्लिम तुष्टिकरण का पर्यायी अर्थ किसने प्रदान किया, देश के बहुमत ने कि कांग्रेस के बहुमत ने? श्रीरामजन्म भूमि को चूनाव की राजनीति मे कौन घसीट रहा है, देश का बहुमत की राजीव की पार्टी का बहुमत? देश की एकता के लिए खतरा कौन पैदा कर रहा है, देश का विभाजन किसने स्वीकार किया, आजादी के राष्ट्रीय आन्दोलन पर मजहब का रंग किसने चढ़ाया देश के बहुमत ने कि कांग्रेस के बहुमत ने?

रामजन्म भूमि के विषय में कहा जा रहा है कि न्यायालय का निर्णय मान लिया जाना चाहिए। किन्तु क्या यह निर्णय न्यायालय करेगा कि तीर्थयात्रा कब की जाय, व्रत-त्यौहार कब हो, कौन किसे महापुरूष माने, कैसे स्मारक बनाए, इतिहास कैसा लिखा जाय, जो है, वह सच है या गलत। न्यायालय, कानून सापेक्ष होता है – ये मामले उसकी सीमा नें नहीं आते।

दोगले लोग इन्दिरा कांग्रेस में ही नहीं विरोधी दलों में भी हैं। वे कमरे में कहते हैं कि "मैं भी हिन्दू हूं। मैं भी रामभक्त हूं। मैं भी चाहता हूं कि श्री रामजन्म भूमि पर रामजी का मन्दिर बने, किन्तु यह बात बाहर नहीं बोल सकता। चुनाव गणित की कुछ ऐसी मजबूरियां हैं कि यह बात खुलकर नहीं कही जा सकतीं। हिन्दू, हिन्दू के नाते थोक वोट नेही देता और मुसलमानों को नाराज करके हम चुनाव जीत नहीं सकते।

अर्थात् यदि हिन्दू राष्ट्र जन के रूप में नहीं सम्प्रदाय के रूप में राजनीतिक व्यवहार करें तो ही वे हिन्दू के पक्ष मे बोलेंगे। यदि उनके यह कहने से कि वे हिन्दू हैं मुसलामन नाराज न हो तो वे हिन्दू हैं अन्यथा नहीं। यदि हिन्दू थोक वोट देने लगें तो ही वे हिन्दू हैं, अन्यथा नहीं। हिन्दू समाज अपने राष्ट्रीय चेतना को छोड़ कर राजनीतिक गुट के रूप में रहने लगे तो ही उसकी बात सुनी और मानी जाएगी अन्यथा नहीं।

वोट के लिए राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय समाज की इस राजनीतिक नीलामी का परिणाम क्या होगा? देश में आग लग जाने की आशंका व्यक्त की जा रही है। किन्तु क्या किसी देश का राष्ट्रीय समाज कभी अपना देश तोड़ता है, उसको आग लगाता है? यदि नहीं, तो हिन्दू इस देश को क्यों और कैसे जलाएगा? जो हिन्दू भारत विभाजन का विषपान कर सकता है, देश को गृहयुद्ध से बचाने के लिए जो अपनी मातृभूमि के भूगोल ओर अपनी भावना की हत्या सहन कर सकता है, जहां का बहुमत मजहब के आधार पर अलग देश बनाने वालों को समान नागरिकता और सम्मान प्रदान कर सकता है, जो लाखों प्रियजनों की हत्या कराने वालों को गले लगा सकता है, क्या वह अपने देश को, अपनी मातृभूमि को, अपने देशभाइयों को जलाएगा? देश को जलाया उन्होंने, जला वे रहे हैं, बांटा उन्होंने, वे बांटना चाहते हैं जिन्होंने 1947 में देश को बांटा था, जिन्होंने बंटवारे का समर्थन और उसे स्वीकार किया था और जो रामराज्य की बातें करते हैं और रामजन्म भूमि को गुलाम बनाए रखना चाहते हैं, जो बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी बनाते हैं, और जो उस कमेटी से जुड़े लोगों के थोक वोट के राजनीतिक बंधक हैं?

राजनीतिक दलों के इस दोगलेपन ने देश की राष्ट्रीयता को भी दोगला बना दिया है। यह दोगलापन भारत की संस्कृति को प्रदूषित कर रहा है? यही कारण है कि कोई मन से नहीं बोलता, सभी केवल मुंह खोलते हैं। मन की बात है राम, हिन्दुत्व

का भारत में सांस्कृतिक राष्ट्र होना। मुंह की बात है इस सत्य से परे सतही भाषण। यदि ऐसा न होता तो राज्यसभा में हिन्दुत्व और राम को राष्ट्रीय अवधरणा से जोड़ने वाले एकमात्र नेता श्री लालकृष्ण आडवाणी न होते। संसद ने सर्वसम्मति से अपने राष्ट्र पुरूष का स्मारक बनाने का फैसला किया होता। राम मन्दिर बनाने के अनुष्ठान में राजनीतिक चालबाजी नहीं, राष्ट्रीय पुनर्जागरण देखा जाता।

फिर भी यह तो हुआ ही कि रामजी संसद में पहुंच गए और कोई भी उनका स्पष्ट विरोध नहीं कर पाया। आन्दोलन का विरोध हुआ, विश्व हिन्दू परिषद् और अशोक सिंहल का विरोध हुआ, शिलान्यास के समय का विरोध हुआ किन्तु किसी ने रामजी का विरोध नहीं किया। मूल विरोध अवसर पर आकर अटक गया कि मन्दिर का शिलान्यास दक्षिणायन में हो या कि उत्तरायण में। यदि कोई इस दलील को रामजन्म भूमि पर मंदिर बनाने का समर्थन एवं स्वीकृति मान ले तो उसका कोई दोष नहीं होगा। स्पष्ट है कि यदि रामजन्म भूमि मुक्ति में राजीव को अपना राजनीतिक हित दिखाई देगा तो वे उसे हिन्दुओं को सौंप देंगे, यदि नहीं तो वह दंगा कराएंगे। हिन्दुओं को डराएंगे। मुसलामानों को खुश करके उनका थोक वोट प्राप्त करेंगे सत्तासीन होने का रास्ता साफ करना चाहेंगे। यही वह प्रवृति है जो रामजन्म भूमि की मुक्ति को गत इकतालीस वर्ष से टालती आ रही हैं। इसी प्रवृत्ति ने इस सांस्कृतिक अभियान को चुनाव की राजनीति में घसीटा है, इसी कारण देश का राजनीतिक और बौद्धिक चरित्र दोगला बना है। किन्तु यही समय है जब सब कुछ स्पष्ट किया जा सकता है — राष्ट्रीयता भी, संस्कृति भी, इतिहास भी, प्रेरणा पुरूष भी और अराष्ट्रीय तत्वों की पहचान भी।

27 अगस्त 1989

मोगा काण्ड का वास्तविक बोध

गत 25 जून को मोगा में पंजाब के आतंकवादियों ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखा पर आक्रमण किया। इस आतंकवादी आक्रमण में 19 स्वयंसेवक मारे गए। संपूर्ण देश में सनसनी फैल गई। देश के सामान्य नागरिक, सत्ता प्रतिष्ठान और नेतागण सुन्न हो गए। सभी की समान प्रतिक्रिया थी कि बहुत बुरा हुआ। संघ शाखा पर योजनाबद्ध तरीके से आक्रमण करके आतंकवादियों ने अपना अन्तिम दांव लगा दिया। पंजाब के आतंकवादी गत लगभग एक दशक से इस प्रयास में है कि किसी तरह पंजाब की समस्या को सिख बनाम शेष समाज के बीच की समस्या बनाकर अल्पमत-बहुमत, सिख-हिन्दू और पंथ के नाम पर पंजाब को शेष देश से अलग करके पाकिस्तान की तर्ज पर खालिस्तान का निर्माण करें। अपनी इस योजना के अन्तर्गत आतंकवादियों ने थोक ओर फुटकर, सामान्य और जाने माने व्यक्तियों की हत्याएं की हैं। तीस-तीस रेलवे स्टेशनों को एक साथ आग लगाई है। उत्तेजक भाषण दिए हैं। बम विस्फोट किए है। अर्थात् उन्होंने वे सब प्रयास किए कि देश का शेष समाज उत्तेजित हो और प्रतिक्रियास्वरूप सिखों के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार करे। किन्तु उनकी यह इच्छा पहले भी पूरी नहीं हुई और मोगा में संघ-स्वयंसेवकों की हत्या के बाद भी उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली।

क्रूर राजनीतिक गोटी

मोगा काण्ड के संदर्भ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भूमिका पर समाज के एक वर्ग में विपरीत और तीखी प्रतिक्रिया हुई संघ को कागजी शेर, कायरों की संस्था ओर न जाने-जाने क्या-क्या कहा गया। यह भी कहा जा रहा है कि, 'आतंकवादियों ने बेगुनाह स्वयंसेवकों की हत्या की तो हत्या का प्रतिशोध न लेकर संघ मृतकों का स्मारक बना रहा है कि आने वाली पीढ़ियां देखें कि यहां दर्जनों लोगों को किस प्रकार क्रूरता पूर्वक मार दिया गया था और मारे जाने वाले लोग विश्व के सबसे बड़े उस देशव्यापी संगठन के थे जिसकी शक्ति पर देश का राष्ट्रीय समाज भरोसा करता है, फिर भी श्रद्धांजलि के अतिरिक्त उसने कुछ भी नहीं किया।'

प्रतिक्रियाओं का प्रकार एक ही नहीं था। इसी से मिलती-जुलती और भी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की गईं। किन्तु समस्त प्रतिक्रियाओं का मूल भाव एक ही था कि

'रा० स्व० संघ भारत के राष्ट्रीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है। संघ पर किया गया आक्रमण राष्ट्रीय-अखंडता और सामाजिक समरसता पर आक्रमण है। यदि संघ के स्वयंसेवक विचलित हो गए तो देश मौत और रक्त के सागर में डूब जाएगा।' यह भावना प्रतिशोध और परिष्कार दोनों प्रतिक्रियाओं में समान थी और इसी कारण संपूर्ण देश में क्रोध के बावजूद सद्भाव, सहयोग और विश्वासजन्य प्रतिक्रिया हुई। दल, राजनीतिक क्षेत्र और संप्रदाय निरपेक्ष होकर आतंकवाद के विरुद्ध समवेत आवाज उठी। यह बहुत बड़ी बात है। संघ के स्वयंसेवकों की हत्या और मृत्यु से भी बड़ी बात। इसी में वह तत्व दर्शन निहित है जिसके प्रति संघ के स्वयंसेवक समर्पित हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों को उत्तेजित करके अपनी राजनीतिक गोटी लाल करने का यह पहला प्रयास नहीं है। यह संताप राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने जन्मकाल से ही भोगता आ रहा है। प्रारंभ में अंग्रेजों ने संघ पर प्रतिबंध लगाकर, अर्न्तकलह पैदा करके उसका राजनीतिक लाभ उठाना चाहा। किन्तु संघ संस्थापक डा० हेडगेवार की दूरदर्शिता और प्रभाव के कारण वह प्रयास असफल हो गया। फिर 1947 में देश का विभाजन हुआ। राष्ट्र को मजहब की तराजू पर तौले जाने को देशवासियों ने कांग्रेस और उनके नेतृत्व द्वारा अपने प्रति विश्वासघात माना। वे क्रोध और प्रतिशोध से भर उठे। राष्ट्रीय और अराष्ट्रीय समाज का फैसला हो जाने के बाद भी कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति जारी रही।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भारत भूमि पर दो राष्ट्र होने के सिद्धांत, मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति और भारत-विभाजन का विरोधी था। भारत-विभाजन के विरोध में सघ के स्वयंसेवक संदेश लेकर गांव-गांव गए। पाकिस्तान से आए शरणार्थियों की रक्षा, सेवा और सहायता की। उन्हें शरण दी। कांग्रेस के प्रति आम आदमी का विश्वास भंग हो रहा था। देशवासी बड़ी तेजी से रा० स्व० संघ के आसपास एकत्र होने लगे थे। कांग्रेस नेतृत्व को अपने अस्तित्व के लिए खतरा दिखाई देने लगा। इसी बीच पाकिस्तान को भारत द्वारा सहायता दिए जाने के कारण क्रोधित होकर नाथूराम गोडसे ने गांधी जी की हत्या कर दी। नेहरू जी ने अवसर का लाभ उठाया। गांधी जी की हत्या करने का आरोप लगा कर संघ पर प्रतिबंध लगा दिया। समाज में उत्तेजना व्याप्त हो गई किन्तु संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरू जी ने संघ को विसर्जित कर दिया। कांग्रेसियों ने स्वयंसेवकों की हत्याएं कीं। उनके घर जलाए। उन्हें जेलखाने में डाल दिया, फिर भी स्वयंसेवक शांत रहे। उन्होंने श्री गुरू जी का यह अनुरोध मान लिया कि 'हम उत्तेजित न हों। हम प्रतिक्रिया ओर प्रतिशोध वाला ऐसा कोई कार्य न करें जिससे देश की नई-नई आजादी अन्तर्कलह का शिकार होकर खतरे में पड़ जाए। किसी के पागलपन का उत्तर पागलपन से नहीं, समझदारी से देना चाहिए।' लोग सोच रहे थे कि प्रतिदिन संघ स्थान पर हजारों की संख्या में एकत्र

होकर लाठी, भाला और घूटिका चलाने का अभ्यास करने वाले संघ के स्वयंसेवक कांग्रेसियों से अपने प्रति किए गए अन्याय का बदला लेने के लिए टूट पड़ेंगे। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। श्री गुरू जी ने कहा, ' हमने दण्ड चलाने का अभ्यास स्वजनों का सिर तोड़ने के लिए नहीं किया है? और स्वयंसेवक वह अत्याचार और आरोप झेल गए। कांग्रेसी साजिश असफल हो गई स्वयंसेवकों ने शांतिपूर्ण सत्याग्रह किया। सत्य की जीत हुई। प्रतिबंध हटा। समाज संघ के पास फिर दौड़ा। लोग सोचते थे कि अब संघ कांग्रेसियों से उनके देशघाती कार्यों और अपने प्रति किए गए अत्याचार का बदला लेगा। लेकिन संघ ने इस प्रतिशोध की आग में जलने से इंकार कर दिया। श्रीगुरू जी का यह संदेश और अनुरोध योगेश्वर श्री कृष्ण की गीता के श्लोक की तरह देश के कोने-कोने में व्याप्त हो गया कि, 'यदि दांतों तले अपनी जीभ दब जाती है, तो हम अपने दोतों को तोड़ नहीं डालते, वयं पचाधिकम् शतम्—कांग्रेस और संघ अलग-अलग हैं किन्तु देशहित के प्रश्न पर हम सौ और पांच नहीं, एक सौ पांच हैं।' संघ के स्वयंसेवकों ने गांधी जी की हत्या करने के क्रूर और निराधार आरोप का विषपान किया, किन्तु देशमाता के आंचल को प्रतिशोध की आग से जलने नहीं दिया।

कलुषित राजनीति की पुनरावृत्ति

और सत्ताईस साल बाद फिर वही कपट राजनीति। कांग्रेसी नेतृत्व की फिर वही साजिश। 'संपूर्ण क्रांति' आंदोलन का चरम। इंदिराजी के विरुद्ध चुनाव याचिका में न्यायालय का निर्णय। जयप्रकाश नारायण सहित अनेक देशभक्त और तपस्वी नेताओं को जेल-आपतकाल की घोषणा। जनाधिकारों का अपहरण। जनता भयातंकित। देश में श्मशान सी शांति। फिर भी इंदिरा जी को लगा कि काम बना नहीं। जिस आंतरिक अशांति, विद्रोह और अराजकता के नाम पर वे आपतकाल का औचित्य सिद्ध करना चाहती थीं उसके कहीं दर्शन नहीं हो रहे थे। सलाहकारों ने सलाह दी, 'आपत्काल का औचित्य सिद्ध करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को उत्तेजित करना आवश्यक है। संघ जयप्रकाश नारायण के 'सपूर्ण क्रांति' आंदोलन की रीढ़ है। उस पर प्रत्यक्ष प्रहार करके देश में अराजकता फैलाई जा सकती है।' इंदिरा जी ने पुरानी फाइलें देखीं कि नेहरू जी भी तो 1948 में ऐसा ही किया था। यदि भारत विभाजन का कलंक संघ को बदनाम करके धोने का प्रयास किया जा सकता था तो आपत्काल का औचित्य सिद्ध करने के लिए संघ पर प्रतिबंध लगाकर उसे मारकाट के लिए उत्तेजित करने का अवसर देना लाभप्रद होगा। फलस्वरूप इंदिराजी ने संघ पर प्रतिबंध लगा दिया। अट्ठारह महीने संघ पर प्रतिबंध लगा रहा। संघ के स्वयंसेवक गांव-गांव, गली-गली में घूमते रहे। जन-चेतना लगाते रहे। शांतिपूर्ण प्रतिकार करते रहे, किन्तु न कहीं आग लगाई, न किसी पर हाथ उठाया। इंदिरा जी की गर्हित योजना विफल हो गई। समाज का मन बदल कर संघ के स्वयंसेवकों ने लोकतंत्र को विजयी बनाया।

लोग प्रश्न पूछते हैं कि 'तो फिर संघ की शक्ति का उपयोग क्या है? जब किसी

भी परिस्थिति में संघ हाथ नहीं उठाता?' संघ को समझने की यह स्थापना कारगर नहीं होगी। संघ की शक्ति का आकलन विनाश, अराजकता निर्माण करने की उसकी सफलता-असफलता या उदासीनता के आधार पर नहीं, उसकी सृजनात्मक शक्ति, रचना-धर्मिता, सामाजिक समरसता की भावना और राष्ट्रीय संवेदनाओं की गहराई के आधार पर करेंगे तो ही उसके थीम ओर मन का मर्म समझ पाएंगे।

सांस्कृतिक विरासत का रक्षक

संघ राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए प्रतिबद्ध है। समाज में राष्ट्रभाव और राष्ट्रीय कर्तव्यबोध का जागरण उसके राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का मूलाधार है। जिस किसी भी कार्य से राष्ट्रकी प्रतिभा खंडित होती हो, संघ को उससे पूरा परहेज है। मां के दूध को फाड़ने और राष्ट्रजन के रक्त को बांटने के प्रत्येक प्रयास को विफल करना उसका सहज कर्तव्य धर्म है। खून-खानदान की एकता का अहसास उत्पन्न करके वह देश को टूटने से बचाना चाहता है। वह भारत की सांस्कृतिक विरासत का रक्षक है। मातृभूमि की 'भक्तसंतान' के रूप में समरस सामाजिक जीवन का निर्माण करके वह सहज एकात्मता और राष्ट्रीय अखंडता की भावना का निर्माण की प्रक्रिया चला रहा है। कांग्रेसी राजनीति और आतंकवादी हत्याएं इस प्रक्रिया और अनुष्ठान में व्यवधान उत्पन्न करतीं हैं। यही कारण है कि मोगा हत्याकाण्ड के विरोध में देशव्यापी बंद हुआ तो प्रधानमंत्री राजीव ने उसका मखौल उड़ाया कि 'देश की एकता-अखंडता खतरे में है और कुछ लोग बंद करा रहे हैं। राजीव ने जले पर नमक छिड़का कि स्वयंसेवक उत्तेजित हों और अक्तूबर-नवंबर, 1984 की तरह सिखों की हत्याएं शुरू हो जाएं और संघ को हिंसा-हत्या के कटघरे में खड़ा करके स्वयं को शांति और अहिंसा का अवतार, सिखों का शरणदाता-रक्षक बताकर अपने माथे पर लगे भ्रष्टाचार के काले धब्बे को देशवासियों के खून से धोकर निष्पाप और पवित्र बना सकें। किन्तु संघ के जो स्वयंसेवक अक्तूबर-नवंबर, 1984 में राजीव के निर्देश में कराए गए हत्याकाण्ड के विरुद्ध सीना तान कर खड़े हो गए थे, वे इस बार भी उनके कपटजाल में नहीं फंसे । जो स्वयंसेवक गत एक दशक से अपने प्राण देकर पंजाब में सामाजिक सद्भाव बनाए हुए हैं। वहां के आतंकवाद को सांप्रदायिक शत्रुता का रूप लेने के प्रत्येक प्रयास को जिन्होंने अब तक नाकाम किया है, मोगा हत्याकाण्ड के कारण क्रोधित होकर वे अपनी साधना को खंडित कैसे कर देते?

राजीव उस राजनीतिक परंपरा की उपज हैं, विभाजन जिसकी मूलधुरी है! सांप्रदायिक राजनीति की रोटी सेंकना जिसका सहज कार्य हैं अपने पापों को छिपाने के लिए दूसरे को बलि का बकरा बनाना जिसका चरित्र है। राष्ट्रीय चेतना को खंडित और लुप्त रखना उस परंपरा का मूल चिन्तन है। यदि ऐसा न होता तो 1980 में तलवंडी द्वारा प्रारंभ किए गए नहरी पानी आंदोलन के उत्तर में इंदिरा जी भिण्डरावाले

को न खड़ा करती। सरकारी संरक्षण में उसे हत्या और हिंसा करने के लिए न उकसातीं। किसी विजयी वीर की तरह उसका स्वागत न करातीं। राजीव उसे महा संत की उपाधि न देते। भिण्डरावाले को सिखों का प्रतिनिधि मानकर सिख पंथ की तौहीन न की जाती। राजनीतिक लड़ाई को महजबी संघर्ष में बदल देने का हर संभव उपाय न किया जाता। लोंगोवाल के साथ किए गए समझौते में पंजाब के सभी पक्षों और सिखों के दूसरे राजनीतिक नेताओं को भी शामिल किया जाता। दलीय राजनीतिक लाभ के लिए अकालियों को बांटना ओर अपनी कृपा की बैसाखी पर टंगी सिखों की सरकार बनाकर आतंकवाद का उत्तर देने का प्रयास न किया जाता। यदि राजीव का राजनीतिक हेतु न होता तो पाकिस्तान से हथियारों और आतंकवादियों का आगमन रोक दिया गया होता।

पंजाब के आतंकवाद के पीछे विदेशी हाथ होने की घोषणा करके राजीव अपना और अपने गृहमंत्री बूटासिंह का हाथ छिपाना चाहते हैं। सरकारी आंकड़ों की साक्षी है कि बरनाला के डेढ़ वर्ष के अकाली शासन में 810 बेगुनाहों की हत्या हुई तो राजीव ने पंजाब में इसलिए राष्ट्रपति शासन लागू किया कि हरियाणा के गैर सिख मतदाता चुनाव में उनकी पार्टी को वोट दें।

वोट तो मिला नहीं किन्तु राजीव के डेढ़ वर्ष के राष्ट्रपति शासन में आतंकवादी तीन हजार से अधिक व्यक्तियों की हत्या कर चुके हैं। हत्या की घटनाओं को बढ़ने देने के पीछे राजीव की दूषित राजनीति काम कर रही है। वे देशवायियों के मन में भय बनाए रखकर उसकी प्रतिक्रिया की चुनावी फसल काटना चाहते हैं। चुनाव के समय आनन्दपुर साहब प्रस्ताव का विरोध और चुनाव के बाद उस प्रस्ताव को प्रतिष्ठा प्रदान करने का अर्थ समझने की बुद्धि देशवासियों में है। विरोधी दलों को आनन्दपुर साहब प्रस्ताव के कटघरे में खड़ा करके देश में सिख विरोधी माहौल बनाकर 1984 में राजीव ने जो चुनावी लाभ कमाया था 1989 में भी उसकी पुनरावृत्ति में गृहमंत्री बूटासिंह की प्रमुख भूमिका है। एक ओर वे शांतिपूर्ण समाधान की बात करते हैं। आतंकवादियों को गुप्त वार्ता के लिए दिल्ली बुलाते हैं, आतंकवादियों की मदद करते हैं तो दूसरी ओर शस्त्र समर्पण के लिए तैयार आतंकवादियों की, उनकी वापसी के समय रास्ते में हत्या करा देने की भी चर्चा है। वे आतंकवादियों को भड़काते भी हैं और समस्या के समाधान का भरोसा भी दिलाते हैं। आतंकवादियों के साथ अपने रिश्तों संबंधी हरियाणा सरकार के गृहमंत्री के आरोपों का खंडन नहीं किया बूटासिंह ने।

जहां इस प्रकार की गर्हित राजनीति हो, जहां केवल चुनाव सब कुछ हो, वहां राष्ट्रीय संकट पैदा करने के अतिरिक्त और कुछ कैसे सोचा जा सकता है। यही राजनीतिक साजिश मोगा हत्याकाण्ड के पीछे भी थी।

इंदिरा कांग्रेस और सरकार द्वारा आतंकवादियों का राजनीतिक उपयोग किए

जाने की आशंका अब जड़ जमाने लगी है।

मोगा हत्याकाण्ड के बाद देशव्यापी हिंसा कराने की कांग्रेसी राजनीति एक बार पुनः विफल हो गई। संघ के स्वयंसेवकों को कागजी शेर और कायर कहने वालों को अपनी प्रतिक्रिया ओर प्रतिशोध की भावना को राष्ट्रहित ओर गर्हित राजनीति के बीच चल रहे इस अन्तर्द्वन्द्व के संदर्भ में देखना चाहिए। एक बार पुनः राजनीतिक साजिश हार गई और राष्ट्रहित निष्ठा और सामाजिक सद्भाव की कसौटी पर एक बार पुनः खरे सिद्ध हुए। आतंकवाद की आग में तपकर उनकी देशभक्ति कुन्दन बनकर पुनः चमक उठी है। मोगा काण्ड का यही वास्तविक रूप है।

3 सितम्बर, 1989

भानुप्रताप शुक्ल